सम्पादकीय वक्तव्य

आचार्य श्री द्वारा ग्रन्थ प्रकाशन का निश्चय

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर चावल पट्टी कलकत्ता के वृहद् शास्त्र भाण्डार में बहुत से ऐसे शास्त्र हैं जो उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जो आजतक मुद्रण और प्रकाशन के रूप को प्राप्त नहीं कर सके। उनमें अधिकांश तो प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित हैं, और कुछ ऐसे भी हैं जो अर्वाचीन श्रेष्ठतम तत्वज्ञ विद्वानों द्वारा रचे गये हैं। उनमें से यह भी एक तत्वार्थसार वचनिका नामक शास्त्र है जो श्री उमास्वमी आचार्य कृत तत्वार्थ सूत्र की वृहत् देशभाषामय वचनिका है जिसमें रचेयिता ने गोम्मटसार क्षपणासार त्रिलोकसार श्लोकवार्तिक राजवार्तिक सर्वार्थ सिद्धि आदि अनेक उत्तमोत्तम आचार्य प्रणीत शास्त्रों का आश्रय लेकर ही इस महान ग्रन्थकी रचना की है। तत्वार्थसूत्र पर हिन्दी भाषा में इससे बढ़कर दूसरी कोई वचनिका हमारे देखने में नहीं आई।

उक्त शास्त्र भाण्डार के व्यवस्थापक वयोवृद्ध श्री विलासराय जी अग्रवाल हैं। जो बड़े ही परिश्रम एवं लगन से शास्त्रों की सम्भाल करते हैं, उन्होंने ही जब पूज्य श्री आचार्य देशभूषण जी महाराज सर्व प्रथम श्री बड़े मन्दिर में दर्शनार्थ पधारे थे तब सारा शास्त्र भाण्डार उन्हें दिखाया था और बताया था कि महाराज यह शास्त्र भाण्डार बहुत पुराना है कई सौ वर्षों से यह सुरक्षित होता चला आ रहा है इसमें बहुत पुराने लेखकों के हस्त लिखित सैंकड़ों शास्त्र हैं जो इस मन्दिर की महान निधि हैं। उनकी लेखन कला वास्तव में कलापूर्ण है। आप किसी भी हस्त-लिखित शास्त्र को खोलकर देखेंगे तो आपको हमारे कथन पर विश्वास होगा महाराज ने कहा अच्छा दिखाओ कोई एक शास्त्र तो उन्होंने जो शास्त्र खोलकर दिखाया वह यही तत्वार्थसार वचनिका है। जिसे महाराज ने देखते और कुछ पढ़ते ही कहा कि भाई यह शास्त्र तो अदृष्टपूर्व है ऐसा

शास्त्र तो हमने आजतक कहीं पर देखा ही नहीं है तत्वार्थसूत्र की इतनी बड़ी हिन्दी टीका जो एक विशाल वचनिका का रूपधारण किये हुए है आज तक देखने में नहीं आई। हमारी इच्छा है कि ऐसे जनोपयोगी शास्त्र का मुद्रण और प्रकाशन हो जाय तो इससे स्वाध्याय प्रेमीजनों का बड़ा उपकार हो सकता है। अच्छा आप इसे हमारे पास भेज दीजिये हम इसे मुद्रित और प्रकाशित कराने का उद्योग करेंगे। हमें आशा है कि हम यथाशीघ्र इसमें सफल होंगे। इस प्रकार से यह शास्त्र पूज्य श्री आचार्य महाराज के हस्तगत हुआ। महाराज श्री ने सर्व प्रथम इसे अपने स्वाध्यायका विषय बनाया और यथासमय आप इसके स्वाध्याय करने तथा यथासमय इसकी भाषा को एवं यत्र-तत्र परिवर्द्धनीय विषय को बढ़ाने में संलग्न रहने लगे आपके मन में इसे मुद्रित और प्रकाशित कराने का जो विचार इसे देखते ही उद्भूत हुआ था वह उत्तरोत्तर-वृद्धिगत होने लगा और साधारण जनता के लाभार्थ इसका शीघ्रति-शीघ्र प्रकाश में आना नितान्त आवश्यक है इसके द्वारा जन-जन के मन पर जैन तत्वज्ञान की अमिटछाप लग सकती है। वह निर्विवाद सुनिश्चित है। ऐसा आपने निश्चय किया।

आचार्य श्री द्वारा ग्रन्थ प्रकाशन की स्वीकृति

किसी समय पूज्य श्री आचार्य देश भूषण जी महाराज स्वाध्याय में निरत थे उसी समय एक गुरु भक्त श्रावक उनके दर्शनार्थ उनके श्री चरणों के समीप आये, आते ही उन्होंने श्री गुरु के चरणों में श्रद्धावनत हो हार्दिक भक्ति से नमस्कार किया और बैठ गये कुछ समय पश्चात् आपने आचार्य श्री से सविनय निवेदन किया कि महाराज मेरे योग्य कोई धर्म-सेवाका कार्यहो तो बताई मैं सहर्ष करनेको तत्पर हूं। महाराज श्री ने कहा भाई यह शास्त्र जिसका मैं स्वाध्याय कर रहा हूं बहुत ही उपयोगी है इसका नाम तत्वार्थसार है जो दशाध्याय तत्वार्थसूत्र के सारांश की वचनिकाके रूपमें 'गागर में सागर'की कहावत चरितार्थ करता है ऐसे

अनुपम ग्रन्थ का जो अभी तक अमुद्रित और अप्रकाशित है और श्री पार्श्व नाथ दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर चावल पट्टी के शास्त्र भाण्डार का एक रत्न है इसकी रचना देश भाषा मय वचनिका के रूप में है । किसी श्रेष्ठतम विद्वान ने की थी जो धर्म आदि अनेक विषयों के निष्णात पण्डित प्रवर थे यह बात उनके इस ग्रन्थ के अवलोकन करने से दर्पण के समान झलकती है । इस ग्रन्थ के मुद्रित होने से धर्मप्राण जनता का महान कल्याण होगा जो महानुभाव इसके मुद्रण कराने में अपनी गाढ़ी कमाई का सदुपयोग करेंगे वे भी चिर काल तक पुण्य फल के भोक्ता बनगे इत्यादि महाराज श्री के वचनामृत का पान कर परम सन्तोष को प्राप्त हुए उन श्रावक महाशय ने कहा कि महाराज मैं इसके प्रकाशन में जो कुछ भी व्यय होगा देने को तैयार हूं । महाराज श्री ने भी ठीक है कह कर उनकी बात को स्वीकार कर कहा कि भाई इस ग्रन्थ की भाषा पुरानी पण्डिताऊ है । हमारी इच्छा है कि इसकी भाषा को प्रचलित हिन्दी भाषा का रूप दे दिया जाय तो जनता को विशेष लाभ होगा अतएव हम इसकी प्रचलित और सरल हिंदी भाषा भी कर देंगे । उन्होंने कहा कि महाराज इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है इससे तो हम लोगों का महान हित होगा क्योंकि हम लोगों की बोलचाल की भाषा में जो बात कही जायगी वह हम लोगों को तत्काल ही अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार समझ में आ जायगी इस प्रकार से इस ग्रन्थ के प्रकाशन का यह प्रारम्भिक यत्किंचित् परिचय है ।

ग्रन्थकर्त्ता का संक्षिप्त परिचय और ग्रन्थ का प्रमाण

इस ग्रन्थ के रचयिता स्वर्गीय श्री पं० चेतनदास जी थे । आप जिला सहारनपुर के अन्तर्गत रामपुर नगर के निवासी थे । आपने विक्रम सं० १९५४ उन्नीस सौ चौवन के फाल्गुन माहके कृष्ण पक्षकी पन्चमी दिन शुक्रवार के शुभ मुहूर्त में इसकी रचना प्रारम्भ की थी और १९७० उन्नीस सौ सत्तर विक्रम सम्वत् के चैत्र मास की शुक्ला दशमी दिन बुधवार को इसे समाप्त किया था । ऐसा इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति के पढ़ने से ज्ञात

होता है। आप बड़े ही स्वाध्याय प्रेमी शास्त्र मर्मज्ञ तत्वचिन्तक विशिष्ठ प्रतिभाशाली विद्वान थे। आपने अपने जीवन में अनेकों शास्त्रों का स्वाध्याय किया था। उसी के फल स्वरूप यह तत्वार्थसार वचनिका नामक ग्रन्थ है। इसका प्रमाण अनुष्टुप श्लोक (जो ३२ अक्षर प्रमाण होता है) के संख्या के प्रमाण से लगभग चवालीस हजार श्लोक प्रमाण है। हस्त लिखित प्रति जो हमारे सामने है उसकी पत्र संख्या ८७३ आठ सौ तिह-त्तर है और पेज संख्या पत्रसंख्या से दूनी १७४६ सत्तर सौ छीयालीस है। महाराज श्री ने कुछ अन्श यत्र-तत्र अत्यावश्यक समझकर अपनी तरफ से बढ़ाकर और इसकी भाषाको भी प्रचलित हिन्दी भाषा का सरल रूप देकर तत्व-दर्शन नाम से इसे मुद्रित और प्रकाशित कराया है। अभी इसमें प्रथमाध्याय के प्रारम्भ के सात सूत्रों पर तत्वार्थसार के आधार से उपदेश रूप प्रवचन पूर्ण किया है। और आठवें सूत्र का प्रवचन प्रारम्भ किया है जो अपूर्ण दशामें ही मुद्रित और प्रकाशित हो कर जनता के हाथों में है। शेष ग्रंथ जो महान है कई भागों में विभाजित होकर भविष्य में मुद्रित और प्रका-शित होकर जनता की सेवामें प्रस्तुत किया जायगा ऐसी हम आशा करते हैं।

ग्रन्थकर्त्ता के पूर्वजों की नामावली

ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति लिखी गई है उसमें नीचे लिखे महानु-भावों के नाम हमें पढ़ने को मिले। जो इनके ही वंशज है।

श्री जुमैयत रायजी के सुपुत्र श्री वस्ती रामजी। श्री वस्ती रामजी के प्रथम सुपुत्र श्री मुन्शी लालजी। द्वितीय सुपुत्र श्री न्यादरमल जी। श्री मुन्शी लालजी के सुपुत्र श्री खुशी रामजी। श्री न्यादर मलजी का पुत्र मैं चेतन दासभी आपने अपने समयके तत्वज्ञानी शास्त्र मर्मज्ञ आणक्ष्ण्य ज्ञानो-पयोगी अठारहवीस विशेष विद्वानों के नामों का भी उल्लेख किया है। जिनकी सत्संगति सत्प्रेरणा और कोर कृपा से इस ग्रन्थ की रचना की गई है। ऐसा बताया है। आपने प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग

और द्रव्यानुयोग के अनेकों शास्त्रोंका अध्ययन मनन और प्रवचन किया ऐसा इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है इससे यह सहज ही समझ में आ जाता है कि ये अपने समय के विशेष स्वाध्याय प्रेमी तत्वविज्ञानी विशिष्ट विद्वान थे यह बात इस ग्रन्थ के अवलोकन से साफतौर से जाहिर होती है ।

आचार्य श्री ने जन कल्याण की भावना से प्रेरित हो उक्त ग्रन्थ का सार प्रचलित हिन्दी भाषामें लिखकर और उसको तत्वदर्शन नाम देकर जन साधारणके हितार्थ प्रकाशित करनेकी स्वीकृति उक्त श्रावक को प्रदान की।

प्रकाशक का संक्षिप्त परिचय

यत्किञ्चित परिचय में श्रावक शब्द से जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। उनका शुभ नाम श्री पृथ्वीराज है आप गर्गगोत्रीय दिगम्बर जैन अग्रवाल जातीय बन्धु हैं। आप सोनीपत पूर्व पंजाब के निवासी है यहां कलकत्ता में लगभग ३० तीस वर्ष से व्यापार कार्य में संलग्न हैं। आप बड़े ही धर्मात्मा हैं धार्मिक संस्थाओं को समय समय पर दान देते रहते हैं। आपने अपने जीवन में लगभग ४०—४५ हजार का दान दिया है जो आपकी दानशीलता का परिचय दे रहा है वास्तव में ऐसे दानी महाशय की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी। आपने ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपनी गाढ़ी कमाई का सदुपयोग कर सच्ची शास्त्र भक्ति को प्रकट किया है इसके लिये हम आपको धन्यवाद देते हैं। और आशा करते है कि आपके द्वारा भविष्य में भी इसी प्रकार से धर्म सेवा के कार्य होते रहेंगे। इस ग्रन्थ में हमने आपका चित्र (फोटो) भी दे दिया है जिसमें आपके ज्येष्ट पुत्र श्री चि० ओंकारमल और कनिष्ठ पुत्र चि० मोहनलाल के चित्र भी साथमें हैं। ये दोनों बालक होनहार प्रतीत होते हैं हम आशा करते हैं कि ये दोनों भी अपने पूज्य पिता के अनुरूप ही बनेंगे। आप सबके चिरायु होने की हम हार्दिक कामना करते हैं ।

क्षमा याचना

यद्यपि पूज्य श्री आचार्य महाराज ने इसका सम्पादन एवं संशोधन का कार्य भार भी हमारे ही ऊपर छोड़ रखा था जो समय की कमी के कारण हमारे द्वारा अशक्य था तथापि हम उन्हीं के द्वारा प्रदत्त अन्य साहित्यिक कार्य में संलग्न एवं व्यस्त होते हुए भी उनकी पवित्र आज्ञा का उल्लंघन न कर सके। इच्छा न होते हुए भी हां महाराज ठीक है कह कर हमने स्वीकृति तो दे दी लेकिन बीच-बीच में मन में यह विचार चलता ही रहा कि हम शायद उनके प्रदत्त कार्यों के साथ इसे करने में समर्थ न हो सकेंगे। उसका कारण प्रदत्त कर्तव्य कार्यों की बहुलता एवं स्वल्प समय में ही उन्हें कर दिखानेकी पौनः पुन्येन प्ररणा रही। साथ ही मुद्रण एवं प्रकाशन में कुछ ऐसी अकथनीय परिस्थिनियां भी आ पड़ीं जिनके कारण इसके सम्पादन एवं संशोधन में हम समुद्यत होते हुए भी कृतकार्य न हो सके अतएव ग्रंन्थका बहु भाग हमारे ज्ञाननेत्रों एवं चर्मनेत्रों के सामने न आ सका और जब वह छपकर तैयार हो गया तब अब हमारे उभय नेत्रों का वह विषय हो रहा है जिसे देख कर हम अपने को इसका सम्पादक और संशोधक कहने के लिये स्वयं ही लज्जास्पद बन रहे हैं। इसका बहुभाग तो यों ही मुद्रित तथा प्रकाशित हो गया है जिसका देखना दिखाना प्रायः सम्भव नहीं हो सका अतएव अशुद्धियों का रह जाना कोई असम्भव और अस्वाभाविक नहीं है। इसके लिये हम पाठक महानुभावों से विनम्रता के साथ क्षमा याचना करते हैं और उन्हें यथा स्थान संशोधित कर पढ़ने के हेतु उनसे अभ्यर्थना करते हैं।

गुरूचरणार्चकः

कमल कुमार जैन शास्त्री, गोइल्ल
व्याकरण न्यायकाव्यतीर्थ साहित्य धर्मशास्त्री,
श्री साहू जैन निलय
९ अलीपुर पार्क प्लेस
कलकत्ता

श्री वीतरागाय नमः

तत्त्वदर्शन

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥

परमात्मा कर्ममल रहित है, केवल स्वाधीन है, साध्य को सिद्ध करके सिद्ध है, सब द्रव्यों की सत्ता से निराली सत्ता का धारी है, वही अनन्त-वीर्य धारी प्रभु है, वही अविनाशी है, परम पद में रहने वाला परमेष्ठी है, वही श्रेष्ठ आत्मा है, वही शुद्ध गुणरूपी ऐश्वर्य का धारी ईश्वर है तथा वही परम विजयी जिनेन्द्र है।

विवेचन—आगम में सच्चे देव, सच्चे शास्त्र तथा सच्चे गुरु इन तीनों को मंगलरूप माना गया है। अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, सर्वसाधु इन पंच परमेष्ठियों को जीव के परम कल्याणकारी रूप मोक्ष मार्ग को सिद्ध करा देने के कारण यानी आत्मिक सुख की प्राप्ति करा देने के कारण इष्ट कहा गया है। ऐसे इन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके पुन; जिनविंब, जिनमन्दिर, जिनधर्म और जिनागम इन चारों को पंचपरमेष्ठियों में मिलाने से कुल ९ देवता होते हैं। अतः ९ देवताओं को नमस्कार रूप शास्त्र में मंगलाचरण किया गया है।

यद्यपि यहां पर देव, शास्त्र तथा गुरु ये तीनों ही गर्भित हैं, किन्तु उनमें जो अरहन्त देव हैं, वे नियम से सिद्ध पद को प्राप्त हुए हैं, इसलिये सिद्ध भगवान् अरहन्तदेव के अन्दर गर्भित हैं और सामान्य रीति से देव अरहन्त भगवान् ही हैं। उसमें सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशक—ये तीन आप्त के लक्षण कहे गये हैं। सिद्ध भगवान् में सर्वज्ञता और वीतरागता ये दो गुण पाये जाते हैं, किन्तु उनमें एक गुण हितोपदेश नहीं है। 'आप्त परीक्षा' तथा 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में श्री समन्तभद्र स्वामी ने अरहन्त भगवान् के प्रति कहा है कि:—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

सच्चा देव वही है जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो। इन तीनों गुणों के बिना आप्तपना हो नहीं सकता। जो देव आप ही दोषसंयुक्त है, वह दूसरे जीवों को कैसे निराकुल, सुखी और निर्दोष बना सकता है? जो स्वयं क्षुधा, तृषा, काम, क्रोध आदिसे सहित हैं, उसमें ईश्वरपना कहांसे हो सकता है? जो भयसहित है, शस्त्रादिकको ग्रहण करता है, जिनके द्वेष, चिन्ता, खेदादिक निरन्तर बने रहते हैं, जो कामी रागी होने के कारण निरन्तर पराधीन रहता है, भला उसके निराकुलता तथा स्वाधीनता कैसे सम्भव हो सकती है? जहां निराकुलता तथा स्वाधीनता नहीं, वहां सत्यार्थ वक्तापनो सम्भव नहीं। जिसके जन्म-मरण-रोग लगा हुआ है, जिसके संसार-भ्रमण का अभाव नहीं हुआ है, जो जरा आदि से ग्रसित हो सकता है, उसके सुख, शान्ति कहाँ? इसलिये जो निर्दोष होता है, सत्यार्थ रूपसे उसी का नाम 'आप्त' है। जो रागी, द्वेषी होता

है, वह अपने पद के रागद्वेषको पुष्ट करने का ही उपदेश दिया करता है, इसलिये यथार्थ वक्तापना तो वीतराग के ही सम्भव हो सकता है।

जो सर्वज्ञ नहीं उसके यथार्थ वक्तापना नहीं। क्योंकि इन्द्रिय-जनित ज्ञान तो सर्व-त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की अनन्तानन्त परिणतियों को युगपत् जानने को समर्थ नहीं। इन्द्रिय-जनित ज्ञान तो क्रमवर्ती स्थूल पुद्गल की अनेक समय में हुई स्थूल पर्याय को ही जाननेवाला है। फिर भला अल्पज्ञानी का उपदेश सत्यार्थ कैसे हो सकता है? सर्वज्ञ का ही उपदेश सत्यार्थ होता है, इसलिये सर्वज्ञ के ही 'आप्तता' सम्भव है।

जो बिना भेद-भाव के जगत के प्राणीमात्र के हित और कल्याण के लिये यथार्थ उपदेश का देनेवाला है, वही हितोपदेशी है। इसलिये जिस किसी देव में भी वीतरागता, सर्वज्ञता, तथा हितोपदेशीपना—ये तीन लक्षण पाये जावें, वही सच्चा आप्त है।

यहां यदि कोई तर्क करे कि आप्त का लक्षण इस प्रकार तीन रूप क्यों कहा जब कि केवल एक 'निर्दोष' कह देने से ही समस्त गुण-संयुक्त लक्षण बन जाता है? तो इसका समाधान यह है—निर्दोषपना तो आकाश, धर्म, अधर्म पुद्गल तथा कालादिक के भी है, इनके भी अचेतन होने के कारण क्षुधा, तृषा, राग, द्वेषादिक नहीं हैं। इस प्रकार निर्दोषपने से इनमें आप्तपने का प्रसङ्ग आता है। इसलिये जो निर्दोष और सर्वज्ञ है वही आप्त है। अब यदि 'निर्दोष' एवं 'सर्वज्ञ'—केवल ये दो ही गुण आप्त के कह देवें तो सिद्ध भगवान् के आप्तपने का प्रसङ्ग आता है। इस दशा में सत्यार्थ उपदेश का अभाव होता है, क्योंकि सिद्ध भगवान् तो निकल परमात्मा हैं, उनके उपदेश सम्भव नहीं। इसलिये वीतरागता, सर्वज्ञता, परम हितोपदेशकता इन तीनों से संयुक्त अनन्त चतुष्टय के धारक देवाधि

देव, परम औदारिक शरीर में विराजमान भगवान्, सर्वज्ञ, वीतराग अरहन्त ही के आप्तपना सम्भव है, ऐसा निश्चय श्रद्धान् करना योग्य है ।

ऐसे दो प्रकार के देव हैं । रागद्वेषादि दोष और ज्ञानावरणादि कर्मका आवरण जिसके नहीं है, वह देव है । वहाँ परमौदारिक शरीर में रहते हुए ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घातिया कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य—इन चार अनन्तचतुष्टय सहित धर्म का उपदेश देनेवाला होता है वह सामान्य रीति से एक अरहन्त भगवान् ही देव हैं । किन्तु विशेष रीति से जहाँ पुद्‌गलमय देह से रहित, आठ कर्मों का नाश करके तीन लोकों के शिखर पर विराजमान तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित ऐसे सिद्ध भगवान् भी देव हैं । इसमें एक अरहन्त और दूसरे सिद्ध हैं । ऐसे देव के दो भेद बतलाये गये हैं । उसमें समस्त रागादि विकारों से रहित सिद्ध भगवान् के समान सिद्धात्मा के ध्यान के बिना केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती हैं । अरहन्त और सिद्ध ये दो प्रकार के परमेष्ठी हैं । आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये जो तीन परमेष्ठी हैं, वे साक्षात् गुरु रूप हैं । इसलिये इनमें से तीन को गुरु जानना । इन्हीं तीनों तथा पहले के दोनों को मिलाकर पंचपरमेष्ठी कहे तथा भगवान् की जो छठी मूर्ति है वह अरहन्त देव की मूर्ति है । पुनः जो सातवाँ जिनमंदिर कहा गया है वह श्री अरहन्त देवकी प्रतिमा का स्थान है । इसमें एक जिनप्रतिमा और दूसरा जिनमंदिर ये दोनों एक अरहन्त देव में ही गर्भित है । पुनः जो आठवाँ जिनधर्म है वह अरहन्त देवके द्वारा प्रतिपादित किया गया धर्म है और जो नवमीं जिनवाणी है वह साक्षात् श्री अरहन्त देवके मुखकमल से प्रगट होकर साक्षात् द्वादशांग शास्त्र-स्वरूप है । इसलिये एक जिनधर्म और दूसरी

जिनवाणी ये दोनों ही शास्त्रों में गर्भित हैं। इसी प्रकार देव, गुरु और शास्त्र इन तीनों में भी तीन देव गर्भित हैं, ऐसा जानना। ऐसे देव, शास्त्र तथा गुरु इन तीनों को नमस्कार करने से ९ देवताओं को नमस्कार होता है। अतः यहाँ पर विशेष रूप से ९ देवताओं के मंगल का अर्थ भिन्न है। इसी तरह 'श्रीगोम्मटसार' में भी कहा गया है कि जो मंगल का अर्थ है वह अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनप्रतिमा, जिनमंदिर, जिनधर्म और जिनवाणी इन ९ देवताओंको नमस्कार करना है। यह मंगल जीव को सुख देनेवाला है। इन्हें 'नौ मंगल' भी कहा गया है। इसमें देव, शास्त्र और गुरु ये तीन अथवा 'नौ मंगल' ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं। यद्यपि इसमें पृथक् पृथक् शब्द का भेद है, किन्तु अर्थ का भेद नहीं है। इन दोनों का प्रयोजन एक ही है। इसलिये सबसे पहले इन्हीं तीनों को नमस्कार किया गया है, क्योंकि इसी में नौ मङ्गल गर्भित हैं। जहाँ पर नौ मङ्गल कहा जाय वहाँ पर देव, शास्त्र तथा गुरु ये तीनों आ जाते हैं। अब हमने इनको नमस्कार करके, तत्त्वार्थसूत्र, जिसकी रचना उमास्वामी ने की है, और जिसकी टीका श्री पूज्यपाद आचार्यजी नेकी है, उसको लेकर सरल हिन्दी भाषा में उपदेश किया है, जिससे कि भव्य-जीव सरलता से स्वाध्याय करके आत्मतत्व का परिज्ञान कर सकें।

'तत्त्वार्थसूत्र-दीपिका' नामक जो टीका श्री समन्तभद्र स्वामीने ८४ हजार श्लोकोंमें की। उसी की यह 'गन्धहस्ति महाभाष्य' नामक बड़ी टीका है। उसी प्रकार विद्यानन्दी, अकलंकदेव आदि आचार्यों ने जो अनेक टीकायें लिखी हैं, वे टीकायें यद्यपि बहुत सुन्दर, गम्भीर अर्थ-सहित हैं, तथापि उनका ज्ञान मन्दबुद्धि को नहीं हो सकता। इसलिये सर्व-साधारण को सरलता से समझाने के लिये इसे उपदेश-रूप में दिया जा रहा है;

जिससे कि मोक्षमार्ग-रूप तत्वार्थशास्त्रका अर्थ-ज्ञान भलीभांति हो। इस ग्रन्थ में सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थराजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, त्रिलोकसार गोम्मटसार, मूलाचार तथा प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंका सार दिया गया है। तथा सूत्रके अनुसार शब्दार्थसहित विशेष अर्थ-रूप तत्व का विवेचन किया गया है। इसके विषय में मेरा कर्तव्य इतनाहै कि मनुष्य ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम के अनुसार तत्वार्थ को जानकर धर्मानुरागी बने। इस ग्रन्थ की रचना मैं ख्याति-लाभ के लिए नहीं कर रहा हूं, किन्तु जिस तत्त्व से आत्मा की पहचान हो, उसी तत्त्व को भव्य जीवों को समझाने के लिये अपना कर्तव्य समझकर इसे सर्वसमक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं।

प्रश्न—तुम तो अमूर्तिक आत्मा हो, फिर तुम लिखने का काम कैसे करते हो?

उत्तर—मैं तो शुद्धात्मद्रव्य हूं और मेरा आत्मा अनन्तपर्याय का पुंज है। उसमें श्रुतज्ञान, धर्मानुराग, सक्रियपना मेरे ये तीन पर्याय के निमित्त से लिखने के साधन-रूप कार्य बना है। इसलिये कारण में कार्य के उपचार से मैंने लिखा है। अतः यह कार्य व्यवहार-मात्र है, पर यदि निश्चय से विचार किया जाय तो ज्ञानादिक भाव का ही कर्ता मैं हूं। क्योंकि लिखने का कर्ता मैं नहीं हूं।

प्रश्न—यदि तुम उसके कर्ता नहीं हो तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसे होता है?

उत्तर—मेरा जो ज्ञानदर्शन-रूप चेतना-स्वभाव है, वह ज्ञानावरणीय कर्म के निमित्त से हीन हुआ है, मति, श्रुत पर्यायरूप हुआ है। वहां मति-ज्ञान के द्वारा शास्त्र के अक्षर का ज्ञान हुआ और श्रुतज्ञान से अक्षरार्थ के वाच्य-वाचक के सम्बन्ध का ज्ञान हुआ। उसको जानने से उसके अर्थ का

परिज्ञान हुआ। और मोह के उदय से मेरे रागादिक-रूप उपाधिभाव रहा। उसमें प्रशस्त शुभ रागके होने से मेरे अन्दर इच्छा की उत्पत्ति हुई, इसलिये मैं इस 'तत्वार्थसूत्र' का प्रवचन कर इस क्षेत्र में रहनेवाले अनेक मन्दबुद्धि जीवों के कल्याणार्थ तैयार हुआ हूं। इस उपदेश से हृदयस्थ अप्रशस्त अशुभ-भाव का अभाव होकर लोगों में कुछ धर्म-सम्बन्धी प्रवृत्ति हो तथा उससे मेरा भी कल्याण हो, इसी आशय से मैंने इस ग्रन्थ का उपदेश-रूप से विवेचन करना प्रारम्भ किया है। पुनः आत्मा के प्रदेश को चलाने के लिये सहक्रियापना मेरे अन्दर ही है। वहाँ उसकी इच्छा के वश जिससे जैसे उस कार्य की सिद्धि हो वैसे ही मैं अपने प्रदेश को चंचलरूप कर रहा हूँ। इतनी पर्यायें मेरे अन्दर हैं। पुनः पुद्गल द्रव्य भी सक्रिय है और शरीर पुद्गल परिणाम का पिण्ड है और नामकर्म के निमित्त से शरीर और मेरा एक सम्बन्धरूप बन्धन है। उसमें मेरे प्रदेश चंचल होने से उसके साथ ही हस्त, पाँव आदि शरीर के अंग भी चँचल हुए हैं। पुनः हस्त, अंगुली आदि अंगोपांग से प्रेरित होकर लेखनी अर्थात् कलम, स्याही आदि जो पुद्गल-स्कन्ध है, उससे जैसे अक्षर लिखे जायं, वैसे मैं क्रियावान के रूप में प्रवर्तित होता हूं। तब अक्षर के आकार कागज आदि के सम्बन्ध में स्थापना-रूप होता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझना चाहिये। यहां पर लिखने का जो कार्य है वह मेरे ज्ञानादि पर्याय के कारण हुआ है। वहाँ व्यवहार में कारण को कार्य का सम्बन्ध जानकर परस्पर में उपचार किया गया है। इसलिये व्यवहार से जैसे घटका कर्ता कुम्हार को कहा है, उसी प्रकार 'तत्वार्थसार' का उपदेशकर्ता उपचार-रूप से मैं हूं। और निश्चय दृष्टि से जो लेखन आदि कार्य है वह पुद्गल द्रव्यका है, मेरा

नहीं है। इसलिये शास्त्र प्रवचन सम्बन्धी कर्तापने का अहंकार मुझे नहीं है।

अपितु सभी टीकाकार अपनी बुद्धिके अनुसार टीका करते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपनी बुद्धि के अनुसार टीका कर रहा हूं।

इस आध्यात्मिक ग्रन्थ को, मैं केवल अपने स्वाध्यायार्थ तथा भव्य जीवों के कल्याणार्थ तत्वार्थसूत्रके सार को लेकर श्लोकवार्तिक गोम्मटसार, त्रिलोकसार, प्रवचनसार, मूलाचार, आचारसार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, अष्टपाहुड इत्यादि अनेक ग्रन्थों के आधार पर लिख रहा हूं।

इस महान् ग्रन्थ की टीका करने के कारण धर्मानुराग से कुछ हमारा भी भला हो जायगा। इस प्रकार अपना तथा अन्य जीवों का उपकार होनेके प्रयोजन से मैं इस टीका को कर रहा हूँ। इस नवीन टीका करने का एक मात्र यही प्रयोजन है। परन्तु तुमने जो यह कहा कि इस टीका को मैं केवल अपनी मान, बड़ाई के लिये ही कर रहा हूँ, सो तुम्हारा यह कहना बिल्कुल गलत है। क्योंकि मान आदिक मिथ्यात्व का उत्पादक है, और मिथ्यादृष्टि जीव पर पदार्थ में ममकार-(अहंकार रूप अपनापन) मानता है। सो उसका फल निगोद-गमन होता है। किन्तु जो सम्यग्ज्ञानी जीव हैं वे पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को विचारते हैं। वे मान आदिक को अपना स्वरूप नहीं मानते। इसी कारण ही जिनधर्मी को मान आदिक नहीं होता। संसार के मध्यमें चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का भी मान ख्याति आदि विनष्ट हो गयी है, तो फिर अन्य कीटके समान पुरुषों की क्या बात है? जब इस संसार में चक्रवर्ती आदि का नामो-निशान नहीं रह गया, तो फिर साधारण पुरुषों का नाम कितने दिन तक स्थिर रहेगा? और फिर जैनी तो मान, बड़ाई, ख्याति आदिके नाश

करने के लिये ही जिनधर्मका आश्रय ग्रहण करते हैं। जिससे कि मिथ्यात्व आदि का विभाव हो और निज स्वरूप की प्राप्ति हो जाय। अतः उस मान आदिक का नाश करनेके लिये ही यह कार्य किया गया है। किन्तु जो जिनधर्मी का आश्रय प्राप्त करके भी अपने मान आदिक को पुष्ट करते हैं, वे अनन्त संसारी तथा जिनाज्ञा से वहिर्मुख मिथ्यादृष्टी हैं। उनका कल्याण होना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार किसी रोगी को अमृत का पान कराने से उसे विषरूप मालूम होता है, तो फिर उस पुरुष को कोई औषधि नहीं लगती। इसी प्रकार इस संसार में जीव को जिनधर्म-रूपी अमृत का पान भी, विषरूप मान, कषाय आदि के संयोग से नष्ट होकर विषवत् ही मालूम होता है। वहां उसका भला नहीं होता। इस कारण मान आदिका पोषण कदापि नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—अपना तथा अन्य जीवों का उद्धार करने के लिये ही तत्वदर्शन नामक ग्रंथ के आधार पर उपदेश रूप में मैंने अपनी शक्ति के अनुसार विवेचन किया है, अतः भव्य जीव इसका स्वाध्याय करके लाभ उठावें।

श्री उमास्वामी नामक आचार्य विरचित जो दशाध्यायरूप तत्वार्थ शास्त्र है उसकी देशभाषामय वचनिका रूप सार को लेकर आगे मैं विवेचन करूंगा। जहां पर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करानेवाले परम पूज्य देवाधिदेव परमौदारिक शरीर में तिष्ठते हैं वहां पर भगवान् के कण्ठ, ओष्ठ, जिह्वा आदिक अंगोपांग के हलन-चलन हुए बिना भव्य जीवों के पुण्य तथा वचनयोग के उदय से उत्पन्न हुई निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है और उसी दिव्यध्वनि के द्वारा श्री भगवान् महावीर स्वामी ने म ूम को प्रकाश करने के लिये सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप तथा आत्मतत्त्व को

समझाया है। वहां उस अवसर में उपस्थित सप्त ऋद्धि के धारक और चार ज्ञान के धारी श्री गौतम गणधर देव ने भगवान् की दिव्य ध्वनि के अर्थ को धारण करके उसके द्वादशांग रूप में अथवा सूत्र रूप में रचना की। इस प्रकार श्री महावीर स्वामी ने मोक्ष मार्ग को प्रकाश करने के लिये सच्चा तात्विक उपदेश किया है। उन्होंने जो कहा है वही वचन परम्परा से चला आया है और उसी के अनुसार मैं भी यथाशक्ति विवेचन करूंगा।

इस आत्मतत्व का निरूपण करने वाले श्री महावीर स्वामी ही हैं। भगवान् महावीर स्वामी भरतक्षेत्र सम्बन्धी पावापुर नामक नगर के वाह्य उद्यान में स्थित तालाब से मोक्षपद को प्राप्त किये हैं। तत्पश्चात् ६२ वर्ष के अन्तरमें गौतमस्वामी, सुधर्माचार्य तथा जम्बूस्वामी ये तीन केवली इस पंचम काल में हो चुके हैं। तदनन्तर क्रम से १०० वर्ष में विष्णु, नन्दोमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली द्वादशांग के पारगामी हुए। उस समय में भगवान् महावीर के समान ही लोग इस परिपाटी को चलाये। फिर अनुक्रम से १८३ एक सो तिरासी वर्ष के बाद विशाखाचार्य, प्रोष्ठलाचार्य, क्षत्रिय जिनसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिवान्, गन्धदेव, धर्मसेन, ऐसे ११ मुनि हो गये। यह मुनि ११ अग एवं १० पूर्व के धारी थे। उनके पश्चात् क्रम से २००+२० वर्ष में नक्षत्र जयपाल पाण्डु, धृतिसेन, कंसाचार्य, ऐसे पांच मुनि ११ अंग के पाठी हो गये। तत्पश्चात् क्रम से ११८ वर्ष में बालसुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु, महायश, लोहाचार्य, ऐसे पांच मुनि पहले के पांच अंगों के ही धारी हुए हैं। इस प्रकार भगवान महावीर के निर्वाण जाने के पश्चात् इस पंचम कालमें ६८३ वर्ष के पहले आचारांग नाम तथा

वस्तुका ज्ञान रह गया। उस समय पदार्थ की यथार्थ प्ररूपणा करने वाले अन्त के पांचवें श्रुतकेवली श्री भद्रवाहु स्वामी जब देवलोक सिधारे, तत्पश्चात् हुण्डावसर्पिणी कालके दोष से यहाँ बहुत से मुनि शिथि-लाचारी हो गये हैं। उन्होंने जिनमार्ग से विपरीत अनेक प्रकारका सम्प्रदाय चलाया। उनके संघ में कई वर्ष के बाद देवऋषि नाम का एक साधु हो गया। उसने यह विचार किया कि हमारे सम्प्रदाय में बहुत शिथिलाचारी हो गये हैं, परन्तु आगे चलकर इनको यदि लोग शिथिलाचारी कहेंगे तो अत्युक्ति होगी, अतः इसको छिपाना ही ठीक होगा। यह विचार कर ही उसने सूत्र की रचना की। फिर उसने जिनवाणी के विपरीत ८४ सूत्र रचे, और भगवान महावीर स्वामी तथा गौतम स्वामी का प्रसंग चलाया तथा अपने शिथिलाचार के पोषण के लिये उसने अनेक प्रकार के कपटयुक्त दृष्टान्त द्वारा अपना कार्य किया। तथा सूत्रको पूर्ण करने के पश्चात् उसका नाम आचारांग सूत्र रक्खा। उसने अपने मनके अनुसार ही उसमें कथन किया है कि केवली भगवान् ने कवलाहार किया था। उनके मल-मूत्र आदि भी होता था। उनको रोग भी था। उन्होंने अपने रोगको मिटाने के लिये ही माँसाहार भी किया था। इस प्रकार की अनेक विपरीत रचनायें उसने की। भगवान महावीर स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद उन्होंने एक गौशाला नामक गुरु को दीक्षा दी। तत्पश्चात् उन्होंने बहुत तप किया तब उनको भी केवलज्ञान प्रगट हो गया। तब उन्होंने केवली भगवान से वाद-विवाद किया और अन्त में वह हार गया। फिर कषायवश भगवान के ऊपर तेजोलेश्या चलाई, तब भगवान महावीर स्वामी को पेचिसका रोग हो गया। तब भगवान को बहुत दुःख हुआ। तदनन्तर भगवान् ने उस साधु से कहा कि जो एक राजा की रानी ने बिलाव के निमित्त मुर्गी

तथा कबूतर को भूनकर माँस पकाकर रक्खा है, सो तुम जाकर उसको हमारे लिये लाओ। तब हमारा रोग मिट जायेगा। ऐसे भगवान् के वचन को सुनकर वह साधु उस मांस को ले आया। तब भगवान ने उस मांसका जब भक्षण किया तो भगवान का पेचिस बन्द हो गया। इस प्रकार विविध भाँति के झूठे बचनों की उसमें रचना करके रख दी। ये कहते हैं कि केवली भगवान को छींक भी आई थी। इनना ही नहीं केवली भगवान ने केवली को नमस्कार भी किया है। इस प्रकार के वचनों को भी उस ग्रन्थ में लिखा है। केवली को उपसर्ग भी हो गया है ऐसा लिखा है। केवली भगवान का प्रथम उपदेश व्यर्थ ही जाता है। भगवान तथा केवली एक के गर्भ में आकर दूसरे के गर्भसे जन्म लेते हैं। जैसे पहले महावीर स्वामी वन्दी नामक एक ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे तत्पश्चात् इन्द्र ने आकर उस गर्भ को वहां से निकालकर सिद्धार्थ राजा की त्रिशला नामक रानी के गर्भ में रक्खा। वहां से महावीर स्वामी का जन्म हुआ। इस प्रकार से गर्भ तो किसी के होता है और जन्म किसी से। इस प्रकार से शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है। अपने ग्रन्थों में यह भी लिखा है कि तीर्थंकर युगल भी उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार आदिनाथ भगवान तथा सुनन्दा उनकी स्त्री ये दोनों भाई-बहन उत्पन्न हुए थे। उसके बाद उनका विवाह हो गया। ये दोनों एक साथ ही उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार की अनेक बातोंका प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया है। तीर्थंकर भगवान से भी बलवान और पुरुष होते हैं। इसलिये एक ब्राह्मण वेष धारण करके भगवान महावीर स्वामीके पास आया था। भगवान अपने निकट आया देखकर विचार करते हैं कि यह हमसे भी ज्यादा बलवान दिखाई देता है। ऐसा जानकर भगवान गौतम नाम गणधरको कहने लगे कि यह खन्द नामका सन्यासी जो आया है तुम उसके

सामने जाकर उसकी विनय भक्ति करो जिससे वह सन्तुष्ट हो जाये, और हमारे प्रति उसके मनमें उपद्रव न पैदा हो। इस प्रकार उन गौतमने भगवानके वचनों को सुनकर वैसा ही किया। इस कारण तीर्थंकर से भी अन्य पुरुष बलवान होना ही है, इस प्रकार उनने लिखा है। यह कितने असम्भवकी बात है कि तीर्थंकर से बलवान भी कोई होता है। तीर्थंकर की दीक्षा के समय भी भगवान को श्वेत वस्त्र इन्द्र ने ही आकर पहिनाये हैं, ऐसा भी लिखा है। इसके अलावा स्त्री पर्याय में तीर्थंकर पैदा होते हैं। क्योंकि मल्लिनाथ भगवान को मल्लि बाई भी कहते हैं। इसलिये तीर्थंकर को स्त्री पर्याय भी होती है ऐसा भी लिखा है। भगवान तीर्थंकर के तिर्यन्च भी गणधर होता है। क्योंकि वहां मुनिसुव्रत स्वामी को एक घोड़ा नामका तिर्यन्च था उसको गणधर माना है। केवली भगवान वस्त्र सहित हैं, ऐसा भी लिखा है। स्त्री को महाव्रती भी लिखा है। स्त्री पर्याय से मोक्ष की प्राप्ति भी लिखी है। जिन प्रतिमा को वस्त्र आदि पहिनाने के योग्य लिखा है। जिनप्रतिमा को लंगोटी आदि का होना भी योग्य लिखा है। प्रतिमा को सुनका जनेऊ भी पहिनाने के लिये लिखा है। भोग-भूमि मनुष्य कर्मभूमि में भी आ सके ऐसा लिखा है। वहां एक स्त्री-पुरुष तथा युगलिया को देव यहां लाया तथा उनका छोटा शरीर करके भरतक्षेत्र में लेकर रखा। उसमें से हरिवंश की उत्पत्ति हुई यह अनर्थ बातें भी कही है। पुनः साधुके वस्त्र आदि तथा पात्र और उपकरण आदि रखने योग्य विधि बतलाई है। पुनः गृहस्थ सहित श्रावक को भी मोक्ष की प्राप्ति लिखा है। उसके अलावा भरत चक्रवर्ती को भी राज्य भोगते-भोगते केवलज्ञान हो गया इस प्रकार लिखा है, तथा मल्लिकुमारी को गृहस्थ अवस्थामें ही केवलज्ञान होने के विषय में भी बताया है, तथा एक कुमारी राजकन्या को बराम्दे में बुहारी देते-देते

केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था। तथा गृहस्थ आश्रम में सभी को केवलज्ञान प्राप्त होने को लिखा है। साधु को किवाड़ बन्द करके भोजन करने की विधि भी लिखी है। साधु जुदे-जुदे ही भोजन करें। इस प्रकार की अनेक बातें उन्होंने अपने शास्त्र में लिखी हैं। जाति आदि तथा आहार की शुद्धि का कोई विधान आदि की चर्या न रखकर जहां से भी हो आहार लाकर खाने की विधि लिखी है। इस प्रकार वीतराग भगवान के वचनों के विरुद्ध अनेक असम्भव बातों को सम्भव करके लिखा है। त्रेसठ शलाका पुरुषों के दाढ़ी मल-मूत्र आदि होता है ऐसा वर्णन किया गया।

परन्तु जिनवाणी में यह कहा है कि त्रेसठ शलाका पुरुषों को दाढ़ी मूंछ तथा मलमूत्र आदि नहीं होते। ऐसा नियम है। पर इतना अवश्य है कि अपनी स्त्री के साथ काम करते समय वीर्य-स्खलन होता है। परन्तु त्रेसठ शलाका पुरुषों की माता को मासिक धर्म नहीं होता है। माताका रज तथा पिता का वीर्य मिलकर मनुष्यकी उत्पत्ति होती है। माता का रज तथा पिता के वीर्य के अलावा मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती है।

भावार्थ—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नवनारायण, नवप्रतिनारायण, नवबलभद्र, ये त्रेसठ सलाका पुरुष हैं। चौबीस भगवान की माता तथा उनके पिता कर्मभूमिया के १११ जीव और भोगभूमि के समस्त जीवों के दाढ़ी, मूंछ, मलमूत्र, कफ, थूक तथा नख केश आदि नहीं होते और भगवान की माता को महीने पर रजस्वला दोष भी नहीं होता है। ऐसे उत्तम जीवों के निहार आदि नहीं होता ऐसा गोम्मटसारादि ग्रन्थोंमें नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य ने लिखा है। और श्वेताम्बर के ग्रन्थों में निहार यानी मलमूत्र आदि का होना भी लिखा है। और चन्द्रमा को चौंसठ जाति का विमान कहा है। यदुवंशियों को मांसभक्षी

बनाया है, मानुषोत्तर पर्वत से आगे जाने का विधान भी मनुष्य को लिखा है। पुनः कामदेव २४ नहीं होते हैं उससे कम होते हैं, ऐसा लिखा है। पुनः तीर्थंकर भगवान के मोक्ष जाने के बाद उनके मृत शरीर के मुंह में से सभी दांत उखाड़ कर देवता उसे स्वर्ग में ले जाते हैं तथा वहां पर उनकी पूजा करते हैं, इस प्रकार लिखा है। नाभि राजा तथा मरुदेवी ये दोनों युगल ही उत्पन्न हुए थे, अलग-अलग नहीं। इस प्रकार उन्होंने लिखा है। परन्तु दि० जैन सिद्धान्त में उनकी उत्पत्ति अलग-अलग लिखी है। इसमें उन दोनों का विवाह सम्बन्ध किया गया है। पर श्वेताम्बरों ने ऐसा माना है कि यह युगलिया उत्पन्न हुये हैं। नवग्रैवेयक का जीव (उत्पन्न देव) ऊपर की नव अनुदिश तक जाते हैं, ऐसा माना गया है। परन्तु दि० जैन सिद्धांतमें इस प्रकार कहा गया है कि जो देवता अपने स्वर्ग से ऊपर नहीं जाते हैं। अगर अन्य कोई देवता उठाकर ले जाय तो जाते हैं। अपनी शक्ति से वे अपने आप नहीं जाते हैं। इस प्रकार शास्त्रके विरुद्ध जिनवाणी के विरुद्ध कहना दोष लगाना अपनी विषय कषाय तथा अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिये भगवान की वाणी का दुरुपयोग विरुद्ध कथन करना पाप का कारण होता है। इसलिये हमने भव्य जीवों के लिये असली भगवान का तत्व तथा जैन धर्म का असली सार क्या है इस बात को निर्णय के रूप में विवेचन किया है। और भी कहते हैं कि—भगवान की वाणी भव्य जीवों के कल्याण के लिये नहीं हैं। प्रतिमा को भी कहते हैं कि प्रतिमा धातु पाषाण की है इस कारण वह जड़ है। इनको नमस्कार करना विनय करना तथा पूजा के फल को मानना ठीक नहीं। अतः इस जड़ प्रतिमा की पूजा कभी नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार उनके शास्त्र में अनेकों बातें लिखी गयी हैं। इसके अलावा श्रावकों

को कुदेव आदि की पूजा करने के विषय में भी प्रतिपादन किया है। क्योंकि यह श्रावक का धर्म है कि वह सभी देवताओं को पूजे। कुदेव की पूजा करने में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार की बहुत सी बातों का वर्णन उन्होंने अपने शास्त्रों में किया है। उत्सर्पिणीके चौथे काल की आदि में कर्म भूमि के अन्त में जब यहां कर्मभूमि में से भोगभूमि का रूप प्रगट हो जायेगा तो भोगभूमियों के स्त्री पुरुष युगलिया को देव भरत क्षेत्र आदि में ले जाकर रखेगा तत्पश्चात् पुनः युगल धर्म चलेगा। इस तरह अनेक प्रकार की उल्टी बातों का समर्थन किया गया है। और जिनवाणी में ऐसा कहा गया है कि कर्मभूमि के जीव काल के प्रभाव से दो स्त्री पुरुष युगलिया ही उत्पन्न होंगे और वहां दस प्रकार के कल्प वृक्ष भी स्वयमेव ही उत्पन्न होंगे। इसलिये कर्म भूमि से भोगभूमि की परिपाटा हुई है। इस प्रकार जिनवाणी के विपरीत अपने मनःकल्पित ८४ सूत्रों की रचना की गयी है। उन सूत्रों को पोषण करने के लिये तथा उनके निमित्त दृष्टान्त देकर अनेक प्रकार की झूठी कथा लिखी गयी हैं। इसी प्रकार और भी ग्रन्थों में दण्ड आदि वेष धारण करने के लिये कह कर उसको श्वेताम्बरी मत का नाम दिया है। और वह अपने मत सम्बन्धी (श्वेताम्बरी सम्प्रदाय) इस कथन के विरुद्ध ही है तथा इसको नहीं मानते हैं और कहते हैं कि इस प्रकार का कथन होना चाहिये जहां लोग उसकी निन्दा न करें। तब तो इस प्रकार का विचार करें कि जिससे किसी प्रकार का संकट न आये। कई लोगों ने कई सूत्र कम कर ७२ सूत्र कर लिया। फिर किसी ने उसमें से ४५ सूत्र रख लिया। किसी ने ३२ सूत्र ही रख लिया। परस्पर में विरोध होने पर उसमें भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बन गया। उनके मनमाने विचार आचार की प्रसिद्धि

हो गयी। तत्पश्चात् श्वेताम्बरों में भी कई पन्थ हो गये तथा वे आचार-विचार के विरुद्ध परिपाटी चलाये। इस काल में ऐसा दोष होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसमें जैन मत की गौणतर इस पंचम काल में होना ही है। इस जैन मत में अनेक प्रकार के पाखण्डी भी हो गये हैं। इस प्रकार हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से जिनमत सम्बन्धी मोक्ष मार्ग के उल्टे श्वेताम्बरी मत आदि की स्थापना हो गई है। दिगम्बरी मत में श्री महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद ६८३ वर्ष और उसके पश्चात् एक आचारांग नाम के पहले अंग का ज्ञान रहा। तत्पश्चात् इस काल दोष के कारण आचार्य कम रह गये। इतना होने पर भी दिगम्बर मार्ग में मोक्ष मार्ग की अन्यथा नहीं आई। इसमें ६८३ वर्ष के बाद श्री कुन्दकुन्दाचार्य नामक एक वीतराग मुनि हो गये। उनको एक अंग वस्तु का ज्ञान था। अन्य की विशेष वस्तु का ज्ञान भी था। उसके बाद उनके शिष्य श्री उमास्वामी मुनि हुए। यह भी इस काल में श्रुतकेवली के समान उमास्वामी नामक आचार्य हो गये हैं। उन्होंने मोक्ष के मार्ग का प्रकाश करने के लिए भगवान के परमागम की आज्ञा के अनुसार तत्वार्थ सूत्र की रचना की। उस समय यहां दिगम्बर गुरु के विषय में भिन्न-भिन्न नामकी नन्दी, सेन, देव, सिंह, ऐसी चार भाषाओं की शाखा हो गयी। इसमें भिन्न-भिन्न ग्रन्थ की रचना भी हो गयी। पहले श्री कुन्दकुन्दाचार्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, पूज्यपाद स्वामी, विद्यानन्द स्वामी, श्री वसु नन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती, ऐसे पहले संघ में बड़े-बड़े आचार्य हो गये हैं। जिन्होंने विचार किया कि जो हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से श्वेताम्बरों का सम्प्रदाय बहुत बढ़ गया है, परन्तु मोक्ष मार्ग की प्ररूपणा अन्यथा नहीं हुई है। इस समय तक तो

मोक्ष मार्ग की परिपाटी यथार्थ रूप से चली। इसलिये इस मोक्ष मार्ग की परिपाटी में अन्यथा या इसका विरुद्ध कथन करने के लिए आगे कोई अन्यवादी न बन जावे इसलिए परम्परा परिपाटी को कायम रखने के लिए इस शास्त्र की रचना की गई। क्योंकि इस प्रकार के ग्रन्थ रचने से जो निकट भव्य जीव हैं वे समझकर मोक्षमार्ग का यथार्थ श्रद्धान कर लें तथा अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र ग्रहण करें। ताकि उनका कल्याण हो जाय। यही बड़ा उपकार है। ऐसा विचार कर के यहां मोक्ष मार्ग के ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार यह नन्दीशाखा की परिपाटी का विवेचन किया।

मूल संघ का दूसरा सम्प्रदाय

भूतवली, पुष्पदन्त, वृषभसेन, सिद्धसेन, समन्तभद्र, जिनसेन, गुणभद्र इत्यादि बड़े-बड़े आचार्य हो गये हैं। उनमें ने षट्खण्ड नामका सूत्र, जय धवल, महाधवल, आदि पुराण, हरिवंश पुराण इत्यादिक ग्रन्थों की रचना की हैं। उनमें सिद्धसेन तथा समन्तभद्र स्वामी ये दोनों स्याद्वादविद्या के प्रकाण्ड आचार्य थे। वहां समन्तभद्र स्वामी ने एक तत्वार्थ सूत्र की गन्धहस्ती नामकी महाभाष्य टीका की है। तथा अर्थ परीक्षा तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार इत्यादि बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना की है। जिनसेन आचार्य ने आदि पुराण तथा छोटा पद्म पुराण के संस्कृत रूप की रचना की है। गुणभद्र आचार्य ने उत्तर पुराण की संस्कृत की रचना की है। दूसरे सेनगण की शाखा वाले अकलंक देव सोमदेव, इत्यादिक बड़े-बड़े आचार्य हो गये हैं। यह भी स्याद्वाद विद्या के बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने

प्रमाणनय ग्रन्थ की रचना की है। उसमें अकलंक देव स्वामी ने तत्वार्थ सूत्र की राजवार्तिक नामक संस्कृत टीका की है। सोमदेव स्वामी ने यशस्तिलक नाम के काव्य की रचना की है। पुनः चौथी सिंहनन्दी साम्प्रदाय की शाखा है। वीर नन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती, हरिसिंह इत्यादि आचार्य है। उनमें वीरनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने आचार सार नामक ग्रन्थ की रचना की है। अन्य आचार्य ने मोक्ष मार्ग के प्ररूपण में ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार दिगम्बर आचार्यों की चार शाखायें हैं। ये मोक्ष मार्ग रूप शास्त्र की रचना अपनी परम्परा के अनुसार करते चले आये हैं। इन सबसे पहले श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने तत्व ग्रन्थों की रचना की है। उस समय आचारांग आदि वस्तुओं का भी ज्ञान था। इसके आगे ज्ञान की हीनता होती ही चली गई। तब उसमें कुन्दकुन्दाचार्य ने इस पंचम काल के निमित्त शास्त्र की रचना की। अब इस कलिकाल में दिगम्बर मुनि के साम्प्रदाय के विषय में आचार्य का अभाव है। कुन्दकुन्दाचार्य ने दिगम्बर मुनियों के आचार विचार की परिपाटी कायम रखने के निमित्त तथा उनने मुनि लिंग की आचार-विचार सम्बन्धी ग्रंथ की परिपाटी को कायम रखने के निमित्त ग्रन्थों की रचना की। अगर सभी यदि मोक्ष मार्ग के लिये नग्न रहे तो मुनि धर्म की तथा उनके आचार-विचार का भी पता न पड़ेगा। इसलिये मुनि मार्ग के आचार-विचार के बारे में शास्त्र की रचना की और आचार्य परम्परा का भी उन्होंने वर्णन किया है। ऐसे मोक्ष मार्ग रूप के लिये यह शास्त्र परम्परा से चली आई परिपाटी प्रमाण रूप है। इस लिये यह शास्त्र मोक्ष मार्ग की परिपाटी को बतलाने वाला है। ऐसा समझ कर भव्य जीवों को इस शास्त्र का अभ्यास करना योग्य है। जिससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो। यहां पर कोई प्रश्न करता है कि—

प्रश्न—सबसे पहले तो व्याकरणादि शब्द शास्त्र के पक्ष-पाती इस प्रकार कहते हैं कि जो व्याकरण रूप काव्य, छन्द, न्याय अलंकार, कोष इत्यादि शब्द शास्त्र का अभ्यास करना ही उचित है, इसका मनन करने से अनेक ग्रंथों का स्वयमेव ही ज्ञान हो जाता है, एवं पण्डितपना प्रकट होता है। उसके पश्चात् तत्वार्थ शास्त्र के अभ्यास से ठीक ज्ञान हो, जो उसके विद्याध्ययन के बिना पंडित पना प्रकट नहीं होता है। इसलिए शब्द रूप व्याकरण शास्त्र के अभ्यास करना योग्य है।

उत्तर—जिनको पण्डितपना चाहिये, वह इस शास्त्र तथा काव्य का अभ्यास करें। जो अपने कार्य की इच्छा रखता है उसको मोक्ष मार्ग के तत्वों की अभ्यास करना ठीक है। क्योंकि शब्द शास्त्र पढ़ने मात्र से पण्डितपना ही प्राप्त होगा, परन्तु तत्त्व का अभ्यास नहीं होगा। जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनके लिये तत्त्व के प्ररूपण का अभ्यास करना उचित है। तभी वह ठीक तत्त्वों का अभ्यास करके वह अपने आप पण्डित हो जायगा। ऐसा जिनेन्द्र भगवान का वचन है। क्योंकि जो सब तत्त्वों को जानता है वह असली पण्डित कहलाता है, जो जीवादि तत्त्वों के जाने बिना सब व्यर्थ ही है। उन सबको जानने पर अपना ही पण्डितपना प्रकट होता है। बिना तत्त्व के जाने पण्डित नहीं कहा जाता। जैन-सिद्धान्त में तत्वज्ञान को जाननेवाले को ही पण्डित माना है।

प्रश्न—क्या इसमें तत्त्व ज्ञान के बिना तो शब्द शास्त्र व्याकरण आदि कोई काम नहीं करते हैं? परन्तु उसमें तो तत्त्व ज्ञान के प्ररूपण करने तथा शास्त्र की रचना करने के लिए शेष को बढ़ाने

के लिए व्याकरण आदि शास्त्रों का अभ्यास करने के लिए अपनी जानकारी बढ़ाने के लिए कुछ आवश्यक अवश्य है ?

उत्तर—इसमें कोई हानि नहीं है, भले ही शब्द इत्यादि को पढ़ ले। परन्तु अपनी पण्डिताई को दुनिया में दिखाने के लिये तथा ख्याति, लाभ, पूजा, अपनी प्रतिष्ठा इत्यादि के लिये यह पण्डिताई नहीं है। परन्तु उसमें तत्त्वज्ञान की भी आवश्यकता है पहले तो तत्त्वज्ञान शास्त्र का अभ्यास करे। तत्वज्ञान के होने के पश्चात शब्द शास्त्र का अभ्यास करना योग्य है। जिस प्रकार चतुर किसान अपनी शक्ति के अनुसार खेत में हल चलाकर के थोड़ी बहुत खेत की मरम्मत कर देता है तथा उस समय बीज भी बोता है, जो समय बीज बोने का होता है, उससे ही उनको उत्तम फल की प्राप्ति होती है। इसी तरह तुम भी अपनी शक्ति के अनुसार व्याकरण आदि शब्द शास्त्रों के अभ्यास के साथ कुछ अपनी बुद्धि के अनुसार तत्वज्ञान का अभ्यास भी करो, जब तक मनुष्य पर्याय है। इसे मनुष्य पर्याय में इन्द्रियों की स्वाधीनता तथा शरीर की निरोगता है तब तक इससे तत्त्वज्ञान प्राप्त होने का कारण है, जो कि जैन शास्त्र का अभ्यास करने से ही मनुष्य को सम्यक्गुण की प्राप्ति होती है। जब तक इन्द्रियाँ योग्य काम करती हैं तथा शरीर भी निरोग है तब तक ही सम्यक् गुण की प्राप्ति करना योग्य है। न तो जैसे मूर्ख किसान, जो की मूर्खता से हल चलाते-चलाते बीज बोने का समय व्यतीत कर देगा। उसको फल की प्राप्ति कहां से होगी? तब उनका हल चलाना ही व्यर्थ होता है। उसी प्रकार मनुष्य अपनी जिन्दगी भर में तर्क एवं व्याकरणादि सीख कर पण्डितपना ही प्राप्त करता रहेगा तो अन्त में मनुष्य पर्याय के द्वारा फल को न पाकर वृथा गमा देगा। इसलिये सबसे पहले तत्त्वज्ञान के द्वारा सम्यक्त्वादि गुणोंका

प्राप्त करना ही आवश्यक है। इस पंचम काल में आयु का तथा बुद्धि का ह्रास तो है ही। इस कारण अपने प्रयोजन मात्र ही अभ्यास करना उचित है। क्योंकि उसका पार ही नहीं है। तर्क व्याकरण शास्त्र के बिना उपदेश नहीं होता तथा भाषा शास्त्र का अभ्यास करके उपदेश दे सकते हैं तथा धर्म प्रचार भी कर सकते हैं। या उपदेश को सुनकर तत्त्वज्ञान का अर्थ प्राप्त कर सकते हैं। पर कोई अज्ञानी जीव व्याकरण आदि शास्त्रों के अध्ययन में ही अपना जन्म गवां दे और तत्त्व ज्ञान से रहित हो जावे तो इस बातको प्रत्यक्ष में इस प्रकार देखने में आता है। इसलियें मनुष्य को तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना ही योग्य है। इससे मनुष्य के कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिये सबसे पहले तत्वोपदेश रूप शास्त्रका अभ्यास करना योग्य है। तत्त्व ज्ञान होने के बाद अपनी शक्ति के अनुसार शब्द शास्त्र का भी अध्ययन करना योग्य है। परन्तु शब्द शास्त्रोंके अध्ययन के बाद भी तत्त्व ज्ञान का होना अति आवश्यक है। बिना इसके कल्याण नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या तत्त्व शास्त्र का अध्ययन करने से कोई प्रयोजन की सिद्धि होगी? सब सिद्धि धन से होती हैं। यदि धन न हो तो तीर्थ यात्रा करना दान देना, पूजा करना, इत्यादि कैसे होगा? इसलिये जो भी कार्य है धन से ही होते हैं। इसके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। धनवान के पास सब प्रकार के पुरुष आते हैं। अन्य कार्य भी धन से ही होते हैं। जिन मन्दिर आदि सब ही क्रिया धन से ही होती है। इसलिये मेरे मत से धन का उत्पन्न करना तथा उसके लिये ही उद्यम करना उचित है। इससे ही कार्य की सिद्धि होगी; धन का उपार्जन ही सर्वप्रथम आवश्यक है?

समाधान—यह विचार ठीक नहीं है। धन से अपने लिये कुछ भी लाभ नहीं होता है। यदि यह भाग्य से मिलता भी है तो यह पाप और पुण्य के आधीन है। धन तथा शास्त्रों का अभ्यास, दान, पूजा आदि से पुण्य होता है। इस पुण्य का नाम ही भाग्य है। अगर धन से ही सर्व कार्य सिद्ध हो जावे तो दान पूजादि पुण्य कार्यों को करने की आवश्यकता नहीं रही। धन यदि प्राप्त होगा तो बिना शास्त्र के भी प्राप्त हो सकता है। दान पूजादिक कार्य न करनेवाले को भी प्राप्त हो सकता है। इसलिये धन की प्राप्ति पुण्य से भी होती है। इसलिये शास्त्र का अभ्यास एवं तत्त्व का मनन करना ही योग्य है। तथा संसार में जो मनुष्य पर्याय मिला है यह धर्म तथा पुण्य के ही कारण ही मिला है। धन जो अब प्राप्त हुआ है यह भय से युक्त है। भय पाप का उत्पन्न करने वाला है। पाप नरकादि गतियों का कारण है। शास्त्राभ्यास से उत्पन्न ज्ञान रूपी धन अविनाशी है तथा भय से (रिक्त) रहित है। तथा धर्म स्वरूप है। यह मोक्ष मार्ग का कारण है। इसलिये धर्म तथा तत्त्व ज्ञान को महान कहा है। बड़े-बड़े धर्मात्मा पुरुष उसका सेवन किये हैं। धन का सदुपयोग सच्चा ज्ञान साधन में तथा शास्त्राभ्यास में लगाया है। इसलिये अज्ञानी जीव तू धर्म को छोड़ कर केवल धन को एकत्र करने की विडम्बना कर रहा है, तथा उसमें अपनी को सुखी समझ रहा है, तो यह अनन्त संसार के लिये भ्रमण के कारण हैं। यहां पर देखने में आता है कि—तीर्थयात्रा, धर्म-पूजा तथा प्रभावना आदि धन से होती है। यह बात तो सत्य है, यह लोक व्यवहार-रूप दान धर्मादि कार्य धन से होते हैं। यह तो धर्म की पूर्व-जन्म में किया हुआ आराधना का ही फल है। उसी से धन बहुत अधिक मात्रामें मनुष्य को प्राप्त हो गया है। इसलिये तीर्थयात्रा तथा धर्म आदि का

प्रताप समझ कर धन को इन सब कार्यों तथा सुमार्ग में खर्च करना ही उचित है। किसी-किसीको व्यवहार धर्म से तथा लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से धनकी प्राप्ति हो गई हो तो उनको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि जो भी धन कमा कर तीर्थ-यात्रा तथा दान-पूजा प्रभावना आदि में खर्च करेंगे, तो यह हमेशा पुण्य का कारण ही पर-कर्म का कारण है। यदि इसी पुण्य के द्वारा कर्मकी निर्जरा करें तो सच्चे आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का उपाय भी बन सकता है। यह व्यवहार धर्म भी साधनभूत है, और यह निश्चय धर्म का कारण है। निश्चय धर्म ही आत्मा का स्वभाव है। इसलिये धन की वांछा छोड़ कर तत्त्वज्ञानी को तत्त्वज्ञान की ही प्राप्ति करना योग्य है। तथा जहां पर तत्त्व ज्ञान है, वहां सारे इन्द्रियजन्य सुख अथवा अनेकों भोग सामग्री उसमें गर्भित हैं। यह धन तत्त्वज्ञानी को बिना इच्छा के ही उनके पीछे-पीछे चलता है, और जो धन की प्रभावना से धर्म है, वे व्यवहार धर्म सावद्यादि से सहित है, और समस्त सावद्य क्रिया-रहित शास्त्र अभ्यास-रूप है, वह धर्म है। वही आत्मा का मुख्य प्रधान धर्म है। वह धर्म धन की इच्छा को छोड़ने तथा शास्त्र का अभ्यास करने मात्र से ही प्राप्त हो जाता है; तथा जबतक गृहस्थ-अवस्था है, तबतक दान, पूजादि, धर्म-प्रभावना आदि करना गृहस्थ धर्म का लक्ष्य है। क्योंकि इसके लिये इन्द्रिय-वासना तथा अपने लोभ-कषाय को घटाने के अभ्यास के प्रति उनके मन की रुचि पड़ जाने से या शास्त्र का अभ्यास करने से लोगों में धर्म-प्रभावना आदि प्रकट होती है। तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने ही जैन-धर्म की प्रभावना की हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानी सर्वत्र पूजनीय होता है, और धनवान पुरुष से तत्त्वज्ञान तथा धर्म की प्रभावना आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती है। धर्म की प्रभावना, शास्त्र-अभ्यास एवं तत्वज्ञान से ही होती है। धनवान पुरुष अपने देश में ही पूजनीक होता है।

स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।

अर्थात्—धनवान पुरुष अपने देश में ही पूज्य होता है, तथा तत्व-ज्ञानी पुरुष जो है, वह समस्त विश्व में पूज्य होता है। बहुत कहने से क्या ? तत्त्वज्ञानी पुरुष की इन्द्र भी सेवा करता है। इसलिये तत्त्वज्ञानी होने के लिये धर्म शास्त्र का अध्ययन करना ही योग्य है। क्योंकि धनवान के पास अनेक पण्डित भी एकत्र हो जाते हैं। परन्तु जो ज्ञानी होगा, वह धनवान के पास नहीं जायेगा। पर जो धनके लोभी होंगे, वह ही धनवान के पास जायेगा। परन्तु जो तत्वज्ञान से धनवान हैं, वह पण्डित कभी धनवान के पास जाकर दीन वृत्ति को प्रकट नहीं करेगा। परन्तु यदि कोई कहे कि—धन से ही सब कार्य सिद्ध होता है। इसका उत्तर यह है कि धन केवल इस लोक ही के लिये होता है, पर-लोक के लिये नहीं। यह धन विषय-कषाय को उत्पन्न करनेवाला है, तथा संसार में भ्रमण के लिये तथा नरक आदि दुःखों को प्राप्त करानेवाला है। परन्तु तत्वज्ञान के अभ्यास से ऐसा कार्य सिद्ध होता है कि इहलोक परलोक के कर्म को नाश करके अन्त में इस परम्परा की अन्तिम श्रेणी अर्थात् मोक्ष पद को दिला देनेवाला है, इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को धन उत्पन्न करने की इच्छा को छोड़ कर शास्त्रका अभ्यास करना ही योग्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि केवल गृहस्थ आश्रम में रह कर इस धन को कमाने की साधनभूत कारण को छोड़ कर केवल शास्त्राभ्यास में रहे, पर यह भी एकान्त पक्ष होगा। यहां पर सार इतना ही है कि संसारी जीव धन के पीछे ही रह न जाय। इनको तत्व-ज्ञान के सम्मुख होने की इच्छा से ही उनको विशेष प्रकार से शास्त्राभ्यास करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि जैन सिद्धान्त अनेकान्त तथा स्याद्वाद है। इन दोनों की अपेक्षा से यहां प्रतिपादन किया है।

प्रश्न—कोई स्वार्थी अपने काम सेवन करने के कारण विषय भोगादि का पक्ष लेकर इस प्रकार प्रश्नकरता है कि जो शास्त्र तथा तत्त्वाभ्यास करने से कोई सुख की प्राप्ति नहीं होती है। परन्तु उससे जिसको जो सुख प्राप्त हो ऐसी अति सुन्दर रूपवान कोमल स्त्री का स्पर्श करने से जो सुख की प्राप्ति होती है, वह इससे नही होती है। इस प्रकार लाडू पेड़ा घेवर बर्फी इमरती गुड़, खांड मिश्री, वतासा, गिन्दोड़ा आदि मिठाई तथा हलवा लप्सी, पूड़ी कचौड़ी, चावल, दाल, खीर, रोटी, दूध, दही, घी तेल गोला वदाम छुहारा पिस्ता दाख आदि अच्छे-अच्छे भोजनों का प्राप्त होता है तथा सोना चांदी आदि अनेक प्रकार के अति सुन्दर-सुन्दर आभूषण आदि को पहनना तथा रेशम की सूट आदि पहनकर अनेक प्रकार के अति सुन्दर वस्त्र आदि पहनना तथा हाथी घोड़ा रथ गाड़ी पालकी आदि अनेक प्रकार के वाहन सवारी में वैठकर घूमना तथा पलंग में विछे हुए विछौने आदि के कोमल स्पर्श वैठना, सोना इत्यादिक विषयसेवन में आत्मा को सुख की प्राप्ति होती है। इसमें प्रत्यक्ष सुख देखने में आता है। तप आदि में हमको सुख देखने में नहीं आता इसमें हम तो जितना विषय सेवन के लिये कार्य करेंगे और भी हमारी वड़ाई आदि होने योग्य अनेक प्रकार के ठाठ से तथा महल मंदिर वा बावड़ी तालाव वगीचा इत्यादि वनवाना, वाग लगवाना इत्यादि से जगत में अनेक प्रकार से नाम होता है। इस तरह से अपनी वड़ाई तथा इन्द्रिय सुख मिलता है, यह सभी अपने लिये ही सुख का कारण है। क्योंकि ऐसा करने में मरने के वाद भी

बहुत काल तक लोग हमारा नाम लेते रहेंगे। शास्त्र का अभ्यास करने में भी दिमाग का खर्च तथा समय की बरबादी ही है। इसमें दुःख के अलावा सुख नहीं है। क्योंकि इसमें केवल काय-क्लेश मात्र ही है। आत्मा को दुःख देना ही इसमें आता है इस कारण मनुष्य को काम सेवन आदि करने में ही सुख की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं ?

समाधान—आचार्य प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि यह विषय-रूप इन्द्रिय-जन्य जो सुख है यह पर निमित्त है, एवं क्षणिक है तथा संसार बन्ध का कारण है। अनन्तकाल तक चारों गतियों में भ्रमण का कारण है। काम भोग हमेशा काम की पीड़ा को उत्पन्न करनेवाला है। तब तो जब काम वेदना होगी, शरीर का स्पर्श करना ही आवश्यक होगा। जहाँ क्षुधा -वेदना होगी वहाँ फिर भोजन का भक्षण करना ही होगा। पुनः जब अपनी उच्चता को प्रकट करने की इच्छा होगी वस्त्र आभरण को पहिनने की आवश्यकता प्रतीत होगी। जहां गमन करने की इच्छा होगी हाथी घोड़ा तांगा, मोटर आदि सवारी की प्राप्ति करने की आवश्यकता होगी। जिसको निद्रा लगेगी वह पलंग गद्दा आदि कोमल शैया के ऊपर शयन करने की इच्छा करेगा। जिसको प्यास की वेदना उपजेगी वह शीतल जल को पीना चाहेगा, जिसको गरमी की पीड़ा होगी वह पंखा आदि से ठण्डी हवा करना चाहेगा, जिसे शीत की वेदना होगी वह रुई आदि के मोटे वस्त्र को ओढ़ना तथा अग्नि आदि तापना चाहेगा, जिसको वर्षा आदि ऋतु में जल की व्यथा होगी सो महल मन्दिर आदि मकान में बैठना चाहेगा, जिसको अपना नाम जगत् में प्रगट करने की कामना होगी सो बाग, कुआँ बावड़ी आदि बनवायेगा इत्यादि विषय

रूप रोग की वेदना जिसे होगी वही उसका उपचार करेगा, किन्तु जिसे किसी प्रकार की वेदना नहीं है वह क्यों उपचार करेगा? यानी जिसे वेदना नहीं है वह सुखी है। जैसे किसी पुरुष को यदि कोई रोग हो जाय तो वह उसे दूर करने के लिये औषधिका सेवन करेगा, लेकिन जिसे कोई रोग ही नहीं है वह औषधि का सेवन क्यों करेगा? यानी वह तो औषधि दूर ही से त्याग देगा। इसी प्रकार जिसे इन्द्रिय रूपी रोग उत्पन्न होगा वही विषय-रूप औषधि का सेवन करेगा। अतः इन्द्रिय-जनित विषय का सुख दुःख रूप ही है। इन्द्रियजनित विषय का सेवन, आदि और अन्त में आकुलता को लिये हुए रहता है। इन्द्रियजनित विषयों के सेवन करने से नाश होने के अनेक कारण आगमों में आचार्यों ने बतलाये हैं और यह अन्त में नरकादि दुर्गतियों में ले जानेवाला है। ऐसा इन्द्रियजनित विषय का सुख है तो भी तेरा चाहा नहीं मिलता। जिसने पूर्वभव में पुण्योपार्जन किया है उसी को प्राप्त होता है, सभी को नहीं। जिस प्रकार खाज पहले तो खुजलाते समय थोड़ा सा सुख-रूप मालूम पड़ता है, किन्तु अन्त में वह असह्य अत्यन्त वेदना को पैदा करती है, इसी प्रकार विषयों के सुख प्रारम्भ में तो क्षण मात्र के लिये सुखाभास लगते हैं किन्तु अन्त में वे शरीर, स्वास्थ्य और धर्म-कर्म आदि सबको नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। इन्द्रियजनित विषयों में परामर्श रूप सुख का नाम-निशान भी नहीं है। और यदि इसमें सुख होता ही तो स्वर्ग के कल्पवृक्षों से उत्पन्न विविध भाँति के भोगोपभोग सामग्री जो कि देव लाते हैं, उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण, तथा खान-पान आदि नाना भाँति के स्वर्गीय सुखों को जन्मकाल से ही तीर्थंकर भगवान् क्यों त्याग देते? और अपने षट्खण्ड पृथ्वी के राज्य को त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा धारण करके जंगलों में जाकर घोरातिघोर तप

क्यों करते ? इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियजनित विषय-सुख संसार में विष के समान ही हैं। शास्त्राभ्यास से उत्पन्न जो सम्यग्ज्ञान है उसके द्वारा उत्पन्न हुआ जो आनन्द है वही वास्तविक है, ऐसा सुख स्वाधीन है निराकुल है, अविनाशी है, मोक्ष का कारण है, अत्यन्त सुगम है। जिस प्रकार अत्यन्त रोग से पीड़ित मनुष्य का रोग मिट जाने से वह सुखी हो जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुष के इन्द्रियजनित विषयों की वेदना स्वयमेव विनष्ट हो गयी है तो उसे सहज में ही सुख की प्राप्ति हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों के विषयोंका सुख छोड़ कर शास्त्र का अभ्यास करना ही सर्वथा योग्य है और यदि सर्वथा नहीं छूटे तो जितनी शक्ति हो उतनी धीरे-धीरे त्याग करने की भावना करनी चाहिये। और थोड़ा-थोड़ा नित्य नियमित रूप से शास्त्र का अभ्यास करते रहना चाहिये। पहले विवाह, महल, मन्दिर, कुआँ, बावड़ी, बाग, तालाब आदि कार्य में जो मान बड़ाई प्राप्त होने की बात कही गई है, सो महा पाप का आरम्भ होने के नाते परलोक में नरकादि कुयोनियों में अनन्तकाल तक दारुण दुःख का कारण है। इस मान, बड़ाई के पीछे जीव को असह्य दुःख सहन करना पड़ता है। इसलिये विवाह आदि कार्य में अपनी बड़ाई होने से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। अथवा उस विवाहादि कार्य में तुमसे भी अधिक धन लगानेवाले पुरुष संसार में भरे पड़े हुये हैं, जिनके पास धन का अक्षय भण्डार भरा पड़ा हुआ है। उनके समक्ष तेरी विशेष बड़ाई भी नहीं हो सकती। अतः संसार की क्षणिक मान बड़ाई को छोड़ कर केवल शास्त्र ही का अभ्यास निरन्तर करना चाहिये, जिससे कि ज्ञानानन्द-रूप आत्मिक सुख की प्राप्ति हो। अथवा शास्त्राभ्यास से यहां भी बड़ाई होती है। संसार में सभी लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और देवलोक में इन्द्रादिक भी

प्रशंसा करते हैं। और शास्त्र के अभ्यास करने से परम्परा स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि विवाहादि कार्यादिक का संकल्प-विकल्प छोड़कर शास्त्रों का सदा अभ्यास करें।

प्रश्न—जो तुमने केवल अपने शास्त्र की प्रशंसा की वह तो पक्षपात ही हुआ, क्योंकि हमारे मत में भी तो अनन्त शास्त्र भरे हुए पड़े हैं। क्या उनके अभ्याससे जीव का भला नहीं हो सकता?

उत्तर—तुम्हारे शास्त्रों में आत्मा के हित का उपदेश नहीं है। वहां कहीं तो शृङ्गार रस का, कहीं काम सेवन का, कहीं युद्ध आदि का यानी हिंसा आदिक पंच पापोंका कथन है, सो ये सब चीजें तो समस्त जीवों में स्वभाव से ही बनी रहती हैं, इनको त्यागने से जीवों का कल्याण होता है, किन्तु तुम्हारे शास्त्रों में इन सब सांसारिक सुखों की वृद्धि करने की बात कही गई है।

प्रश्नः—ईश्वर की ऐसी ही लीला है—जो उसका गुणगान करेगा उसका भला होगा?

उत्तर—ईश्वर के आत्मिक सुख नहीं होता तभी वह सांसारिक जीवों के समान लीला कर के सुखी होता है। पर यदि ईश्वर के आत्मिक सुख होता तो वह किस के लिये विषय आदिक का सेवन तथा युद्धादि काम बिना प्रयोजन करता? अरे! निष्प्रयोजन तो एक सांसारिक जीव भी किञ्चिन्मात्र कोई कार्य नहीं करता। तो ईश्वर भी संसारी जीवों के समान ही सामान्य पुरुष ठहरा। ईश्वर और हममें कुछ भी भेद नहीं रहा। तो वहां उनका गुणगान करने से सिद्धि कैसे होगी?

पुनः प्रश्न—अन्य जैनेतर शास्त्रों में भी वैराग्य और त्यागरूप

अहिंसादि धर्म का उपदेश दिया गया है, तो इन शास्त्र के अभ्यास करने से क्यों दोष बतलाया गया ?

उत्तर—जो तुम्हारे शास्त्रों में त्याग, वैराग्य आदि का उपदेश दिया गया है, वह पूर्वापर विरुद्ध है। उन शास्त्रों में कहीं-कहीं पर विषय-वासना की पुष्टि की गई है। उसमें प्रथम तो वैराग्य का स्वरूप बतलाया गया है, किन्तु बाद में हिंसा की पुष्टि की गई है। उसमें पहले जिस चीज का निषेध किया है, बाद में उसी की पुष्टि की गई है। उसमें पहले तो जीव-हिंसा का निषेध किया, किन्तु बाद में देवताओं के निमित्त से हिंसा करने में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहा गया। इसलिये तुम्हारे शास्त्रों में वीतराग वचन के समान वचन नहीं है। अतः ऐसे शास्त्रों के अभ्यास से जीव को कल्याण का मार्ग निश्चित रूप से नहीं प्राप्त होता। किन्तु जहां पर तत्वों का विवेचन किया गया है, वहां से उसका सार तो लेना चाहिये। लेकिन जो हम पहले कह चुके हैं कि जैनेतर शास्त्रों में पहले हिंसा का निषेध करके बाद में उसकी पुष्टि की गई है, इसमें वीतरागता नहीं आती। जैन शास्त्रों में श्री वीतराग भगवान् प्रणीत चार अनुयोग माने गये हैं, और उनको सिद्धान्त कहते हैं। वह इस प्रकार है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग—ऐसे चार अनुयोग हैं। इन्हीं चारों का अभ्यास करना योग्य है। जिससे कि अविनाशी आत्मिक सुख-रूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। इस शास्त्र का अभ्यास करने के लिये पांच भेद हैं। उनमें स्पष्ट रीति से अर्थ करके बांचना, सीखना, सिखाना, उपदेश देना तथा चिन्तवन करना ये पांच भेद हैं। जिससे उसका निमित्त मिले, वहां उसका अभ्यास करना; परन्तु शास्त्र का अभ्यास करने में प्रमादी होना योग्य नहीं है। जो अपने उपयोगपूर्वक शास्त्र का

अभ्यास करता है, और उसकी महिमा को अपने हृदय में भली-भांति धारण करता है, वह परम्परा आत्मानुभूति को प्राप्त करके अन्त में मोक्षफल को प्राप्त कर लेता है। और बात तो दूर ही रही, परन्तु उससे अनेक गुण प्राप्त होते हैं। सबसे पहले तो उससे क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों कषायों की मन्दता होती है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति रुक जाती है, अत्यन्त चंचल मन भी स्थिर हो जाता है, हिंसादि पाँचों पापों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती, और जो अल्पज्ञानी जीव हैं, वे भी तीनों लोकों के चराचर त्रिकाल सम्बन्धी सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। हेय और उपादेय की पहिचान हो जाती है, मूर्ख मनुष्य भी पण्डित हो जाता है, उसे आत्मज्ञान का लाभ हो जाता है। अधिक ज्ञान होने के कारण सुख-रूप आत्मानन्द उत्पन्न होता है, संसार में बड़ा यश फैलता है। सातिशय पुण्य का बन्ध होता है, शास्त्राभ्यास करते ही अनेक गुण तत्काल प्रगट हो जाते हैं, इस प्रकार शास्त्राभ्यास की महिमा जानना। और हे भव्यजीव! शास्त्राभ्यास करने का समय भी प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। वहां पर एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी पर्यन्त जीवों के मन नहीं होता, जिससे शास्त्र का अभ्यास नहीं होता। नारकी जीव वेदना से पीड़ित रहते हैं; पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यञ्च जीव विवेक-रहित रहते हैं; देवगण विषयासक्त रहते हैं। इसलिये केवल एक मनुष्य पर्याय में ही अनेक सामग्री प्राप्त होने से शास्त्राभ्यास का संयोग प्राप्त होता है। अतः प्रथम तो मनुष्य पर्याय प्राप्त होना ही महा दुर्लभ है, और कदाचित् वह प्राप्त भी हो जाय तो उसमें भी उत्तम क्षेत्र, उच्च कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की पूर्णता, आरोग्य शरीर, सत्संग धर्म-रूप बुद्धि की प्रबलता इत्यादि की प्राप्ति भी उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है; और इतनी सामग्री मिले बिना ग्रन्थ का

अभ्यास नहीं बनता। सो तुमने यह परम सौभाग्य से यह शुभ अवसर प्राप्त किया है। अतः अब तुम्हें जैसे बने वैसे शास्त्र का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न—यहांपर सबसे पहले तो प्रथमानुयोग कहा १—तत्पश्चात् करणानुयोग २—तत्पश्चात् चरणानुयोग ३—और उसके बाद द्रव्यानुयोग ४—इस प्रकार चार अनुयोगों का अनुक्रम रूप कथन करने का क्या प्रयोजन ?

समाधान—जिसमें तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की कथा कही गयी हो सो तो प्रथमानुयोग है। इसमें जीव के पुण्य करने से शुभगति की प्राप्ति यानी स्वर्गादिक की प्राप्ति और पाप करने से अशुभगति की प्राप्ति का कथन है। इस प्रकार पुण्य और पाप के फल प्राप्त होने के कथन की आदि में प्रथमानुयोग का ग्रहण किया गया है॥ १॥ जिसमें जीव के कर्मों की प्रकृति तथा तीनों लोकोंकी रचना का वर्णन हो वह दूसरा करणानुयोग है, इसमें पुण्य-पापरूप कर्मकी प्रकृतियों के पृथक्-पृथक् विवेचन तथा गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास आदि का स्वरूप तथा जीवों के तिष्ठने रूप स्थान का कथन का वर्णन किया गया है। प्रथमानुयोग के पीछे ही करणानुयोग का ग्रहण किया गया है ॥२॥ जिसमें हेय अर्थात् त्याग करने योग्य और उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य ऐसी शुभ और अशुभ दो भेद-रूप मुनि तथा श्रावक के चारित्र का वर्णन हो वह तीसरा चरणानुयोग है। इसमें जीव को अशुभ क्रिया का त्याग कर के शुभ क्रिया के ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है ॥३॥ पुनः जिसमें छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, पञ्चास्तिकाय आदि समस्त द्रव्यों की गुण पर्याय का वर्णन किया गया है सो चौथा द्रव्यानुयोग है। इसमें जीवको भेद-विज्ञानी होने के लिये पुद्गल के शुद्ध-

स्वरूप का वर्णन किया गया है। इससे आत्मा के पर-द्रव्यका संयोग छोड़कर अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होने का कथन है। चरणानुयोग से पीछे अन्तमें द्रव्यानुयोग का ग्रहण किया गया है ॥४॥ इस अनुक्रम से चार अनुयोग-रूप शास्त्र के अभ्यास से जीव को कल्याण होता है। इस प्रकार प्रथमानुयोग १, करणानुयोग २, चरणानुयोग ३, तथा द्रव्यानुयोग ४, इन चारों ही अनुयोगोंका कथन किया गया है। यानी इन चारों अनुयोगोंके अतिरिक्त कोई हीन या अधिक अनुयोग नहीं है। इन चारों अनुयोगों को विरोध रहित जानने से जीवको सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु जो इन चारों अनुयोगों के मध्य में एक-एक अनुयोग का पक्ष करके अन्य से विरोध करके जानेगा उसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः एकान्त पक्ष को छोड़कर चारों अनुयोगों की ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—पहले प्रथमानुयोग में तो एक तीर्थंकर के साथ हजारों मुनियोंका मुक्ति होने का कथन किया और दूसरे करणानुयोग में छह महीना में आठ समय के अन्दर छह सौ आठ (६०८) जीव मुक्त होते हैं, हीनाधिक नहीं, ऐसा कथन किया गया है। तो इस नियम के अनुसार प्रथमानुयोग और करणानुयोग इन दोनों में विरोध आता है?

उत्तर—यह दोष यहां पर नहीं है। जिससे जहां करणानुयोग के विषय में जो कथन किया गया है सो तो तारतम्य की अपेक्षा किया गया है और प्रथमानुयोगके अन्दर का कथन प्रयोजनके अनुसार किया गया है। इसलिये करणानुयोग का कथन तो जैसा कहा गया वैसा ही है किसी अन्य प्रकार नहीं; किन्तु प्रथमानुयोग का कथन जैसे विधि मिले वैसे मिला लेना चाहिये। जहाँ एक तीर्थङ्कर के साथ हजारों मुनि मुक्ति गये बताये हैं वहाँ

यह भी जानना कि एक ही कालमें इतने मुनि मुक्ति नहीं गये। जहाँ तीर्थङ्कर भगवान् गमनादि-रूप व्यवहार क्रिया को मेटकर स्थिर-भूत हुए हैं वहां उनके साथमें जितने केवलज्ञानी मुनि थे वे सब अपनी-अपनी आयु पूर्ण करके अनुक्रम से आगे पीछे मोक्ष में गये हैं। इस प्रकार प्रथमानुयोग, करणानुयोग में कोई विरोध नहीं आता।

प्रश्न—आप के कथनानुसार प्रथमानुयोग और करणानुयोग में किसी प्रकारका विरोध नहीं आता यह बात तो मालूम हुई; किन्तु करणानुयोग में तो गुणस्थान आदि सहित जीवों की पर्यायका वर्णन किया, द्रव्यानुयोग में अध्यात्म शास्त्रों के गुणस्थान आदिका विशेपणसे रहित जीव के शुद्ध स्वरूपका अनुभव करने का उपदेश दिया, उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य और हेय यानी त्याग करने योग्य अशुभ क्रिया का त्याग और शुभ क्रिया को ग्रहण करने का उपदेश दिया और द्रव्यानुयोग में शुभ तथा अशुभ रूप समस्त क्रियाओंका त्याग करने को कहा है। तो इस कथन के अनुसार चारों अनुयोगों में परस्पर विरोधाभास है, वह कैसे?

उत्तर—जिनमत में एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहार नयका कथन किया गया है। उसमें निश्चयनय से जीवका स्वरूप, गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास आदि विशेपण सहित अभेद रूप वस्तु-मात्र ही है और व्यवहारनय से गुणस्थान, मार्गणादि विशेपण सहित अनेक प्रकार है। इसलिये प्रथमानुयोग में तो जीव की अशुद्ध पर्याय रूप पुण्य और पापके फल की कथा कही है। इसलिये जो पुण्य और पापके फलको नहीं जानेगा तो वह पाप से कैसे डरेगा? दूसरे करणानुयोग के मध्यमें जीवके पुण्य और पाप-रूप कर्म प्रकृतियों का तथा गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास आदि जीवों को

शुद्ध-अशुद्ध दोनों भेदरूप ऐसी मिश्र व्यवस्था कही है। इससे जो पुण्य-और पापरूप कर्म प्रकृतियोंके नाम तथा गुणस्थान मार्गणादि रूपकी शुद्ध १, अशुद्ध २, मिश्र ३, पर्यायादि को नहीं जानेगा तो वह जीव अशुद्ध पर्याय को छोड़कर शुद्ध पर्याय कैसे ग्रहण करेगा? तीसरे चरणानुयोग में शुभ-अशुभ रूप मुनि और श्रावक के चारित्रका जो कथन किया गया है उसमें जीव को अव्रतादि रूप अशुभ क्रियाका त्याग कराके व्रतादि संयम रूप शुभ क्रिया करने का उपदेश दिया गया है। इसलिये जो व्रत और अव्रत का स्वरूप नहीं जानेगा सो अव्रतादि रूप असंयमका त्याग करके मोक्षके कारण जो व्रतादि रूप संयम भाव है उसको कैसे ग्रहण करेगा?

चौथे द्रव्यानुयोग में द्रव्य की शुद्ध पर्याय कहा गया है। वहां व्रत अव्रतादि रूप जो क्रिया है वह समस्त शुभ-अशुभ रूप बंधका कारण है और जो मोक्ष है वह बंध का अभाव रूप है। तो शुभ-अशुभ रूप समस्त क्रियाओं को त्यागने योग्य है। इससे जो शुभ-अशुभ रूप व्रतादि क्रिया का त्याग नहीं करेगा तो वह अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव कैसे ग्रहण करेगा? इसलिये अन्त में द्रव्यानुयोग का कथन किया है। शुद्ध आत्म-द्रव्य को जानेगा तो अशुद्ध क्रियाओं को त्यागकर अपनी आत्मा में लीन होकर सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—जो पहले प्रथमानुयोग में जीव के पुण्य और पापरूप फल की कथा कही है सो ही करणानुयोग में उस पुण्य और पापरूप कर्म की प्रकृतियोंके पृथक्-पृथक् नाम कहा तथा जीवके रहने का स्थान बताया है। और जो दूसरे करणानुयोग में जीव की पुण्य और पाप दो भेद रूप कर्म प्रकृति कही है सो ही चरणानुयोग में उन पापरूप अशुभ प्रकृतियों को

छुड़ाकर शुभरूप पुण्य प्रकृति को ग्रहण करने का उपदेश दिया है। और जो तीसरे चरणानुयोग में अशुभ क्रिया को छोड़कर शुभ क्रिया को ग्रहण करना बताया गया है सो ही द्रव्यानुयोग के मध्य उन शुभ-अशुभ समस्त क्रियाओं को त्यागकर अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होना कहा है। वहां मुनि तथा श्रावक का जो चिन्ह है वह भी शरीर के आश्रय ही है। और शरीर तथा आत्मा का ही संसार है। जिससे मुनि तथा श्रावक की व्रतादिरूप क्रिया जो है वह तो पूर्व अवस्थामें है। इसलिये प्रथम चरणानुयोग के मध्य में तो असंयम भावको त्यागकर संयम भाव में लीन होना कहा है। पुनः द्रव्यानुयोग में उस संयम-असंयम रूप दोनों भावों को त्यागकर एक परम वीतराग रूप आप को सिद्ध समान जानकर अपने चैतन्य स्वभावमें ही लीन होने का उपदेश दिया गया है। इसलिये मोक्षपद की प्राप्ति-स्वरूप चारों अनुयोगों का स्वरूप विरोध से रहित जानना।

प्रश्न—यहाँ पर कोई केवल एक चरणानुयोगका ही पक्ष ग्रहण करके ऐसा कहता है कि—जो जीव और कर्मका स्वरूप तथा जीव १, पुद्गल २, धर्म ३, अधर्म ४, काल ५, तथा आकाश ६ ऐसे छह द्रव्य, सात तत्व, नव पदार्थ इन सबका स्वरूप तो जैसा है वैसा ही, जानता है और जो हिंसादिक पंच पापों का त्याग कर अहिंसादिक व्रतका पालन कर अनशन आदि उपवासादि रूप तप करता है अथवा अरिहंतों की पूजा, स्तवन, आदि भक्ति करता है, सिद्ध क्षेत्र आदि तीर्थ की यात्रा करता है अथवा चार प्रकार का दान भी देता है तथा विषयों को त्याग कर संसारसे उदासीन होकर वनमें जाकर निवास करता है इत्यादि शुभ कार्य करने से आत्मा का हित होता है। तो जीव के कल्याण के लिये एक चरणानुयोग का ही अभ्यास

करना ही कल्याणकारी है। इसलिये और अन्य विकल्पों को क्यों किया जाय ?

उत्तर—जो स्थूल बुद्धि से व्रतादिक शुभ-क्रियाओं को विवेचन किया गया है सो तो योग्य है ही, परन्तु सम्यक्त्व के विना समस्त क्रियायें ऐसी हैं जैसे कि अंक के विना विन्दी का कुछ भी मूल्य नहीं होता है तथा जिस प्रकार वन्ध्या को पुत्र तथा आकाश में फूल सर्वथा असम्भव है, उसी प्रकार तत्वों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हुए विना सम्यक्त्व की प्राप्ति सर्वथा असंभव समझना चाहिये।

भावार्थ—जैसे वाँझ के पुत्र तथा आकाश में फूल का होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार तत्वार्थ के श्रद्धान विना सम्यक्त्व का होना सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति पहले जिस वस्तु को जानेगा वह उसी का श्रद्धान करेगा। किन्तु जिसे वस्तु की पहचान ही नहीं है वह उसका श्रद्धान कैसे करेगा ? इसी तरह जो पहले जीवादि तत्वों को जानेगा वह बादमें श्रद्धानरूप प्रवृत्ति करेगा। इसलिये तत्वार्थ के स्वरूप को जाने विना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। और तत्वार्थ की 'जानकारी होने के लिये जो करणानुयोग वा द्रव्यानुयोग है उसी का वर्णन इस तत्वदर्शन में चारों अनुयोगों रूप गर्भित है। उसकी जानकारी के लिये इस तत्वदर्शन नामक ग्रन्थका स्वाध्याय करना योग्य है। इसको पढ़ने से व्रतादि शुभ कार्य होते हैं और शुभ कार्य पुण्य-बन्ध के लिये कारण है। इसी प्रकार जीवादि तत्वों का भी ज्ञान इसके स्वाध्याय करने से हो जाता है। यह तो बन्धन रूप शुभ कार्य है, किन्तु इससे सातिशय पुण्यबन्ध होता है। अथवा उस व्रतादिक शुभ क्रिया से ज्ञानाभ्यास की प्रधानता भी कही गई है। उसमें जो जीव पहले गुणस्थान, मार्गणा तथा जीव-समास आदि की भली-भाँति जानकारी होने के बाद

यथार्थ ज्ञान से हिंसादिक पांचों पापोंका त्याग करके जो व्रत धारण करेगा वही व्रती कहलायेगा। और जो जीवादि तत्वों की जानकारी नहीं करेगा तो वह वन्ध्या पुत्र के समान हिंसादिक पांचों पापों के त्याग से वृती नहीं कहलायेगा। इसलिये यह निश्चित है कि सम्यक्त्व के विना वृतकी महिमा नहीं हो सकती। अतः उसमें (व्रतपालन में) ज्ञानका अभ्यास ही प्रधान है। वह तप दो प्रकार का है—एक वहिरंग और दूसरा अन्तरंग। जिसमें शरीर का दमन हो वह बाह्य तप है और जिसमें मन का दमन हो वह अन्तरंग तप है। इन दोनों प्रकार के तपों में अन्तरंग तप उत्कृष्ट है। अन्तरंग तप छह प्रकारका है। उसमें सिद्धान्त का स्वाध्याय करना मुख्य तप है। क्योंकि शास्त्र स्वाध्याय तपके विना कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये तप करने के निमित्त एक ज्ञानाभ्यास प्रधान है। पुनः अरहन्त भगवान की भक्ति करना वतलाया गया है, किन्तु उसमें भी जीवादि तत्त्वों के विषय को भली-भांति जाने बिना अरहन्त भक्ति भी नहीं हो सकती। जिससे गुणस्थान, मार्गणा तथा जीवसमास रूप जीवादि तत्त्व का विशेष रूप जानने से ही अर्हन्तादि स्वरूप की पहचान होती है। तथा अपनी शुद्धावस्था की भी पहचान होती है। ऐसी पहचान होने के अनन्तर अन्तरंग में अरहन्तादि के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और जब भक्ति होगी तभी जीव का कल्याण हो सकता है और इससे जीवको मोक्षफल की प्राप्ति होती है और जो अपने कुलक्रम से चली आई हुई अरहन्त भगवान् की भक्ति करते चले आये हैं वह भक्ति किंचित् पुण्यरूप फल संसारी जीवों को देती है। पर इसमें मोक्षफल की प्राप्ति नहीं है। इसलिये अरहन्तादि की भक्ति के विषय में भी ज्ञान का अभ्यास ही प्रधान है। पुनः जो चार प्रकार का दान देना कहा गया है उसमें आहारदान, ओषधिदान, तथा

अभयदान ये तीनों तो केवल इसी काल में क्षुधा दुःख को, रोग को अथवा मरण के भय को दूर करने के लिये कहे गये है, किन्तु चौथा जो ज्ञानदान है वह अनन्तभव सम्बन्धी दुःखों को दूर करने का कारण है। उसमें तीर्थंकर केवली भगवान् के तथा आचार्यों को ज्ञान दान देने की मुख्य प्रवृत्ति है। अतः ज्ञान देना सबसे मुख्य है। जहां अपने अन्दर ज्ञान का अभ्यास हो जाय तो अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है और अन्य जीवों को भी ज्ञान दे सकता है, किन्तु यदि स्वयमेव ज्ञान का अभ्यास न हो तो न वह अपना भला कर सकता है न और किसी अन्य जीवों का। इसी प्रकार ज्ञानाभ्यास के बिना ज्ञान भी कुछ कार्यकारी नहीं हो सकता।

भावार्थ—सम्यक्त्व सहित दान परम्परा मोक्षफल को प्राप्त कर देने वाला है, पर सम्यक्त्व के बिना दान के फलसे देवगति आदि संसार-भोगादि सुखों की प्राप्ति होती है, किन्तु वहां मोक्षसुख का साधन नहीं है। इसलिये दान के विषय में भी ज्ञानाभ्यास की प्रधानता है। पुनः विषय कषायादि का त्याग करने में और संसार से उदासीन न होने का जो उपदेश दिया गया है सो जन्म लेते ही यदि कोई पुरुष ठगोंके ग्राम में वास करता है तो वहां कोई तो उन ठगों को अपना मानकर उनसे किसी कारणवश अनुराग करता है और कोई तो उनसे लड़कर द्वेषभाव रखकर उदासीन रहता है और आहारादिक को त्याग देता है। किन्तु ये दोनों पुरुष उन ठगों के ग्राम से नहीं छूटते। और कोई ऐसा पुरुष है जिसे कि अपने कुल का ज्ञान हो जाता है और वह ठगों को पहचान जाता है तो उसने अन्तरंग भाव में उदास रहकर अपने से पर उन्हें पर मानता है और उससे अपना सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है। बाह्य रूप से तो उसे

जैसा निमित्त मिले उसी के अनुसार प्रवृत्ति करता है किन्तु अन्तरंग रूप से वह कोई कारण पाते ही वहाँ से छूटकर निकल जाता है। इसी प्रकार अनादिकाल से सभी संसारी जीव संसार के विषयों में प्रवृत्त हैं। कोई विरला ही पुरुष वहां से किसी प्रकार का अवसर देखकर निकल सकता है। इसी प्रकार अनादि काल से समस्त जीव संसार में प्राप्त हुए हैं, किन्तु जो-जीव मौका नहीं पाता वह उन ठग रूप कर्मों को अपना मानकर बैठ जाता है। परन्तु कोई जीव उसी कारण के वश होकर किसी शुभ कर्म में अनुराग करके बैठे हैं, और कोई अशुभ कर्मों में दुःख मानकर बैठे हैं तथा कोई अत्यन्त अशुभ कर्मों के कारण उदासीन होकर विषय-कषाय के त्यागी हो जाते हैं। जब तक यह जीव शुभ और अशुभ इन दोनों कर्मों से उदासीन होकर त्यागी नहीं होगा तब तक यह उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल जो जीव पुण्यफल के दाता हैं वे मोक्ष-फल की प्राप्ति नहीं कर सकते। परन्तु किसी पुरुष को किसी कारणवश यदि जीव और कर्म का यथार्थ ज्ञान हो गया तो वह पुरुष उस कर्म से उदासीन होकर अन्तरंग में स्व-पर का ज्ञान होने से इस कर्मों के बन्धन से मुक्त होने की कामना करने लगता है। इस जीव को जैसा बाह्य निमित्त मिल जाता है उसी प्रकार प्रवर्तन करने लगता है। इसी प्रकार जो जीव ज्ञानाभ्यास से केवल एक वीतराग-रूप परिणति करता है तो उसकी उदासीनता सफल होती है। और तभी उसे मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—अज्ञानी जीव कर्म को अपना मानकर शुभ क्रिया करता है और एक जीव अशुभ को दुःख का कारण मानकर सांसारिक विषय कषायों को त्याग देता है। इन दोनों प्रकार के जीवों में यद्यपि उदासी-

नता है, किन्तु ये दोनों ही संसारवृद्धि के कारण तथा मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये इन दोनों प्रकार शुभाशुभ कर्मों को हेय मानकर त्याग देना चाहिये। तत्पश्चात् तीसरी वीतरागरूप उदासीनता जो है वह मोक्ष के लिये कारण है और वह सम्यग्दृष्टि जीव को होती है। ऐसा जीव चाहे घर में रहे, चाहे वन में रहे, उसे संसारबन्ध का कारण नहीं है। इसलिये यह उदासीनता ग्रहण करने योग्य है अर्थात् यह उपादेय होने के कारण ग्रहण करने योग्य है। ऐसी एक वीतरागता रूप उदासीनता ही जीव के लिये कल्याणकारी है। किन्तु इसके अतिरिक्त जो भी उदासीनता है वह संसारवृद्धि के लिये कारण है। यदि ऐसी उदासीनता से कदाचित विरक्त भी हो जाय तो उससे कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान के विना विषय, कषाय, त्याग से जो उदासीनता होती है वह एक पुण्यफल को ही प्राप्त करनेवाली होती है, किन्तु इससे मोक्ष मार्ग की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती और उसको वीतराग सहित उदासीनता नहीं है। तथा उसमें कर्मोंके उदयसे विषय कषाय का त्याग भी नहीं हो सकता है। इसलिये एक उदासीनता के वास्ते केवल एक ज्ञानाभ्यास ही प्रधान कारण है और अन्य कार्य में भी वीतराग भावना की ही प्रधानता है। देखो, महामुनियों को भी ध्यान-अध्ययन रूप दो ही कारण मुख्य है। इससे पहले शास्त्र के अध्ययन से जीव कर्म के स्वरूप को जाने; तत्पश्चात् अपने निज स्वरूप का ध्यान करे जिससे कि समस्त कर्मों का नाश हो। इससे जीवादि तत्वों का स्वरूप जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जो केवल चरणानुयोग का पक्षपाती था उनका भ्रम दूर किया।

अब यहां पर कोई जीव केवल प्रथमानुयोग का पक्ष लेकर कहता है कि जीव की वुद्धि मन्द है, अतः केवल

प्रथमानुयोग शास्त्र का ही अध्ययन करना चाहिये, किन्तु यह बात युक्तियुक्त नहीं है। इसमें गुणस्थान मार्गणारूप जीवादि तत्त्वों के समझे विना ही केवल तीर्थंकरादि की कथा सुन कर उसी में अपनी उदासीनता तथा मोक्ष मार्ग की प्राप्ति समझता है। इसलिये जीवको प्रथमानुयोग के साथ-साथ तत्वों का श्रद्धान होना आवश्यक है। क्योंकि यदि उनको केवल प्रथमानुयोग कथा को ही सुना दिया जाय तो इससे पुनः संसार वृद्धिका कारण होगा। इसलिये प्रथमानुयोग के साथ-साथ पाप-पुण्य को छुड़ाने के लिये धर्मानुराग में उनको रत करके तत्त्व का श्रद्धान करावे तत्पश्चात् प्रथमानुयोग का उपदेश करना चाहिये अथवा तत्त्वदर्शन शास्त्र में तत्वार्थ की चर्चा को भी उन्हें सुनाना योग्य है। जो जीव केवल प्रथमानुयोग को ही मानकर यदि उदासीन होकर बैठ जाय पर तत्व श्रद्धान से रहित हो तो वह दीर्घ संसारी होगा। यहां पर पुनः प्रथमानुयोग का पक्षपाती कहता है कि—तत्व को समझना तथा उसका मनन करना मन्द-बुद्धियों के लिये अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वह उनकी समझ में नहीं आता है। अतः हमारी समझ में तो यही बात आती है कि केवल प्रथमानुयोग का ही विवेचन किया जाय जिससे कि सर्वसाधारण जीव समझकर अपना आत्म-कल्याण कर सकें।

समाधान—प्रथमानुयोग का अध्ययन करने में कोई हर्ज नहीं है, लेकिन इस कालमें सभी जीव एक समान नहीं हैं और न तो सबकी बुद्धि ही समान है। क्योंकि सभी की बुद्धि हीनाधिक रहती है, इसलिये जिस जीवको तत्वज्ञानके प्रति ज्ञान नहीं है तथा उनके लिये यह कठिन है; उनके लिये प्रथम अवस्थामें प्रथमानुयोग शास्त्रका उपदेश देने में कोई आपत्ति नहीं है, और जो मन्दबुद्धि हैं उनके भी प्रथमानुयोग के साथ-साथ यदि तत्त्वों का

अभ्यास कराया जाय तो वह भी धीरे-धीरे बुद्धिमान पण्डित बन सकता है। पर जो बुद्धिमान हैं और तत्त्वों के ग्रहण करने योग्य पात्र हैं उन्हें तत्व का उपदेश देना चाहिये, किन्तु जो मन्दबुद्धि हैं उन्हें इस ग्रन्थ को भली-भाँति समझने की चेष्टा करनी चाहिये। तब धीरे-धीरे चारों अनुयोगोंको समझ कर अपने शुद्धात्मा के रहस्य को समझ लेगा। परन्तु केवल मेरी बुद्धि से गुणस्थान चर्चा, मार्गणास्थान चर्चा तथा जीव-स्थानकी केवल चर्चा की जाय तो इससे विशेष कल्याण नहीं है। क्योंकि इससे केवल चर्चा चर्चा ही रहेगी जो कि पुनः संसार के लिये कारण ही होगा, आत्म-कल्याण का कारण नहीं। क्योंकि यह भी पाप-पुण्यरूप संसार कार्य में कारण है। केवल पंडिताई तथा किसी विशेष कला-कौशल में प्रवीणता मात्र प्राप्त कर लेने से आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। जब तक असली शुद्धात्म तत्वका ज्ञान न प्राप्त किया जाय तब तक संसार के समस्त ज्ञान केवल संसार को बढ़ाने वाले ही हैं। इसलिये जीवको कभी भी ऐसी भावना नहीं करनी चाहिये कि मेरी बुद्धि इतनी नहीं है, जिससे मैं अपना कल्याण कर सकता हूं, ऐसा बहाना करके अपनी शक्तिको छिपाकर प्रमाद करना योग्य नहीं है। क्योंकि जो ऐसी बुद्धि करता है उसकी यह अज्ञानता का लक्षण है; अतः अपनी बुद्धि के अनुसार समस्त जीवों को जीवतत्व का अभ्यास सदैव करते रहना चाहिये। इसके साथ-साथ द्रव्यानुयोग भी जीव के लिये कल्याणकारी है। इसलिये जो संसार से भयभीत होकर बन्ध से मुक्त होना चाहते हैं उन्हें क्रम से चारों अनुयोगों का अभ्यास करते रहना चाहिये।

प्रश्न—कोई द्रव्यलिंगी मुनि चारों अनुयोगों का खूब अभ्यास करता है और उसके अनुसार वह चारित्र भी पालता है; किन्तु तो भी उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

समाधान....जो द्रव्यलिंगी मुनि करणानुयोग से जीव और कर्म का स्वरूप भली-भांति जानता है और उसी तरह द्रव्यानुयोग के अनुसार अध्यात्म शास्त्र का भी खूब ज्ञाता होता है, किन्तु मिथ्यात्व के उदय से विपरीत श्रद्धान करता है इसलिये उनको संसारी कहा गया है। परन्तु यह कथन शास्त्र के विरुद्ध नहीं है और शास्त्र में अन्यथा नहीं है। इससे करणानुयोग शास्त्र और अध्यात्म शास्त्रमें भी रागादिक भाव कर्मके निमित्त से हुआ है। इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि द्रव्यलिंगी उस कर्म को अपना कर्त्ता मानकर बैठा हुआ है और उसी के अनुसार प्रवर्तन करता है। पुनः चरणानुयोग में मुनि और श्रावक के चारित्र का प्रतिपादन किया गया है। और वह क्रिया शरीराश्रित सर्व शुभाशुभ रूप पुद्गलमय कहा गया है उसमें द्रव्यलिंगी की क्रिया को अपना मानकर ग्रहण किया गया है। और पुनः शुभाशुभ क्रिया रूप भाव है। और चारों अनुयोगों में श्रावकबन्ध का कारण कहा गया है इसलिये उस द्रव्यलिंगी में शुभाशुभ संवर-निजरा को मोक्ष का कारण माना गया है। और जैन सिद्धान्तमें शुद्ध भाव ही संवर-निर्जरा के लिये मूल कारण माना गया है, किन्तु ऐसे शुद्ध भाव को द्रव्यलिंगी नहीं पहिचानते। इसमें शुद्धात्म स्वरूप से ही अनुभव होता है और उसी से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान द्रव्यलिंगी में नहीं है। इसलिये यह शास्त्र का दोष नहीं है। किन्तु यह अश्रद्धान का दोष है।

भावार्थ—द्रव्यलिंगी मुनि तथा श्रावक इन दोनों को भेद-विज्ञान का ज्ञान नहीं है इसलिये ये दोनों ही पर में अपना माने हैं दोनों की बुद्धि पर में ही लगी हुई है। वहाँ यद्यपि शास्त्र के अनुसार ही चारित्र का पालन करता है, परन्तु मिथ्यात्वके उदय के कारण उसे

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं है। अतः उनको अनन्त संसारी कहा गया है।

प्रश्न—तुमने जो चारों अनुयोगों में केवल एक अपने शुद्धात्मा के स्वरूप को जानने का उपाय बतलाया है परन्तु जैन सिद्धांत में केवल तुपभाष भिन्न इतने ही श्रद्धान करने से शिवभूति नामक मुनि मुक्त हुए हैं तो फिर शास्त्र का अभ्यास क्यों किया जाय, केवल एक आत्मा का ही अनुभव करके क्यों न मोक्ष को प्राप्त कर लिया जाय ?

समाधान—जैन-सिद्धान्त में केवल एक अपनी शुद्धात्मा को ही ग्रहण करने को जो कहा गया है, सो बात सत्य है। किन्तु जो ऐसा कहा कि शास्त्र का अभ्यास क्यों किया जाय, यह तुम्हारा कहना अयुक्त है। अपनी आत्मा का जो जानना है, वही पर के जानने से होता है, और पर का जानना अपनी आत्मा के जानने से होता है। इसलिये जो अपनी आत्मा को जानेगा, वही पर को जानेगा, और जो पर को जानेगा, वही पर से पृथक् अपनी आत्मा को जानेगा। इस प्रकार भेद-विज्ञान-रूप आत्मा का जो जानना है, सो शास्त्राभ्यास से ही होता है। इसलिये भेद-विज्ञान से ही आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, अथवा सामान्य रीति से तो वेदान्त आदि अन्य मत के शास्त्राभ्यास में भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहा है, और वहां विशेष जाने बिना जीव के यथार्थ-स्वरूप का निश्चय कैसे हो ? इसलिये गुणस्थान मार्ग-रूप जीव का शुद्ध (१) अशुद्ध (२) मिश्र (३) अवस्था को जानना और अशुद्ध अवस्था को त्याग कर शुद्ध अवस्था को ग्रहण करना तथा जीव और कर्म के विशेष स्वरूप को जानने से ही अपनी आत्मा का जानपना होता है। अतः शास्त्र का अभ्यास करना ही कार्यकारी है। किन्तु जो ऐसा कहा गया है कि शिवभूति नामक मुनि

ने अल्प ही अभ्यास से अपना कार्य सिद्ध कर लिया सो तो ऐसा समझना चाहिये कि कदाचित् कोई मनुष्यने कहीं अचानक गड़ा हुआ धन पा लिया तो हम भी पा जायंगे। पर ऐसा मान कर सभी व्यापार को त्याग करना तो उचित नहीं है। इसी प्रकार यदि किसी जीव ने थोड़े ही ज्ञान से अपना कार्य सिद्ध कर लिया तो उसी के समान हम भी करेंगे, ऐसी कल्पना करके अपने विशेष अभ्यास को त्याग करना योग्य नहीं है। इसलिये अनेक प्रकार के तत्वों के विशेष स्वरूप को जानने के लिये सबसे पहले तत्वार्थ शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि इसी से अपने शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है।

प्रश्न—जो शास्त्र का अभ्यास करने से ही जीव का कल्याण होता है, वह तो समझ गया; किन्तु बहुत से जीव शास्त्र का अभ्यास तो खूब कर लेते हैं, लेकिन विषयों का त्याग नहीं करते। तो उनके लिये शास्त्र का अभ्यास करना कार्यकारी नहीं हुआ, और बड़े-बड़े महन्त चक्रवर्ती आदि शास्त्र के अभ्यास के बिना ही विषय-कषायों का त्याग कर देते हैं, तो उनके यहां शास्त्र की महिमा कहां रही?

समाधान—शास्त्र का अभ्यास करनेवाले पुरुष दो प्रकारके होते हैं—एक लोभार्थी और दूसरा धर्मार्थी। जिनके अन्तरंग में धर्मानुराग नहीं है; पर लाभ, ख्याति पूजा, आदि अपनी मान बड़ाई के लिये जो शास्त्र का अभ्यास करते हैं; वे लोभार्थी कहलाते हैं; किन्तु ये विषय-कषाय के त्यागी नहीं हो सकते। अथवा जो अपनी मान बड़ाई होने के लिये द्रव्यादिक का त्याग भी करता है तो वह शास्त्राभ्यासी नहीं है, अर्थात् उसे लोभार्थी समझना चाहिये।

धर्मार्थी का स्वरूप—धर्मार्थी के अन्तरंग में अपनी आत्माके हित के लिये शास्त्राभ्यास की हार्दिक भावना रहती है, और सद्भावना के साथ ही वह शास्त्राभ्यास करता है, और विषय-कषाय-रूप त्याग भी वह करता है। इसलिये उनका ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है, किन्तु कदाचित् पूर्व-कर्म के उदय की प्रबलता से न्याय-रूप धन प्राप्त हो भी जाय तो वह उसका त्यागी नहीं हो सकता। परन्तु तो भी उनके अन्दर सम्यग्दर्शन होने से शास्त्र का अभ्यास कार्यकारी होता है। जैसे—चौथे असंयत गुणस्थान में विषय-कषाय के त्याग बिना ही मोक्षमार्ग भाव सम्भव है, उसी तरह धर्मार्थी जीव के विषय-कषायादि के त्याग बिना भी उनके शास्त्रा-भ्यास कार्यकारी होते हैं।

प्रश्न—जो धर्मार्थी है, जैन-शास्त्र का अभ्यास करता है, पर विषय-कषाय का त्यागी नहीं है तो उसके मोक्षमार्ग की सम्भावना नहीं है, क्योंकि जिसमें विषय-कषाय का सेवन है, वह उसमें परिणमन करता है और जो परिणाम है, वह अपने स्वाधीन है। इसलिये धर्मार्थी जीव को विषय-कषाय के सेवन से कैसे धर्म बनता है ?

समाधान—परिणाम दो प्रकार का है—एक बुद्धिपूर्वक और दूसरा अबुद्धिपूर्वक। जो अपने अभिप्राय के अनुसार परिणाम हो वह बुद्धिपूर्वक है, और जो दैव निमित्त से अपने अभिप्राय से अन्यथा परिणाम हो वह अबुद्धिपूर्वक है।

भावार्थ—जैसे—सामायिक करते समय धर्मात्मा श्रावकको अभिप्राय अपने परिणामों को शुभ रखना रहता है। ऐसा शुभदायक परिणाम बुद्धिपूर्वक है, और जो कर्म के उदय से स्वयमेव ही अशुभ परि-

णाम हो वह अवुद्धिपूर्वक है। उसी प्रकार जो धर्मात्मा जैन-शास्त्र का अभ्यास करता है, उसका अभिप्राय विषय-कपाय को त्याग करने का रहता है। क्योंकि उसकी भावना वीतराग भावना में है। अतः यह बुद्धिपूर्वक है, और जो चारित्र मोहनीय के उदय से सरागभाव होता है, वह अवुद्धिपूर्वक है। ऐसे दो प्रकार के परिणाम हैं। उसमें जो अपने अभिप्राय से सराग भावना है, और न्याय-रूप विषय-कपायों की प्रवृत्ति पाई जाती है, उसमें वाह्य प्रवृत्ति को कारणपना है। इसलिये शास्त्राभ्यास करनेवाले धर्मात्मा श्रावक के चारित्र मोहनीय के उदय के कारण विषय-कपाय का त्याग सम्भव नहीं है।

प्रश्न—वह ऐसा होता हुआ भी विपय कपय का सेवन करेगा क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्म के उदयाधीन वह कार्य है ?

उत्तर—मूर्ख को कुछ कहने पर भी वह नहीं मानता, वह अपना कार्य वुद्धिपूर्वक ही करता है और उसे कार्य की सिद्धि अपने अभिप्राय से होती है। इसी तरह जैनशास्त्र के अभ्यास से प्रथम तो अपने अभ्यास को सम्यक्त्व पूर्वक करना तत्पश्चात् जैसे कर्म का उदय होता है उसी के अनुसार वह प्रवर्तन करता है जिससे शास्त्र का अभ्यास करने से धर्मात्मा जीवों को विषय कषाय के सेवन का अभिप्राय नहीं रहता। इसलिये शास्त्र का अभ्यास करना ही कार्यकारी है। यहां मंगलाचरण करने का हेतु क्या ? गोम्मटसार में भी कहा है कि मंगल, आस्तिक्य, शिष्टाचार, उपकार का स्मरण ये चार प्रयोजन वतलाये गये हैं। वहां प्रथम शास्त्र की समाप्ति निर्विघ्नतापूर्वक हो, इस अभिप्राय से अपने इष्ट-देव को नमस्कार करना मंगल है।

प्रश्न—पंचपरमेष्ठीरूप इष्ट देव को नमस्कार करने से शास्त्र निर्विघ्नता से कैसे समाप्त होता है ?

उत्तर—जिनेश्वर देव को नमस्कार करने से अनेक विघ्नों के समूह नष्ट हो जाते हैं। साकिनी, डाकिनी, भूत, पिशाच तथा सर्पादिक का उपद्रव दूर हो जाता है और विष भी निर्विष हो जाते हैं। इसी प्रकार इष्टदेव के नमस्कार करने से शास्त्र की समाप्ति भी निर्विघ्नतापूर्वक होती है। अथवा जैसे प्रायश्चित्त का आचरण करने से व्रतादिक के दोष नष्ट हो जाते हैं तथा जैसे औषधि के सेवन से रोग नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार रूप मंगल करने से इष्ट वस्तु में विघ्न करनेवाला अन्तराय कर्म नाश हो जाता है। अतः इष्टदेव को नमस्कार करने से अपने इष्ट पद की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियों के नामरूप जो शब्द हैं वे पाप को नाश करनेवाले हैं। जसे किसी पुरुष को गाली रूप यदि कटु वचन कहिये तो वहाँ अशुभरूप वचन सुनने से क्रोध-रूप अग्नि इस प्रकार उत्पन्न होगी जिससे पुण्य का नाश होकर पाप का बंध हो जाता है। इसी प्रकार अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियों के नाम लेने से जीव के ऐसे शुभभाव उत्पन्न होते हैं जिससे कि पाप का नाश होकर पुण्य का बंध होता है। इसलिये इष्टदेव को नमस्कार करने से इष्ट वस्तु की प्राप्ति में विघ्न करने वाले अन्तराय कर्म विघ्न करने में समर्थ नहीं होते। ऐसा भगवान के परमागम में प्रसिद्ध है। इसलिये इस ग्रंथ के आदि में सबसे पहले अपने इष्टदेव को नमस्कार रूप मंगल करने का प्रयोजन दृढ़ किया गया।

प्रश्न—आस्तिक किसको कहते हैं ?

समाधान— आस्तिक नाम प्रयोजन को कहते हैं—वास्तव में

नास्तिकता का अभाव करके आस्तिकभाव को प्रगट करना दूसरा आस्तिक नामक गुण है।

प्रश्न—सर्व प्रकार से अपना हित करना यह तो ठीक है, किन्तु जो बहुत बकता है वह मनुष्य क्या करेगा ? अथवा जो कार्य सभी को प्रसन्न करनेवाला हो सो तो ठीक है, ऐसा न्याय करके तुम जिस कार्य को प्रारम्भ करते हो उसी का प्रारम्भ करना उचित है, पर नास्तिक का परिहार करना क्यों कहा ?

उत्तर—तुम्हारा यह कहना अयुक्त है। क्योंकि प्रशम १, संवेग २, अनुकम्पा ३, तथा आस्तिक्य ४, ये चार प्रकार के गुण सम्यग्दर्शन होने से प्रगट होते हैं। इसलिये नास्तिक का परिहार करके आस्तिक नामक गुण प्रकट किया गया है। और जो यह कहा कि सभी को प्रसन्न करना चाहिये। सो तो संसार में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो कि सभी जीवों को संतोष कर दे। यदि शीलव्रत में कुशील का निषेध करेंगे तो वेश्या ख ही मानेंगी, जब चोरी का निषेध करेंगे तो चोर दुःखी होंगे इसी प्रकार जब स्याद्वाद नय से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करेंगे तब झूठे एकांतमति दुःख ही मानेंगे। अथवा लोक में ऐसा वचन विख्यात है कि जो दिगम्बर महाव्रती योगीश्वर परम निर्मल हैं यानी इनमें किसी प्रकार का किंचिद् मात्र भी दोप नहीं है पर संसारी जीव इनमें भी कुछ न कुछ छिद्र अन्वेपण करते रहते हैं। इसलिये लौकिक आचार की ओर जरा भी ध्यान नहीं देना चाहिये और फिर जिनधर्म की रीति तो अलौकिक ही है। इसलिये नास्तिकता का अभाव कर आस्तिक नाम का भाव प्रगट करना योग्य है, ऐसा दूसरा प्रयोजन दृढ़ किया गया।

आगे तीसरे शिष्टाचार नामक प्रयोजन कहते हैं—भले शास्त्र

के अनुसार चारित्र को पालन करना तीसरा शिष्टाचार नामक गुण है।

प्रश्न—शिष्टाचार पालना शास्त्र की आदि में ग्रहण किया गया?

उत्तर—जो शिष्य हैं वे अपने गुरु के अनुसार ही चारित्र को धारण करते हैं। यदि वे अन्यथा आचरण करें तो उस मार्ग में प्रवर्तन करनेका दोष लगेगा; इसलिये शास्त्रकी आदि में शिष्टाचार के पालने का ग्रहण दृढ़ किया गया। यह तीसरा प्रयोजन है।

आगे चौथे उपकारी का स्मरण नामक प्रयोजन कहते हैं—जहाँ पर जिससे उपकार हो उसको आदि में रखना चौथा उपकारी का स्मरण नाम का गुण है।

प्रश्न—शास्त्र के आदि में उपकार का स्मरण किस लिये किया गया?

समाधान— जिससे अपनी कार्यसिद्धि हो उसको यदि याद रक्खें तो कार्य में कोई विघ्न नहीं होता।

भावार्थ—जहां पर श्रेय है, वहां कल्याणमार्ग भले प्रकार से सिद्ध होता है। इस हेतु से जो प्रधान मुनि हैं, उनको शास्त्र की आदि में उपकारी मान कर ग्रहण किया गया है। अथवा शास्त्र का ऐसा वचन है कि जीव के मनवांछित फल की सिद्धि का जो उपाय है, वह एक सम्यग्दर्शन ही है, और उस सम्यग्दर्शन का ज्ञान इस शास्त्र के स्वाध्याय से ही होता है। और उस शास्त्र की उत्पत्ति आप्त अर्थात् सर्वज्ञ से है। इस हेतु से ही वह आप्त सर्वज्ञदेव ज्ञानी जीव के लिये पूज्य हैं, और महान्-महान् पुरुष अथवा साधुजन भी उन्हीं का ही ध्यान करते हैं। इसलिये शास्त्र की आदि में उपकार के हेतु से ग्रहण करने का प्रयोजन है।

इस प्रकार चार प्रयोजन को दृढ़ किया गया। इसी प्रकार मंगल, आस्तिक्य, शिष्टाचार और उपकार इन चारों का स्मरण करने का प्रयोजन कहा गया है। इसमें जो मंगल है, वह प्रथम अपने इष्ट देवता को स्मरण करना है, जो आस्तिक्य है, उसमें नास्तिकता का परिहार करके आस्तिक्य प्रगट करना है। शिष्टाचार भले आचरणों का पालन करना तथा उपकारी का स्मरण करना इत्यादि मंगल के पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिये ग्रन्थ के आदि में आचार्य ने मंगल, आस्तिक्य, शिष्टाचार और उपकार इन चारों का प्रयोजन कहा है। ग्रन्थकार जो आचार्य हैं; वह मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्ता इन छहों को पहले नमस्कार करते हैं; तत्पश्चात् शास्त्र का प्रवचन करते हैं। यह परिपाटी अनादिकाल से परम्पराचार्यों के अनुसार चली आई है। अतः इसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो इसका उल्लंघन करता है, वह भगवान् की आज्ञा को नहीं मानता। यानी इससे भगवान् की आज्ञा का लोप होता है, और उन्मार्ग का प्रसंग आयेगा। अतः इन छहों का पालन किसलिये किया गया, ऐसा विचार करना चाहिये। वहां पर प्रथम पुण्यपूत (१), पवित्र (२), प्रशस्त (३), शिव (४), भद्र (५), शुभ (६), क्षेम (७), कल्याण (८), सुख (९) इत्यादि अनेक भेद-रूप मंगल की पर्याय है, तथा मंगल ही के पुण्यादिक भी नाम हैं। इसलिये पुण्य भी *मंगल ही का नाम जानना।*

आगे मंगल शब्द का अर्थ कहते हैं :—

मल दो प्रकार के होते हैं—एक द्रव्यमल और दूसरा भावमल। पहले के द्रव्यमल में भी दो भेद हैं। एक बहिरंग द्रव्यमल और दूसरा अन्तरंग द्रव्यमल। शरीर के बाहर पसीना तथा धूल इत्यादि बाह्य द्रव्यमल है;

और प्रकृति, स्थिति, अनुभाव तथा प्रदेश ये चार भेद आत्मा के प्रदेश सम्बन्धी ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के जो बन्ध हैं, वे अन्तरंग द्रव्यमल हैं। इस प्रकार पहले के दो द्रव्यमल हैं।

भावमल—क्रोधादि अज्ञान-रूप जीव का जो परिणाम होता है, वह भावमल है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ऐसे उसके भी चार भेद हैं। अथवा उपचारसे जीवके जो पाप-कर्म है, वह भी मल है। ऐसे उन समस्त पाप-रूप मलों को 'गालयति' अर्थात् सभी मलोंको जो गालन करे वह मंगल है। अथवा जो सुख तथा पुण्य को उत्पन्न करे वह मंगल है।

भावार्थ—मल का अर्थ है, पाप जो उसको गाले सो मंगल है। अथवा जो पुण्य या सुख की प्राप्ति करे वह मंगल है। इस प्रकार मंगल शब्द की निरुक्ति है। उसमें मंगल के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भाव ये छः भेद हैं। इसमें प्रथम मङ्गल का नाम अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु; इन पञ्चपरमेष्ठियों का जो नाम है, वह नाम मङ्गल है। स्थापना-मङ्गल कृत्रिम अथवा अकृत्रिम-रूप भगवान् के प्रतिविम्ब की स्थापना करना, स्थापना मंगल है। द्रव्यमंगल—एक सिद्ध भगवान् को छोड़कर अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्वसाधु इन चार परमेष्ठियों के विद्यमान शरीर-रूप को द्रव्यमंगल कहते हैं। क्षेत्रमंगल—गिरनार, शिखर जी आदि क्षेत्र में जहां अरहन्तादि को केवलज्ञान आदि प्राप्त हुआ है, वह चौथा क्षेत्रमंगल है। कालमंगल—जहां दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी ये प्रति मास में चार पर्व आते हैं। और भाद्रपद, माघ तथा चैत ये एक वर्ष में तीन दशलक्षण आते हैं। इसी प्रकार एक वर्षमें तीन अठाई यानी आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन के महीने में अष्टाह्निका पर्व आता है। अथवा जिस कालमें तीर्थंकरादिके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पञ्चकल्याणरूप जो

पर्व हैं, वह पाँचवा मंगल है। मंगल-रूप पर्यायसे युक्त जीव द्रव्यकी पर्यायका होना छठवां भावमङ्गल है। ये जो छः मंगल शास्त्र की आदिमें किये जाते हैं, उससे शिष्य अल्पकालमें ही सकल शास्त्रों का पारगामी होता है। और जो मंगल मध्य में किया जाता है, उसका भाव यह रहता है कि जिससे विद्या का उच्छेद न हो। और अन्त में किये जानेवाले मंगल का अभिप्राय विद्या को निर्विघ्न-रूप से पूर्ण करना होता है। अतः शास्त्र की आदि, मध्य तथा अन्त में तीनों मंगलों को अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ—इस प्रकार मंगल करने से शास्त्र की या विद्या की प्राप्ति निर्विघ्न रूपसे होती है। ऐसे छः प्रकार के भेद प्रथम मंगल के जानना।

अव आगे दूसरे निमित्त को कहते हैं:—निमित्त का अर्थ कारण है, वह कारण शास्त्र का है। जो भव्य जीव है वे नय प्रमाण से निर्णय करके अनेक प्रकार अनेक भेदको लेकर भली-भाँति पदार्थके स्वरूपको जानें। इसलिये भव्य जीवों के उपकार होने के लिये अर्थशास्त्र की रचना की गई है। इस प्रकार शास्त्र की आदि में दूसरे कारणस्वरूप समझना चाहिये।

आगे तीसरे हेतु को कहते हैं—हेतु का अर्थ फल की प्राप्ति जिस शास्त्र से हो ऐसे शास्त्र का अध्ययन करना है। यह दो प्रकार का है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष हेतु के दो भेद हैं—पहला साक्षात् प्रत्यक्ष और दूसरा परम्परा प्रत्यक्ष। इसमें जो साक्षात् प्रत्यक्ष है वह अज्ञान का विनाश करनेवाला और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति तथा समय-समयमें असंख्यात गुण श्रेणीरूप कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है। जिससे शास्त्र का अभ्यास करते ही प्रत्यक्षमें उत्तम फल उत्पन्न होता है। अतः यह पहला साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है और यह परम्परा प्रत्यक्ष शिष्य तथा प्रतिशिष्यको निरंतर पूज्य बनानेवाला है तथा जो परम्परा प्रत्यक्ष हेतु है उससे शास्त्रका अभ्यास

करने से फलकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह परम्परा प्रत्यक्ष हेतु कहलाता है। इसमें भी दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु। उसमें भी दो भेद हैं—एक अभ्युदय रूप और दूसरा निःश्रेयसरूप। इसमें जो अभ्युदय है वह साता वेदनीय आदि प्रशस्त कर्म प्रकृति के तीव्र अनुभाग के उदयसे जो उत्पन्न होता है वह तीर्थङ्कर प्रकृति के नामकर्म का उदय है और वह अभ्युदय चक्रवर्तीपना, राज्यप्राप्ति तथा इन्द्रपना आदि सुखको प्राप्ति कर देने वाला मोक्ष का हेतु है। उससे शास्त्र अभ्यास के वाद में जो परोक्ष फलकी प्राप्ति होती है उसको अभ्युदय रूप परोक्ष कहते हैं।

निःश्रेयस:—जो पंचेन्द्रिय से अतीत सम्यक्त्वादि आठ गुणमय अविनाशी-रूप प्रसिद्ध सुख की प्राप्ति करा देनेवाला है दूसरा वह निःश्रेय-रूप परोक्ष हेतु है।

यह ग्रन्थ के अध्ययन के पश्चात् फल की प्राप्ति करा देनेवाला है। इसलिये यह निःश्रेयरूप परोक्ष हेतु है। इस प्रकार परोक्ष नामक दूसरे हेतु को कहा। इसलिये शास्त्र अभ्यास करने में परोक्ष है। ये दोनों मिलकर फल को प्राप्त करा देनेवाले हैं।

अब आगे चौथे प्रमाण को कहते हैं:—

जिससे वस्तु की प्रमाणता की जाती है सो प्रमाण है। अथवा जिससे वस्तु के विषय में प्रामाणिकपना हो वह प्रमाण है। इस प्रकार का जो प्रमाण है वही अनेक प्रकारके अर्थों से अनन्त है। ऐसे शास्त्र की आदि में चौथे प्रमाण को जानना।

अब पांचवां नाम कहते हैं:—

जिस नाम से जो वस्तु प्रगट हो उसे नाम कहते हैं। यहां इस शास्त्र का नाम तत्वदर्शन अर्थात् तत्वार्थ सूत्र है। तत्व से यह शास्त्र परिपूर्ण

होने के कारण इसका नाम तत्वार्थसूत्र रक्खा गया अथवा समस्त तत्वों का सार इसमें भरा हुआ है, इससे इसका नाम तत्वार्थसूत्र रक्खा गया है।

छठवां कर्ता को कहते हैं :—

कर्ताका अर्थ वस्तुकी क्रिया को रचनेवालेको कर्ता कहते हैं। इस शास्त्र के कर्ता तीन प्रकार के हैं—एक अर्थकर्ता, दूसरे ग्रन्थकर्ता और तीसरे उत्तर ग्रन्थकर्ता। ये कर्ता के तीन भेद हैं। इसमें जो प्रथम कर्ता है उसका भाव यह है कि जिन्होंने कर्ममल को दग्ध कर दिया है अर्थात् मोहनीय कर्म को नष्ट करनेवाले हैं। कहा भी गया है कि :—

अरिहननं रजोहननरहस्य हरं पूजनार्हमर्हतं।
सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवसाधून्।

अर्थात—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय ऐसे चार प्रकार के घातिया कर्मको दग्ध करने से उत्पन्न हुआ जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये चार चतुष्टय हैं इनसे तीन काल सम्बन्धी समस्त द्रव्योंके गुण पर्याय के भली-भाँति यथार्थ स्वरूप को जानकर और नष्ट भए हैं क्षुधादि अठारह दोष जिसके वहां से प्राप्त किया है सयोग-केवली नामक तेरहवां गुणस्थान ऐसा मालूम किया। पुनः शत इन्द्र अर्थात सौ उसमें व्यंतर देवों के बत्तीस ३२ इन्द्र, भवनवासी देवों के चालिस (४०) ज्योतिषियों के एक सूर्य और दूसरे चन्द्रमा ये दो इन्द्र, और कल्पवासी देवों के चौबीस (२४) इन्द्र, मनुष्यों का एक चक्रवर्ती नामक इन्द्र, और तिर्यञ्चों का एक सिंह नामक इन्द्र। इन १०० इन्द्रों से पूज्य हैं चरणकमल जिसके और चौंतीस(३४)अतिशय, आठ प्रातिहार्य, और चार अनन्त चतुष्टय ऐसे ४६ गुण सहित, बारह सभा सहित विराजमान पुनः १८ महाभाषा और ७००

क्षुल्लक अर्थात् छोटी भाषा जिनकी वाणी से दांत, ओठ, कण्ठ, तालु आदि से रहित अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा भव्यजीवों को आनन्द करनेवाले युगपत् अर्थात् एक साथ समस्त जीवों के उत्तर का प्रतिपादन करनेवाले ऐसे लोकके नाथ जो भगवान् महावीर तीर्थङ्कर हैं वे मूलग्रन्थ कर्ता हैं। उत्तर ग्रन्थकर्ता जो हैं वे समस्त ऋद्धि-सिद्धि से सहित गौतम नामक जो गणधर हैं वे इस ग्रन्थ के अर्थकर्ता हैं। इसलिये गणधर देव को उत्तर ग्रन्थकर्ता मानो गया है। अर्थात् शास्त्र को रचना करने के कारण गौतमजी को उत्तर ग्रन्थकर्ता कहते हैं। ग्रन्थकर्ता के अन्दर किसी भी प्रकार का नाम-मात्र राग-द्वेष नहीं है अतः सूत्र का अर्थ जैसे का तैसा किया गया है। तदनुसार दिगम्बर जैनाचार्य ने भी इस ग्रन्थ का जैसा परम्परा से यथार्थ अर्थ चला आया है उसी के अनुसार करते आये हैं; इसलिये वे भी मूलग्रन्थकर्ता हैं।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थ—मोक्षमार्गस्य नेतारं—मोक्षमार्ग के नेता, भेत्तारं कर्मभूभृतां—कर्मरूपी पर्वत को भेदनेवाले, विश्वतत्वानां ज्ञातारं—तथा अखिल विश्व के समस्त तत्त्वों के जाननेवाले ऐसे जो भगवान् हैं उनके गुणों की प्राप्ति होने के लिये मैं उनको नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यहां सर्वज्ञ वीतराग परमहितोपदेशक इन तीन विशेषणों से सहित स्तुति रूप मंगलाचरण किया गया है।

भगवान् मोक्षमार्ग के नेता हैं, क्योंकि वे मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले हैं। ऐसा कहने से मोक्ष मार्ग प्रवर्तक आप्त की परम हितोपदेशक परिपाटी सिद्ध होती है। क्योंकि उसमें भगवान् के उपदेश से ही संसारी

जीवों का उपकार होता है। उसमें मोक्षमार्ग का उपदेशक होने से भगवान को ही सम्बोधन किया गया है। पुनः भेत्तारं कहने से भगवान् कर्म रूपी पर्वतों को भेदनेवाले होते हैं, और आप्त को वीतरागता भी प्रकट होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ऐसे चार घातिया कर्मों को नाश करके मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं। पुनः कर्मरूपी पर्वत को भेदनेवाला होने से भगवान् में पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां-ऐसा कहने से संसार के समस्त तत्त्वों को जाननेवाले कहलाते हैं एवं आप्त का स्वपना प्रकट होता है। इससे संसार के समस्त पदार्थ को एक साथ जानने से भगवान् को सर्वज्ञ पद का विशेषण प्रकट होता है। अतः भगवान् को सर्वज्ञ, वीतरागी, परमहितोपदेशक इन तीनों विशेषणों से युक्त आप्त कहा गया है। अतः इन तीनों विशेषणों से युक्त भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं और इन्हीं के उपदेश से मोक्षमार्ग का ठीक पता चलता है।

इसका उपदेशक सर्वज्ञ चार घातिया कर्मों से रहित वीतराग भगवान् हैं। जबतक इन कर्मों का नाश नहीं होता है तबतक कोई दूसरा मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। इन चारों घातिया कर्मों के नाश होने के बाद ही भगवान् पद प्राप्त होता है। इसलिये मोक्षमार्ग का यथार्थ उपदेश भगवान् के द्वारा होने से मोक्षमार्ग सप्रमाण सिद्ध है। इसमें सर्वज्ञ वीतराग परमोपदेशक हैं। इसलिये इन तीन विशेषणों से युक्त भगवान आप्त को नमस्कार किया गया है। ऐसे ही आप्त भगवान् (वीतराग भगवान्) शास्त्रकी उत्पत्ति तथा अपने समान अन्य जीवों को सर्वज्ञ वीतराग रूप बनाने के लिये शास्त्रकार ने शास्त्र के आदि में नमस्कार किया है। इस श्लोक में इस प्रकार आप्त को नमस्कार करने से मोक्ष मार्ग प्रगट होता है और

अन्यवादी का भी निराकरण होता है। इसलिये सबसे पहले मोक्षमार्गस्य नेतारं इस प्रकार वचन कहने से नास्तिक का निराकरण होता है परन्तु बहुत से नास्तिक आस्तिक को नहीं मानते हैं; नास्तिक रूपको ही मानते हैं। इसलिये वे परलोक, जीव तथा मोक्ष का भी अभाव मानते हैं। तथा जो वैशेषिक हैं वे वस्तु को सदा शून्य मानते हैं। इसलिये उन दोनों का निराकरण करने के लिये मोक्षमार्गस्य नेतारं, यह शब्द कहा है। अथवा मोक्षमार्ग को कहने से मोक्षमार्ग के लिये बौद्धमतवाले सदा क्षणिक ही मानते हैं। इस कारण उनका भी निराकरण हुआ और भेत्तारं कर्मभूभृतां, ऐसा कहने से सांख्य तथा नैयायिक इन दोनों का ईश्वर के प्रति सदा मुक्त भाव मानते हैं। तथा कर्म नाश से मोक्ष को नहीं मानते। इस कारण इनका निराकरण ऊपर के श्लोक द्वारा होता है। अथवा कर्मरूप पर्वत को भेदने वाला कहने से जो अद्वैत वेदान्त का सर्वथा एकान्त पक्ष से समस्त जगत् को ब्रह्म रूप मानते हैं तथा समस्त जीव अजीव पदार्थ का अभाव बतलाते हैं। इसलिये उनका भी निराकरण यहां पर होता है। इसमें जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं वह पुद्गलमय अजीव रूप जड़ हैं। उनका नाश करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये मोक्षमार्गस्य नेतारं—कर्मभूभृतां, इस सूत्र के कहने से अन्य समस्त मतों का निराकरण हुआ। अथवा ज्ञातारं विश्वतत्वानां, इस प्रकार कहने से नास्तिक का अभाव हुआ। क्योंकि नास्तिकवादी समस्त पदार्थों को अभाव ही मानते हैं। पुनः यहाँ 'तद्गुणलब्धये' इस प्रकार के शब्द कहने से नैयायिक, वैशेषिक और सांख्य मतवाले मुक्त जीव से परमात्मा को भिन्न मानते हैं और वे संसारी जीव को परमात्मपद की प्राप्ति नहीं मानते। इसलिये इस शब्द से उनका निराकरण हो जाता है तथा अद्वैतवाले सर्व जगत् को समस्त जीवों को

एक ही रूप मानते हैं, इस कारण यहाँ पर तद्गुण शब्द रखा हुआ है। पुनः 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां' ऐसा कहने से जो बौद्धमतवाले आत्मा को ज्ञान रहित मानते हैं उनका भी निराकरण होता है। इस प्रकार और भी अन्यवादी का निराकरण होता है। इसमें सर्वज्ञ वीतराग परमोपदेशक ये तीन विशेषण सहित ही इष्ट रूप भगवान् आप्त को ही नमस्कार किया गया है। इसलिये उस भगवान् का कहा हुआ मोक्षमार्ग रूप आगम ही प्रमाण है। अतः अल्पज्ञानी रागद्वेष से युक्त देवों के द्वारा कहा गया आगम प्रमाण नहीं है।

प्रश्न—सर्वज्ञ वीतरागके अतिरिक्त कहे गये आगम प्रमाणिक क्यों नहीं है?

उत्तर—जो सर्वज्ञ नहीं है वह सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थ को कैसे जान सकता है? क्योंकि यहां सूक्ष्म पदार्थ तो जीव के परिणाम तथा अविभाग प्रतिच्छेदरूप पुद्गल के परमाणु आदि रूप ही हैं; अन्तरित वे हैं जो पहले अतीतकाल में हो चुके हैं और अनागत काल में जो होंगे; तथा दूरवर्ती वे हैं जो कि मेरुपर्वत गिरि, नदी, कुलाचल पर्वत, असंख्यात द्वीप, समुद्र, नरक-स्वर्ग आदि दूर स्थान हैं। इस प्रकार के सूक्ष्म, अन्तरित दूरवर्ती, पदार्थ जो हैं उनको सर्वज्ञ वीतरागी के बिना अन्य कोई नहीं जान सकता। जो सर्वज्ञ होंगे वे तीन लोक के समस्त पदार्थों को जानकर उनका उपदेश देंगे। किन्तु जो सर्वज्ञ नहीं हैं वे अपने अल्पज्ञान के द्वारा समस्त तीन लोक की रचना को यथार्थ रूप से नहीं कह सकते। इस कारण सबसे पहले सर्वज्ञ होना ही चाहिये। तथा वीतरागी बननेके लिये रागद्वेष का पूर्ण रूपसे नाश होना ही चाहिये। ऐसा वीतरागी भगवान् ही यथार्थ स्वरूप को कह सकता है, किन्तु जो वीतरागी

नहीं है वह कषाय के वशीभूत होकर अन्यथा भी कह सकता है। इसलिये वीतरागी होना आवश्यक है। इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग भगवान् के द्वारा कहे गये आगम को ही प्रमाण माना गया है और जो सर्वज्ञवीतरागी के विना अल्पज्ञानी का कहा हुआ आगम है उसमें वस्तु स्वरूप का अन्यथा कथन किया गया है। इस कारण वह आगम प्रामाणिक नहीं है। इसलिये सर्वज्ञ वीतरागी एवं परमोपदेशक होना भी अत्यावश्यक है। ये तीन गुण जिसमें पाये जाते हैं, वही आप्त भगवान् हैं, और उन्हीं का वचन प्रमाण सहित है एवं वे ही सत्य वक्ता हैं, वे ही वस्तु के स्वरूप को यथार्थ कहनेवाले हैं। यदि कोई सर्वज्ञ अथवा वीतरागी हैं, किन्तु हितोपदेशक नहीं हैं तो वे आप्त नहीं कहे जा सकेंगे। और यथार्थ उपदेश के विना मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति नहीं बन सकती। क्योंकि साक्षात् उपदेशक के वचनों से ही उपकार होता है। इसलिये भगवान् केवली तेरहवाँ गुणस्थान है। तेरहवें गुणस्थान में भगवान् केवली इन तीनों विशेषणों से युक्त होते हैं, जो वे ही आप्त कहलाते हैं। अरहन्त भगवान् के विना अन्य छद्मस्थ ज्ञानी एकांन्तवादी अपनी इच्छा से अनेक प्रकार की मिथ्या कथनकार करके वस्तु का निरूपण करते हैं। उसमें किसी ने जीव तत्व का अभाव माना है, तथा कोई जीव को कर्म की उपाधि से रहित सर्वथा शुद्ध मानते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के अपने-अपने अभिप्रायों से वस्तु को अंनन्त धर्मात्मक मानते ही नहीं। यदि किसी वस्तु के स्वरूप को अनन्त धर्मात्मक-रूप न मानेगा, सर्वथा शुद्ध ही मानेगा तो उसको किसी प्रकार के सुख दुःख की कल्पना ही नहीं होगी। परन्तु इस प्रकार तो देखने में आता ही नहीं। प्रायः अधिकतर यही देखने में आता है कि मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, क्रियावान हूं, इत्यादि

विकल्प अचित् शरीर को नहीं होता। क्योंकि यहां बुद्धिपूर्वक क्रिया देखने में आती है। समस्त आत्माओं तथा पाँचों इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे भी आत्मा को ही अपना सम्बन्धी मानते हैं। वे आत्मा के बिना पृथक्-पृथक् और वस्तु नहीं ग्रहण कर सकते। तथा पंचेन्द्रियों के विषयों को भी आत्मा ही जानता है। इस कारण इस आत्मा का सद्भाव भी प्रकट-रूपसे दीखता है। यह बात सभी बाल गोपाल के प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। पुनः कोई जीव तो अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु वे ज्ञान एवं आत्मा के अस्तित्व को सर्वथा जुदा मानते हैं। किन्तु यदि ऐसा माना जायगा तो आत्मा के बिना ज्ञान का अस्तित्व कैसे बनेगा? उसमें जीव और ज्ञान का गुण-गुणी भाव से भिन्नपन है, परन्तु उनमें द्रव्यपना एक है। इसलिये ज्ञान एवं आत्मा में भेद नहीं है। जैसे अग्नि तथा उष्णता अभेद-रूप है, उसमें प्रदेश भेद नहीं है, वैसे ही ज्ञान आत्मा को एक रूप समझना चाहिये। जो गुण-गुणी सर्वथा प्रदेश से पृथक्-पृथक् हो जावे तो वहां उन दोनों का अभाव हो जायगा। इसलिये यह गुण भी न बनेगा और गुणी भी न बनेगा। पुनः कोई गुण-गुणीको एक तो मानते हैं, किन्तु समस्त जीवको कर्मकी उपाधिसे रहित मानते हैं, किन्तु उनकी यह मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि इस संसार में कोई दरिद्र, कोई धनवान्, कोई रोगी, कोई निरोगी, कोई राजा, कोई रङ्क, कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई कुरूप, कोई सुरूप, कोई मूर्ख, कोई बुद्धिमान्, कोई ऊँच, कोई नीच, कोई पण्डित इत्यादि नाना प्रकार की संसार की रचना देखने में आती है। इसी तरह समस्त संसारी जीवों के पुण्य-पाप का फल प्रत्यक्ष देखने में आता है। और इसके अतिरिक्त यदि संसारी जीव को सर्वथा शुद्ध ही माना जाय तो दीक्षा, शिक्षा, व्रत, जप, तप इत्यादि समस्त जितनी भी शुभ क्रियायें की जाती

हैं, वे सभी निष्फल हो जायंगी। परन्तु इस तरह यह बात उपादि जीवों के लिये सर्वथा योग्य नहीं है। और भी कोई अन्यवादी अपनी इच्छा से एकान्त नय का आश्रय लेकर वस्तु के स्वरूप को अन्य मानते हैं, किन्तु सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा प्रतिपादित आगम प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। इसी प्रकार और भी अन्यवादियों ने मोक्षमार्ग के स्वरूप को अन्यथा कहा है, सो इस प्रकार है :—

सांख्यमतानुयायी कहते हैं कि—पुरुष का स्वरूप चैतन्य है। वह ज्ञेय-ज्ञेयाकार के स्वरूप को जानने में पराङ्मुख है। और इस प्रकार कहने से मोक्षमार्ग का अनुचित-रूप होता है। इन्होंने जो निराकरण किया है, वह गधे की सींग के समान झूठी कल्पनामात्र है।

वैशेषिक मतवाले कहते हैं कि—आत्मा के अन्दर बुद्धि, इच्छा, राग, द्वेष, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख तथा संस्कार ये नौ गुण जो हैं, उनके सर्वथा नाश होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। पर यह कल्पना बिलकुल असत्य है। यदि सर्वथा शून्य-रूप हो जाय तो फिर कोई वस्तु ही नहीं रहेगी, तथा किसी कार्य की सिद्धि भी नहीं होगी। अतः इनका भी कहना केवल भ्रम-रूप ही है।

पुनः बौद्ध मतवाले कहते हैं कि—दीपक के बुझ जाने से जिस प्रकार प्रकाश नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के भी ज्ञान स्वरूप प्रकाश आदि का ह्रास हो जाता है, तब उसी को निर्वाण कहते हैं; उनका कहना भी ठीक नहीं है।

अद्वैतवादी कहते हैं कि—जिस प्रकार घट के फूट जाने से वहाँ घटाकाश प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार जीवके शरीर का अभाव हो जाने पर भी प्राणी परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। अर्थात् उसमें मिल जाते हैं, और

वहां पर अनन्त सुख है। इसलिये उसी सुख को ग्रहण करना योग्य है। जो इन्द्रिय गोचर नहीं है, ऐसा अनुपम सुख मोक्षमें प्राप्त होता है। इस प्रकार इनका भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि संसार में जीव अपने-अपने स्वरूप में स्थित देखे जाते हैं। इसलिये वे जीव परब्रह्म में लीन नहीं हैं। भूतवादी—कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचभूतोंके संयोग से जीव में चेतना शक्ति प्रकट होती है। जिस प्रकार गुड़, बेर, महुआका फूल, इत्यादि के संयोग से मद्य तैयार हो जाता, उसी प्रकार पृथ्वी आदि पांच तत्वों के संयोग से चेतना की उत्पत्ति होती है। जब शरीर का नाश हो जाता है तब चेतना का भी नाश हो जाता है। अर्थात् जल के बुद-बुदे के समान उसका भी नाश हो जाता है। अर्थात् शरीर से भिन्न आत्मा कोई वस्तु नहीं है। इसलिये शरीर नष्ट होने के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है। जिस प्रकार आकाश का पुष्प देखने में नहीं आता, उसी प्रकार शरीर नष्ट हो जाने के बाद जीव भी देखने में नहीं आता। अतः शरीर से पृथक् कोई जीव है ही नहीं। क्योंकि यह केवल कथन-मात्र ही है। जीव मरकर पुनः जन्म नहीं लेता और शरीर को छोड़कर कोई आत्मा नहीं है। इस प्रकार नास्तिकवादियोंका कथन है। जो भूतवादी पंचभूतों के संयोग से जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, वह सर्वथा गलत है, क्योंकि इन पंचभूतों से आत्मा पृथक् है। एवं शरीर जड़ तथा आत्मा चेतन है। उन दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि जो पुद्गल है वह पूरण-गलन स्वभाव आदि से सहित है तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला है और जीव चेतन लक्षण सहित ज्ञान, दर्शन स्वरूप है। अतः शरीर और जीव एक समान नहीं है। जो जीव तथा जीव का लक्षण चेतना रूप गुण है वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पांच मूल भूतों से नहीं

उत्पन्न हुआ है। उसमें जीव तो अमूर्तिक चेतनामय है। और पृथ्वी आदि जड़-रूप अचेतन है। तो फिर उससे चेतनकी उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? क्योंकि पृथ्वी आदि जड़रूप अचेतन हैं और मूर्तिक वस्तुसे अमूर्तिक वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। और जो चेतन है वह जड़को प्राप्त नहीं होता। अतः जड़ और चेतनका एकपना नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। किन्तु फिर भी तुमने जीव और अजीव की उत्पत्ति के विषयमें जो मदिरा का दृष्टान्त दिया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें गुड़ और बेर की जड़ आदि मिलाने से मद की शक्ति प्रकट होती है और वे दोनों ही जड़ हैं। तो जड़ से चेतन की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? इसी प्रकार पाँचों भूतों के संयोग से यदि चेतना की उत्पत्ति मानी जाय तो वहाँ अन्न के पकाने के लिये चूल्हे पर चढ़ाई गई हंडी है तथा कोई बासन है। उसमें मिट्टी और पृथ्वी आदि दोनों हैं। और हंडी में जल तथा नीचे अग्नि भी है। और इसी प्रकार हंडी में आकाश भी है यानी उस हंडी में पांचों भूत एकत्रित होने पर भी उसमें से जीव की उत्पत्ति कभी देखने में नहीं आती। इससे ही सिद्ध हुआ कि शरीर से जीव भिन्न है और आत्मा ज्ञान-दर्शन से युक्त है। किन्तु इन दोनोंका अनादि कालसे संयोग सम्बन्ध होता चला आता है। इसलिये निश्चयनय की अपेक्षा से जीव को अमूर्तिक भी कहा है और व्यवहार नयकी अपेक्षा से जीव को मूर्तिक भी कहा है। जैसा कि द्रव्य-संग्रह में भी कहा गया है:—

वण्णरसपंचगंधादोफासाअट्ठणिच्चयाजीवे।
णो सन्ति अमुत्तितदो ववहारा मुत्ति वन्धादो॥

अर्थात्—पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श ये पुद्गलके बीस गुण निश्चय-नयकी अपेक्षा से जीव में नहीं हैं। इसलिये जीव स्वभाव से

अमूर्तिक है। किन्तु व्यवहार नयकी दृष्टि से पुद्गल कर्मके साथ बंधा रहने के कारण मूर्तिक है। इसलिये जीव का इस अशुद्ध परिणाम से संयोग होता है। जिस कर्म के संयोग से जीव के रागादिक भाव हो रहे हैं उस भाव का कर्ता आत्मा है। और जिस प्रकार वह कर्म कर्ता है आगामी काल में उसी तरह उसका प्रतिफल भोगता है। इससे यह जीव अपने अज्ञान-भाव से संसार में ही परिभ्रमण करता है। पर जब यह आत्मा ज्ञाना-भाव का कर्ता होता है तब पुद्गल आदि पर पदार्थोंसे भिन्न होकर सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। इसलिये जो नास्तिकवादी जीव तथा मोक्ष इन दोनों का अभाव मानते हैं, यह बात ठीक नहीं है और नैयायिक मत वाले कर्मको नाश करके जीवको मुक्ति होना नहीं मानते। वे गुण-गुणी को सर्वथा भिन्न मानते हैं। इसी तरह से और भी एकान्त मतवाले अपने मनःकल्पित बुद्धि के द्वारा अनेक प्रकार की कल्पना करके आत्मा कर्म की निर्जरा करके मोक्ष में जाता है, इस बात को वे मानते ही नहीं हैं तथा मोक्ष की प्राप्ति के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पनायें करते हैं।

नास्तिक मतवाले इस प्रकार कहते हैं कि पांचों तत्व मिल करके चेतना की उत्पत्ति होती है और गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त उस शरीर में चेतना रहती है। जब शरीर का अभाव हो जाता है तब उस शरीरस्थ आत्मा का भी अभाव हो जाता है। इसलिये शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है। इसलिये स्वर्ग, मोक्ष, नरक तथा वीतरागपना आदि बातें जो तुमने सिद्ध की हैं वे सभी कल्पनाएं आकाश पुष्प के समान निरर्थक हैं।

क्योंकि मोक्ष किसी ने देखा नहीं है। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है उसको प्रमाणित कैसे माना जाय? इसलिये जहां आत्मा नहीं है वहाँ परलोक भी नहीं है। इस पर आचार्य कहते हैं कि हे नास्तिकवादी, तू अपने स्वज्ञान

से आत्मा को देख कि वह प्रत्यक्ष है या नहीं? यदि इसमें आत्मा नहीं है तो-मैं हूँ, ऐसा ज्ञान किसको होता है? और जो आत्मा है वह यदि तू मानेगा तो तेरे नास्तिकपने का अभाव हो जायगा और फिर तुझे नास्तिक मत वाला किस प्रकार कहा जाय?

प्रश्न—*इस पर नास्तिक मत वाला कहता है कि यह जो स्वसंवेदन ज्ञान है, ऐसा मानना भ्रमरूप नहीं है क्या?*

उत्तर—आचार्य कहते हैं कि जो सर्वदा बाधा रहित है उसको भ्रमरूप कैसे कहा जाय? परन्तु भ्रम आत्मा में ही देखने में आता है। भ्रम के विना आत्मा जड़रूप होगा नहीं और पृथ्वी आदि जड़ोंमें स्वसंवेदनज्ञान की सम्भावना नहीं है। यदि इस स्वसंवेदनज्ञान का अभाव माना जायगा तो अपने इष्ट तत्व को साधने की व्यवस्था भी ठीक नहीं होगी। 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इस प्रकार जो पांच तत्वों का मिलन-रूप है वह अचेतन शरीर है। उसमें चेतना-स्वरूप आत्मा भिन्न ही है, यह बात आपको मानना ही पड़ेगी। जिसमें चेतन का उपादान कारण तो चेतन ही होता है और जड़का उपादान कारण जड़ ही है उसे स्वसंवेदन रूप ज्ञान आत्मा को ही है; यह बात आपको मानना ही पड़ेगी। यदि इस प्रकार नहीं माना जायगा तो पृथ्वी आदि तत्व भी भिन्न नहीं रह सकेंगे। इसलिए उसमें स्वजाति और विजाति दोनों ही मानना पड़ेगा। जो विजातीय है वह अन्य प्रकार है और जो स्वजातीय है वह अन्य प्रकार है। यानी दोनों तत्व सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। यानी ये दोनों एक कभी नहीं हो सकते। यदि इन दोनों को एक माना जायगा तो उपर्युक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, इन पांचों भिन्न-भिन्न तत्वों की प्रतिज्ञा में बाधा आयेगी।

प्रश्न—*नास्तिक कहता है कि जो चेतना जीव के गर्भ से लेकर*

मरण तक रहती है यह जो हमने कहा है, यह तो अनादि-अनन्त नहीं है क्या, क्योंकि इसमें तत्त्व नहीं है ?

उत्तर—द्रव्य से युक्त जो आत्मा अनादि अनन्त चेतन-स्वरूप है, एवं पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है, उसमें सर्वथा यदि अनित्य ही माना जावे तो वह वाधा सहित होगा, और द्रव्य की अपेक्षा से भी अनादि-अनन्त रूप नित्य मानेंगे तो वहाँ तत्त्व की व्यवस्था भी ठीक प्रकार से नहीं बैठेगी। अतः उसे चैतन्य-स्वरूप को ही जीव तत्व मानना योग्य है। परन्तु इस प्रकार नास्तिक मत वालों के कथनानुसार मार्ग की सिद्धि नहीं होगी।

बौद्ध मत वाले जीव को सर्वथा क्षणिक ही मानते हैं। उसमें बन्ध मोक्ष आदि का कथन सम्भव नहीं मानते। इस सम्प्रदाय में क्षण-क्षण में कोई और भी जीव आकर इसका फल भोगता रहता है। इस प्रकार बन्ध मोक्ष आदि का आश्रय से नित्य माने बिना जीव की अवस्था कहना असत्य ही है। इस प्रकार असत्य मानने वाले बौद्ध को भी मोक्ष-मार्ग की सिद्धि नहीं हो सकती।

सांख्य मतवाले पुरुष को ही सदा शिव मानते हैं। उनके यहाँ बन्ध-मोक्ष की कथा यदि कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि वे तो प्रकृतिको बन्ध-मोक्ष मानते हैं। पर वहाँ प्रकृति तो जड़ है। इसलिये इनको भी मोक्षमार्ग की सिद्धि ठीक नहीं बैठती।

नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों के मत में तो गुण-गुणी को सर्वथा भेद मानने से समुदाय सम्बन्ध की एकता मानते हैं। उनके समाधान करने के लिये आचार्य कहते हैं कि उसमें एक तो गुण और एक गुणी एक समवाय से तीन प्रकार के पदार्थ हुए। उसमें जीव तो गुणी है और ज्ञानगुण एवंसमवाय जीव को ज्ञानी किया, तब जीव तो जड़ ही ठहरा और जीव को

मोक्ष-बन्ध नहीं हुआ । इस प्रकार कहना भी ठीक नहीं है । पुनः समवाय गुण-गुणी की एकता करके समवाय भी तो जीव से एक होना चाहिये । यदि वहां इन दोनों को एक नहीं करेगा तो उसको कौन एक करेगा ? एवं जो दूसरा समवाय मानेगा वहाँ अनवस्था होगी और अनवस्था होने से बाधा सहित है। इस प्रकार नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों की मोक्षमार्ग की प्राप्ति ठीक नहीं बैठती। पुनः अद्वैतवादी आत्मा को परमब्रह्म मानकर पुनः इसको बन्ध-मोक्ष तत्व मानते हैं, तो वह भी ठीक नहीं है । इसमें बन्ध तो अविद्या रूप उत्पन्न हुआ है और परब्रह्म को अविद्या लगती नहीं। उसको यदि पृथक् तत्व माना जाय तो जो अद्वैत है उसे दोष की दृष्टि से देखा जायगा और उसको अवस्तु मानना पड़ेगा, किन्तु अवस्तुका कथन करने से यहां भी मानने में बाधा होगी। अतः इससे भी मोक्ष-मार्ग ठीक नहीं बैठता। इसी प्रकार एकान्ती अन्यवादी का कथन भी ठीक नहीं है। इसमें उनका आगम भी प्रमाणभूत नहीं है। ये सब क्षयोपशमिक ज्ञान से रहित है। इसलिये वह एकान्तनय का आश्रय करके अपनी इच्छा से अनेक प्रकार मोक्षमार्ग की मिथ्यारूप कल्पना करते है। अतः उसमें सर्वज्ञ वीतरागी के बिना अन्य का कहा हुआ आगम प्रमाणित नहीं होता। इससे सत्यार्थ मोक्ष-मार्ग की सिद्धि होती है। इस प्रकार सूत्र का अभिप्राय है। जो सर्वज्ञ वीतरागी होगा वही शास्त्र की उत्पत्ति तथा शास्त्र का यथार्थ ज्ञान कहने का कारण होता है। इसलिये शास्त्र के आदि में उसकी निर्विघ्नता से समाप्ति होने के लिये यथार्थ ज्ञान के धारी परमोपदेशक 'सर्वज्ञ' वीतरागी इन तीन विशेषणोंसे सहित आप्त भगवान्‌को सत्यार्थ कहा है। बिना सर्वज्ञ के पुण्य-पाप का फल तथा स्वर्ग और नरक का निर्णय नहीं हो सकता। धर्म-अधर्म, पुण्य और पाप के फल को ठीक तरह से जाने

और पुनः उसे साक्षात् देखे तो उन्हीं का वचन सप्रमाण एवं सत्यार्थ रूप माना जाता है। इसलिये सर्वज्ञ के बिना यह सम्बन्ध बैठ नहीं सकता। उसी सर्वज्ञान से सर्वज्ञपने की सिद्धि होती है। ऐसे सर्वज्ञ देव के द्वारा कहा हुआ आगम प्रमाण नहिन है।

भावार्थ—नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, नास्तिक, अद्वैत तथा जैन ये छः मूल मत हैं। इनको षट्दर्शन कहते हैं। इनके मतों में अनेक प्रकार के भेद हैं। इनमें जैन मत जो है वह अनेकान्त मत स्याद्वाद मत है। यह वस्तु को अनन्त धर्म रूप यथार्थ स्वरूप प्रकट करता है। इस धर्म में सर्वज्ञ वीतराग देव को वक्ता, आचार्य को ज्ञान के धारी तथा गणधरादि को सूत्र का कर्ता कहते हैं। इसमें यथार्थ कथन किया गया है। जैनागम में जीव और पुद्गल को बन्धन से छुड़ाने के लिये बड़ी सुन्दर व्यवस्था बतलाई गई है। जैन धर्म में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छः—प्रकार के द्रव्य कहे गये हैं। इसमें जीव द्रव्य अनन्तानन्त है। और पुद्गल द्रव्य भी अनन्तानन्त गुणे है एवं धर्म-अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक एवं काल द्रव्य को असंख्यात कहा है।

भावार्थ—संसारी जीव की अपेक्षा से तो जीव अनन्तानन्त हैं। पुनः उस एक-एक जीव से अनन्तानन्त गुणे पुद्गल परिणाम हैं। धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य ये तीनों एक ही समान हैं और कालाणु असंख्यात है। इस प्रकार छः भांति के जो द्रव्य कहे गये हैं उन तीनों में से एक-एक द्रव्य की तीन काल सम्बन्धी अनन्तानन्त पर्याय हैं। उसमें इसका कथन सत्य रूप, असत्य रूप, एक रूप, अनेक रूप, भेद रूप, अभेद रूप, नित्य रूप, अनित्य-रूप, शुद्ध रूप, अशुद्ध रूप, इत्यादि नयकी अपेक्षा से कथंचित् सम्भव है और सभी का एकान्त नयकी अपेक्षा से उसमें विरोध भी है। इसलिये

अनेकान्त रूप से ही वस्तुका मानना योग्य है । पुनः जीव, पुद्गलके निमित्त नैमित्तिक भाव से पांच तत्वों की प्रवृत्ति होती ही है । और जो आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा, मोक्ष ये पांच भेद और जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये सात तत्व कहे गये हैं । इसमें आस्रव और बन्ध का भेद है । उस भेद में पुण्य और पाप जो कहा गया है वे दोनों मिलकर नौ पदार्थ हुए । इस प्रकार समस्त तत्वार्थ का जो कथन है उसको जैन-सिद्धान्त में सत्यार्थ कहा गया है । इस प्रकार का वचन बिलकुल प्रमाण सहित है । जहाँ जिस प्रकार की वस्तु विद्यमान है वहां उसी प्रकार उसका कथन है । उसमें कुछ भी अशुद्धता नहीं है । इस प्रकार तत्वार्थ सूत्र में वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप से कहा है । इसलिये इस समस्त विषयों को एक जैनागम में ही प्रमाण सहित दिया गया है ।

यहां कोई निकट भव्य-जीव सिद्ध पद का तत्व प्राप्त करने की इच्छा से अत्यन्त पिपासु तथा संसार से भयभीत होकर अपनी हित-कामना के हेतु सिंह, व्याघ्रादि क्रूर प्राणियों से रहित परम-रम्य सुन्दर उद्यानमें विराजमान किसी दिगम्बर जैनाचार्य के चरण-सान्निध्य में जाकर विनम्र भाव से नमस्कार करके प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव, मोक्षमार्ग कौन-सा है तथा उसकी प्राप्ति के लिये क्या यत्न हैं ?

उत्तर—यह जीवात्मा जब समस्त कर्ममल रूपी कलंक से रहित होता है तब शरीर से रहित हो जाता है, किन्तु यह छद्मस्थ के ज्ञान के बाहर है । इस प्रकार आत्मा के निज भाव का प्रकट होना मोक्ष है अथवा अविनाशी अनन्त सुखरूप आत्मा के निज स्वभाव का प्रकट होना मोक्ष है यह मोक्ष अत्यन्त परोक्ष है । इसमें समस्त संसारी जीवों के लिये धर्म, अर्थ काम, तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे हैं । इन चारों में से सबसे पहले

तीन पुरुषार्थ का साधन संसारावस्था में करना योग्य है। आदि के इन तीनों पुरुषार्थों का साधन हो जाने पर मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध किया जाता है। अर्थात् मोक्ष पुरुषार्थ के लिये पहले के तीन पुरुषार्थ साधन रूप हैं। और इन चारों में से केवल एक मोक्ष पुरुषार्थ ही प्रधान है। उस प्रधान मोक्ष सुख के विषय-सम्बन्धी किये जाने वाले जो रत्नत्रय हैं वह फल-रूप हैं। इसलिये सबसे पहले मोक्षमार्ग का ही उपदेश दिया गया है।

प्रश्न—तुमने पहले जो कहा है कि चारों पुरुपार्थों में केवल मोक्ष पुरुपार्थ ही प्रधान है, अतः तुम्हें केवल एक मोक्ष पुरुपार्थ का ही उपदेश देना चाहिये था, फिर मोक्षमार्ग का उपदेश क्यों दे रहे हैं ?

उत्तर—जितने भी यहां समस्त भाव आदि हैं उन सभी को भली-भांति मोक्ष तत्वका ज्ञान है और वे यह भी जानते हैं कि मोक्ष कोई वस्तु है तथा उसमें कर्म विप्र मोक्ष भी कहा है। तो समस्त कर्मों की निर्जरा होना मोक्ष है। इस प्रकार समस्त मत वाले इस बात को मानते है। इसमें किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। परन्तु मोक्ष मार्गके विषय में अनेक मतवाले अपने-अपने मतानुसार भिन्न-भिन्न. कल्पनायें करते हैं। इसलिये मोक्षमार्ग का जिनको ज्ञान नहीं है उनके लिये सबसे पहले मोक्षमार्ग का उपदेश देना ही ठीक है। क्योंकि इसके जाने विना मोक्षमार्ग की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? यहां जो शिष्य ने प्रश्न किया है वह मोक्षमार्ग जानने का रास्ता पूछा है। इसलिये सबसे पहले मोक्षमार्ग का ही उपदेश देना योग्य है। इस मार्ग के प्रति शिष्य का प्रश्न होने से आगे आचार्य सूत्र के द्वारा निम्न प्रकार से समाधान करते हैं:—

सूत्र—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

अर्थ—विपरीत आदि दोषों से रहित पदार्थ को जिसने अच्छी तरह से जान लिया है वह सम्यग्दर्शन है। इसके तीन भेद हैं—संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय शंका से रहित जो है वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है तथा जिस क्रिया से संसार को पार किया जा सके वह सम्यक्चारित्र है। यह चारित्र अविरत, प्रमाद, कषाय, योगरूप आस्रव-बन्ध इत्यादि का अभाव करनेवाला हो तथा उसको दूर करने के लिये उद्यमी हो या जिसके द्वारा कर्म का आस्रव रुक जाता है, तथा अज्ञानपूर्वक क्रिया की कल्पना न हो और उसको भली प्रकार से जो धारणा करे वह सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता होनी ही मोक्षमार्ग है और यही मोक्षमार्ग मोक्ष का साधन है। इसके अलावा कोई अन्य मार्ग नहीं है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ये तीनों जहाँ पर मिले हों वही मोक्षमार्ग कहलाता है और यही मोक्ष प्राप्तिका उपाय है। यहां सूत्र में जो सम्यक्रूप कहा है वह प्रशंसनीय है। इसलिये प्रशंसात्मक अर्थ में ही उसको ग्रहण किया गया है। इस सम्यक् शब्द को भिन्न-भिन्न रूप से तीनों के साथ लगाना चाहिये। यह शब्द पूजनीय है। इसलिये दर्शन भी पूजनीय है। इस कारण तीनों के ऊपर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होने के कारण इन तीनों को मोक्षमार्ग के साधन में उपाय माना गया है। इस दर्शन के विषय में जो श्रद्धान के विपरीत अभिनिवेश का दोष है उसको दूर करने के लिये सम्यक्पद ग्रहण किया गया है। पुनः इस ज्ञान के विषय को जानने के लिये संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ग्रहण किया गया है तथा चारित्र के विषय में जो मिथ्या-आचरण तथा अज्ञानपूर्वक क्रियाके दोष को दूर करने के लिये सम्यक्पद को

ग्रहण किया गया है। इसलिये जीवादि पदार्थ का यथार्थ श्रद्धान होना तथा उसी जीवादि पदार्थ को यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है। जिस क्रिया से आस्रव का बन्ध न हो, उस क्रिया के आचरण करने को सम्यक्चारित्र कहा है—अथवा जहाँ आत्मा की कर्म-निर्जरा-रूप क्रिया हो, तथा उससे रहित होकर चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में समस्त कर्मों का क्षय-रूप आत्मा का जो परिणाम है, वह निश्चय निवृत्ति-रूप चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के स्वरूप को जानना। अथवा यहां दर्शन ज्ञान चारित्र शब्द का अर्थ यह भी है कि—उसमें प्रथम जो 'पश्यति' शब्द आया है, वह देखना तथा श्रद्धान करना दर्शन है। और यहां दर्शन करनेवाला भी आत्मा है। यहाँ तो कर्ता साधन हो गया। पुनः जो 'दृश्यते अनेन' शब्द है—यानी जिसके द्वारा श्रद्धान किया जाय तथा देखा जाय वह दर्शन है। यहाँ पर करण साधन हो गया। पुनः 'दृष्टिमात्र' जो शब्द आया है—वह श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यहां पर भाव साधन हो गया। इसमें कर्ता, करण और भाव इन तीन प्रकार दर्शन-रूप क्रिया को ही दर्शन मानना। इस प्रकार ज्ञान के विषय में भी जानना जो है, वह ज्ञान है। यहां भी जाननेवाला आत्मा है। यहां कर्ता साधन हो गया। इसलिये जाननेवाला आत्मा ही कर्ता साधनमात्र है। पुनः 'ज्ञायते अनेन' जो शब्द आया है—वह यथार्थ वस्तु स्वरूप को जानना रूप ज्ञान है, और इसको जाननेवाला भी आत्मा ही है। अतः आत्मा ही कर्णधार हुआ। पुनः 'ज्ञानमात्रं' जो शब्द आया है—इससे वस्तु स्वरूप को जानना ज्ञान है। यहां जाननेवाला आत्मा ही है। इसलिये आत्मा भाव साधन हो गया। इस प्रकार कर्ता, करण और भाव साधन के भेद से इसमें तीन प्रकार के जानने की जो क्रिया है, उसे ज्ञान कहते

हैं। इसी प्रकार चारित्र के विषय में भी 'चरतीति चारित्रं' शब्द का अर्थ जो आचरण करे सो चारित्र है। यहां पर आत्मा ही आचरण करनेवाला है। इसलिये आत्मा ही उसका कर्ता साधन हो गया। पुनः 'चर्यते अनेन' जो शब्द है—उसका अर्थ जिसके द्वारा आचरण किया जाय वह चारित्र है। यहाँ पर भी आत्मा ही करण साधन हो गया। पुनः यहां 'चरणमात्रं' जो शब्द आया है—वह आचरण करना ही चारित्र है। इसलिये आत्मा ही भाव साधन हो गया। इसमें कर्ता, करण और भाव साधन भेद से तीन प्रकार के भेद को आचरण कहते हैं। इसलिये आत्मा के प्रति श्रद्धान करना चाहिये। क्योंकि सभी जीवों के अन्दर आत्मा विद्यमान रहता है।

प्रश्न—तुमने जो कहा है कि कर्ता, करण तथा भाव इन तीनों भावों को एक बताया यानी यह सब वही है, किन्तु ये तीनों एक तो हैं नहीं। अतः ऐसा कहने से विरोध आता है क्या ?

उत्तर—ठीक है, क्योंकि जो अन्यवादी हैं; वे एकान्त मानते हैं। इसलिये उनको विरोध मालूम होता है, किन्तु जैन सिद्धान्त में जहाँ स्याद्वाद-रूप का कथन है, वहां परिणामी के भेद से उसमें विरोध नहीं आता है। जिस प्रकार अग्नि अपने दाह परिणाम से ईंधन को जलाती है, अथवा अपने प्रकाश गुण से वस्तु का प्रकाश करता है, तथा अपने उष्ण गुण से अन्नादि को पकाता है। उसी प्रकार अग्नि के विषय में भी तीन गुण पाये जाते हैं। इसी तरह एक आत्मा के अन्दर भी कर्ता करण तथा भाव की अपेक्षा से तीन क्रिया पाई जाती हैं। इस प्रकार श्रद्धान करना भी आत्मा ही है एवं उसको जानने तथा आचरण करनेवाला भी एक आत्मा ही है। इसलिये आचरण भी यहाँ आत्मा का ही है। इसलिये दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीन भेद-रूप एक आत्मा का ही परिणाम

समझना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र इन तीनों की जो एकता है, वह प्रमत्त नामक छट्ठे गुणस्थानसे लेकर अयोग केवली गुणस्थान तक मुनि को होता है। यहाँ पर जो मुनि शब्द पड़ा वह मोक्षमार्ग कहो, या सिद्ध अवस्था कहो ये दोनों ही एकार्थवाची हैं। इसमें शब्द मात्र भेद है,अर्थ भेद नहीं। अतः मोक्ष की प्राप्ति होने का उपाय केवल मुनिपना ही है। इसके अलावा कोई अन्य मार्ग मोक्ष के लिये नहीं है।

भावार्थ—मुनि-पद से ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। इसमें दर्शन ज्ञान तथा चारित्र इन तीन प्रकार के रत्नत्रय सहित एक मुनि-पद को ही मोक्ष-मार्ग का साधन समझना चाहिये।

प्रश्न—तुमने यहां पर ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र इन तीनों की एकता-रूप मोक्षमार्ग बतलाया पर ऊपर तुमने कहा था कि सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग का अधिकारी है तो यह किस प्रकार कहा? तुम्हारे इस कथनानुसार चारित्र तो मोक्षमार्ग नहीं है?

उत्तर—चारित्र दो प्रकार है। एक संयमाचरण चारित्र और दूसरा स्वरूपाचरण चारित्र। ऊपर जो कहे हुये सम्यग्दृष्टि हैं, उनको संयमाचरण चारित्र नहीं होता, क्योंकि वह तो संयमी मुनि को हीं होता है। पर जो दूसरा स्वरूपाचरण चारित्र है, वहसम्यग्दृष्टि को होता है। इस प्रकार अवधिज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव को भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों की एकता पाई जाती है। इसलिये उनको मोक्षमार्गी कहा। अथवा इस सूत्र में दर्शन, ज्ञान, चारित्र-रूप जो साक्षात् पद कहा है, उसका अर्थ यह है कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों की सर्वदेश-रूप एकता है, वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। और जहाँ दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनों का एकदेशपना है, वहां परम्परा से मोक्षमार्ग का कारण है। उसमें अविरत

सम्यग्दृष्टि, तथा अणुव्रत-रूप जो पञ्चम गुणस्थान का श्रावक है, उसको परम्परा से मोक्षमार्गी समझना चाहिये।

प्रश्न—जहाँ पर ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र ये तीनों यदि सर्व-देशपने से साक्षात् मोक्षमार्ग के कारण हैं तो वहां इन तीनों की एकता होने से केवलज्ञान होता है। अतः वहां मोक्ष होना ही चाहिये? किन्तु पहले तुमने जो अव्रत सम्यग्दृष्टि की एकता कही थी, वह कैसे बने?

उत्तर—चार घातिया कर्मों के नाश करने की जो शक्ति आत्मा के सम्यग्दर्शन आदि जो क्रिया है, वह सहकारी है, परन्तु जब जहाँ आत्मा के आयुकर्म की स्थिति अवशेष रहे तो वहाँ केवली की अवस्था में नहीं रहता है। और जब उसमें शक्ति और सहकारी ये दो कारण मिलते हैं, तब मोक्ष मिलता है। यहाँ चौदह गुणस्थान के अन्त समय में समस्त कर्ममल से रहित शुद्ध ज्ञानमय ज्योति रूप आत्मस्व-रूप प्रकट होता है और वहां अघातिया कर्म के नाश से संसार का भी अभाव हो जाता है तथा उसी समय मोक्ष को प्राप्ति होती है और यह मोक्ष की प्राप्ति केवलज्ञान होने के बाद होती है अथवा निश्चय नय से ऐसा भी कह सकते हैं सम्यग्दर्शन की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है एवं सम्यग्दर्शन की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में भी होती है और सम्यक्चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। पर इसमें दर्शन के प्रतिपक्षी चार प्रकार के अनन्तानुबन्धी तथा तीन मिथ्यात्व मिलकर सात प्रकृति कहा गया है। वह तीन और चार प्रकृति का नाश करके चौथे गुणस्थान सम्बन्धी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। उसमें दर्शन की पूर्णता चौथे असंयत नामक गुणस्थान में होती है। पुनः ज्ञान के प्रतिपक्षी

जो ज्ञानावरणी कर्म हैं उसका अन्त क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान के अन्तमें तथा तेरहवें गुणस्थानके आदिमें होता है। तो इसमें ज्ञान की पूर्णता तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में होता है। पुनः चारित्र के प्रतिपक्षी चारित्रमोहनीय तथा आत्मा के अगुरु लघु गुण के घात करनेवाले आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय ये चार अघातिया कर्म जो हैं वे चौदहवें गुणस्थान के अन्त में नाश होने से वहां आत्मा का निज स्वभाव यथाख्यात चारित्र रूप प्रकट होता है। इस तरह चारित्र भी पूर्णता चौदहवें अयोगकेवली नामक गुणस्थान में होती है। इस प्रकार दर्शन, ज्ञान तथा चारित्ररूप रत्नत्रय की एकता से ही तत्काल में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये निश्चय नय की अपेक्षा से अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र का स्वरूप जानना चाहिये।

प्रश्न—यह दर्शन; ज्ञान तथा चारित्र की एकता यदि मोक्ष-मार्ग का कारण है तो तप भी तो मोक्षमार्ग का कारण है? अतः तप को भी ग्रहण करना चाहिये था?

उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि जो तप है वही चारित्र है। अतः चारित्र के कहने से तपका बोध होने के कारण अलग से तप नहीं कहा गया।

प्रश्न—इस सूत्र में सबसे पहले ज्ञान को ग्रहण करना चाहिये था। क्योंकि वस्तु का ज्ञान ज्ञानसे ही होता है, तत्पश्चात् श्रद्धान होता है। अतः ज्ञान को ही दर्शन के पूर्व ग्रहण करना योग्य है, और व्याकरण का भी यही नियम है। जो द्वन्द्व समास में अल्पा-क्षर वाला हो वह पहले कहा जाता है। यहां पर ज्ञान थोड़े अक्षर

वाला है और दर्शन अधिक अक्षरों वाला है। अतः ज्ञान का ग्रहण पहले कहना चाहिये।

उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति एक ही काल में होती है। जिस समय दर्शन मोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय से आत्मा को सम्यग्दर्शन रूप भाव प्रकट होता है उसी समय आत्मा को कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान का अभाव होता है तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होता है। जिस प्रकार सूर्य के ऊपर मेघ पटल के दूर होते ही सूर्य का प्रकाश और प्रताप दोनों ही एक साथ प्रकट होते हैं उसी प्रकार आत्मा को भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों ही एक ही काल में प्रकट होते हैं। अतः ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं होता। इसलिये सम्यग्यर्शन को पहले कहा गया है। व्याकरण का भी यही नियम है कि जिसमें अल्पाक्षर हो वह प्रधान एवं बड़ा माना जाता है, किन्तु उसमें जो पूज्य व प्रधान हो वह सर्वश्रेष्ठ होता है तथा प्रथम में भी वही आता है। इसमें यद्यपि अल्पाक्षर से ज्ञान बड़ा है तथा प्रधान रूप है, अतः ज्ञान को ही बड़ा मानना चाहिये। किन्तु यहां ज्ञान से भी दर्शन को प्रधान माना है। अतः दर्शन को पहले ही मानना योग्य है। क्योंकि सम्यग्दर्शन होते ही मिथ्यात्व ज्ञान सम्यक् रूप हो जाता है।

भावार्थ—जीव को अनादिकाल से मिथ्यात्वरूप जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्दर्शन ही सम्यकरूप बनाता है। तत्पश्चात् वह सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है। इसलिये सम्मग्दर्शन को पूज्य माना गया है। इसी प्रकार व्याकरण का भी मत है। अतः सबसे पहले सूत्र में दर्शन को ग्रहण किया गया। क्योंकि सम्यग्दर्शन से ज्ञान भी सम्यक्त्व रूप होता है इसलिये दर्शन के पीछे ज्ञान को ग्रहण किया है। पुनः कुचारित्र के पीछे सम्यक्

शब्द लगाने से चारित्र भी सम्यक्रूप होता है। अतः अज्ञान सहित चारित्र भी विपरीत कर्मबन्ध का कारण होता है। अतएव ज्ञान के पीछे चारित्र को ग्रहण किया है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, साम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। जीवों के समस्त कर्मों के नाश हो जाने के अनन्तर यह मोक्ष प्रकट होता है। मार्ग जो है वह उस मोक्ष की प्राप्ति होने का एक मात्र साधन है। इस प्रकार मोक्ष शब्द की निर्युक्ति है।

प्रश्न—पुनः यह प्रश्न उठता है कि मोक्ष की प्राप्ति का उपाय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने प्रथम सूत्र की रचना की है, सो इस प्रकार है :—

सूत्र—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। इस सूत्र के कहने का प्रयोजन यह है कि अन्यवादी अनेक प्रकार की मिथ्या कल्पनायें करते हैं। उनमें कोई दर्शन तथा कोई ज्ञान एवं चारित्र को भिन्न-भिन्न रूप से मोक्ष प्राप्ति का उपाय मानते हैं। कोई ज्ञान के विना केवल चारित्र से ही मोक्ष मानते हैं, कोई केवल श्रद्धान से मोक्ष मानते हैं तथा कोई केवल चारित्र मात्र से मोक्ष मानते हैं। इन सबका निराकरण करने के लिये तीनों की एकता ही मोक्षका उपाय है। इसके अतिरिक्तअन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है।

प्रश्न—सूत्र में दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन होने के कारण मोक्षमार्गः में जो एक वचन का प्रयोग किया गया है वह बहुवचन क्यों नहीं हुआ?

उत्तर—जैन शासन में पर्याय पर्यायी में सर्वदा भेद न मानकर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद माना गया है। इसलिये अभेद विवक्षा

के होने पर कर्ता साधन बन जाता है और भेद विवक्षा के होने पर करण साधन बन जाता है। आशय यह है कि जब अभेद विवक्षित होता है तब आत्मा स्वयं ज्ञानादि रूप प्राप्त होता है और जब भेद विवक्षित होता है तब आत्मा से ज्ञान आदि भिन्न प्राप्त होते हैं। चौथी विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए जो यह लिखा है कि जिस समय दर्शनमोह का उपशम क्षय और क्षयोपशम होकर आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय प्राप्त होती है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं। सो यह आपेक्षिक वचन है। वैसे तो दर्शन-मोहनीय का क्षय सम्यग्दृष्टि ही करता है, मिथ्यादृष्टि नहीं। अतः दर्शन-मोहनीय के क्षय के समय मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान के सद्भाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि दर्शन-मोहनीय की क्षपणा के समय इस जीव के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ही पाये जाते हैं। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव वेदक सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, उसके भी यही क्रम जान लेना चाहिये।

अब आदि में कहे गये सम्यग्दर्शन के लक्षण का कथन करने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं :—

सूत्र—तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

तत्व शब्द भाव सामान्यवाचक है। क्योंकि "'तत्व" शब्द सर्वनाम पद है, और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है। अतः इसका भाव तत्व कहलाया। इस तत्व-पद से कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसका उस रूप होना ही यहाँ तत्व शब्द का अर्थ है। अथवा तत्व शब्द जो है, उसका अर्थ वस्तु का

भली-भाँति निश्चय करना है। इस तरह तत्व शब्द का निश्चय करना तत्वार्थ है।

भावार्थ—अर्थ शब्द का उत्पत्तिलभ्य अर्थ है। अर्यते निश्चीयते इत्यर्थः—जो निश्चय किया जाता है। अर्थात् जिस प्रकार पदार्थ अवस्थित-रूप है, उसी तरह इसका होना तत्व है। अथवा तत्व का निश्चय रूप अर्थ करना तत्वार्थ है। यहाँ तत्व और अर्थ इन दोनों शब्दोंके संयोग से तत्वार्थ बना है। जो "तत्वेन अर्थः तत्वार्थः"—ऐसा समास करने पर प्राप्त होता है। श्रद्धान शब्द तत्व से निश्चय किया जानेवाला अर्थ है। उसकी प्राप्ति-रूप रुचि करना तत्वार्थ श्रद्धान कहा गया है। जो सम्यक् शब्द है, वह भले प्रकार से तत्वार्थ का दर्शन या श्रद्धान करना तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

शंका—दर्शन शब्द दृशि धातु से बना है। जिसका अर्थ आलोक है। अतः इससे श्रद्धान रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है ?

समाधान—धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। अतः "दृशि" धातु का श्रद्धान-रूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है।

शंका—यहाँ दृशि धातु का प्रसिद्ध अर्थ क्यों छोड़ दिया ?

समाधान—मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से तत्वार्थों का श्रद्धान-रूप जो आत्मा का परिणाम होता है, वह तो मोक्ष का साधन बन जाता है। क्योंकि वह भव्यों के ही पाया जाता है, अन्य के नहीं। किन्तु आलोक चक्षु आदि के निमित्त से होता है। जो साधन-रूप से सभी संसारी जीवों के पाया जाता है। अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं है।

अर्थात्—यह मोक्षमार्ग का प्रकरण है। इसमें तत्वार्थ श्रद्धान-रूप जो आत्मा का परिणाम है, वही मोक्षमार्ग का कारण है। इसलिये यहाँ पर

श्रद्धान शब्द का श्रद्धान ही अर्थ किया है। यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ देखना ही लेने से दर्शन चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के निमित्त से अभव्य और एकेन्द्रिय आदि सभी को देखने में आता है, और इसके अनुसार सभी जीवों को मोक्ष का कारण माना जायगा। इसलिये यहाँ पर दर्शन शब्द का श्रद्धान करना रूप ही अर्थ ग्रहण किया गया है। इसमें आत्मा ही अपनी शक्ति से सम्यग्दर्शन-रूप पर्याय को प्राप्त हुआ है। इसलिये एक आत्मा का परिणाम ही मोक्ष का कारण है। अथवा अपने आत्मा के अवलोकन करने का नाम ही सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न—फिर तुमको इस सूत्र में तत्वार्थश्रद्धानं के स्थान पर अर्थश्रद्धानं कहना ही पर्याप्त है?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ शब्दका अर्थ धन भी है, प्रयोजन भी है और अभिधेय भी है आदि जितने भी अर्थ हैं, उन सबके ग्रहण करने का प्रसंग आ जायगा। अतः यह उचित नहीं है। इसलिये अर्थ श्रद्धानं—केवल इतना ही नहीं कहा—इसलिये यहाँ अर्थ कहने से तो सर्व अर्थ ग्रहण करने का प्रसंग आता है, और तब तत्व के विना उसके भी सम्यग्दर्शन होगा। इसलिये सर्व अर्थ से अलग तत्व-रूप अर्थ दिखाने के लिये यहाँ इस सूत्र में तत्व शब्द का ग्रहण किया गया है। इसलिये तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ही कहना योग्य है।

प्रश्न—यदि अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं तो उसमें भी अर्थ शब्द कहना चाहिये। तब उसमें सर्वअर्थ का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार कहने में क्या दोष है?

उत्तर—यह ठीक नहीं है, इससे केवल भावमात्र के ग्रहण का प्रसंग प्राप्त होता है। कितने ही लोग तत्व-पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और

कर्मत्व आदि का ग्रहण करते हैं। पर यदि सूत्र में तत्त्वश्रद्धानम् इतना ही रहने दिया जाय तो इससे इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन होता है, जो कि ठीक नहीं है। अथवा तत्व शब्द एकत्ववाची है। इसलिये सूत्र में तत्व शब्द रखने से सभी की एकता का प्रसंग आता है। यह सब दृश्य तथा अदृश्य जगत् पुरुष स्वरूप ही है, ऐसा किसी ने माना भी है। अतः सूत्र में केवल तत्त्वश्रद्धानम् रखना योग्य प्रतीत नहीं होता। परन्तु ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आता है। इसलिये इन समस्त दोषों को दूर करने के लिये सूत्र में तत्व और अर्थ इन दोनों शब्दों का ग्रहण किया गया है।

प्रश्न—व्याकरण में अर्थ शब्द की तो ऐसी निरुक्ति है कि:— अर्थते इति अर्थः—*इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है कि जो पदार्थ जिस रूप से हैं उसका उसी रूप से निश्चय करना और निश्चय नय से भी यही अर्थ है अतः ऐसा कहने से यहां अन्यवादी द्वारा प्रणीत असत्य-रूप झूठे अर्थ का निषेध होता है। इस प्रकार के अर्थ शब्द का ग्रहण करने से तत्व शब्द की भी भले प्रकार से प्रतीति होती है। इसलिये इस सूत्र में तत्व शब्द का ग्रहण करना योग्य नहीं है?*

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि जिसे पित्तज्वर के उदय से व्याकुलता हो गई हो एवं जिसकी इन्द्रियाँ भी शिथिल हो रही हों, ऐसी अवस्था में उस मनुष्य को मीठा मिश्रित यदि दूध भी पिलाया जाय तो उसको वह कड़वा ही लगता है, इसी तरह यह आत्मा भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, आदि एकान्त नय से वस्तु को मिथ्यात्व-रूप ग्रहण करता है। इसलिये इस प्रकार के विविध भाँति के

अनेक मिथ्यादृष्टि हैं। उनका निराकरण करने के लिये ही यहाँ तत्व शब्द का ग्रहण किया गया है।

प्रश्न—आप का कहना इसी प्रकार है तो फिर सूत्र में अर्थ शब्द को ही रखना योग्य है? तुम्हारे कथनानुसार वहां शब्द से ही भले प्रकार जानकारी होती है। अतः यही योग्य प्रतीत होता है। इसमें जो तत्व है वही अर्थरूप है। इससे यहां पर अर्थ शब्द के विना ही तत्वश्रद्धानंसम्यग्दर्शनम् ऐसा ही सूत्र कहना योग्य है?

उत्तर—इस प्रकार इसका अर्थ करना ठीक नहीं है। जिसमें तत्वरूप श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है। यहाँ इस प्रकार कहने से मिथ्यादृष्टि के द्वारा माना हुआ जो एकान्तनय का अर्थ निश्चय किया हुआ जो तत्व है, उसके प्रति भी श्रद्धान की प्राप्ति होती है, इसलिये सूत्र के साथ तत्व भी रखना योग्य है। एवं जो इस सूत्र में अर्थ शब्द का ग्रहण न किया जाय तो जो तत्व शब्द है, वह सामान्य-रूप भाववाची है, उसमें भाव मात्र का ही प्रसंग आता है। इसलिये कोई वादी इस प्रकार कहता है कि जो निश्चय से आत्मा ही नहीं है; या कोई सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इत्यादि सामान्य-रूप वस्तु को ही ग्रहण किया है। कोई तत्व को एकपना ही कहा है कि सर्ववस्तु एक पुरुष रूप ही है। इत्यादि अन्यवादी अनेक भेद-रूप तत्व को मानते हैं। इसलिये यहाँ सर्वमत से भिन्न के विचार से रहित अनेकान्त वस्तु के स्वरूप को जानने के लिये अर्थ शब्द से तत्वार्थ को ग्रहण किया गया है। इसलिये यहाँ तत्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम् यह सूत्र कहना योग्य है।

प्रश्न—यदि इसी प्रकार तत्वार्थ-रूप श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है तो जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषय-कषाय में प्रवृत्त होते हैं, उस

काल में तथा विग्रह गति में सप्त तत्व का विचार-रूप उपयोग नहीं होता है। और तब वहां श्रद्धान किस प्रकार सम्भव है? वहां पर तो सम्यक्त्व है ही नहीं। इसमें तत्वार्थ श्रद्धान के लक्षण के विषय में अव्याप्ति नामक दोष आता है?

उत्तर—यहाँ कोई दोष नहीं ह। वहां उस जीव को जो विचार है वह उस स्थान में उपयोग के आधीन है। अर्थात् वह उपयोगधारी है और उसका श्रद्धान प्रतीति-रूप है। उसका उपयोग वहाँ पर लगा हुआ है। उस जीवको वहां पर उसी वस्तुका विचार है। परन्तु वहां भी पहले जिस वस्तु का जिस प्रकार श्रद्धान हुआ है, उसीकी प्रतीति बनी रहती है। वहां श्रद्धान नष्ट नहीं होता। उसमें सम्यग्दृष्टि जीवके विषय-कषाय क्षयोपशम होने से तथा विग्रहगति में तत्वार्थ का विचार नहीं होता है, फिर भी वहां उसके तत्वार्थ का श्रद्धान कहा जाता है। इसलिये इस लक्षण के विषय में अव्याप्ति नामक दोष नहीं आता। अथवा जिस प्रकार किसी रोगी पुरुष को इस प्रकार प्रतीति है कि जिसमें मनुष्य है, तिर्यंचादिक नहीं है, वहां मेरे इस कारण से रोग हुआ। अब मैं उस रोग को मिटा कर निरोग हो जाऊँगा। इस प्रकार रोगी पुरुष अन्य कार्यों के विषय में प्रवृत्त है। परन्तु उसे ऐसा विचार ही होता है कि इस रोग को दूर करूं। रोगी के श्रद्धान में रोग को मिटाने का श्रद्धान बना हुआ है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के अन्य कार्य में प्रवृत्त रहने पर भी वहां तत्वार्थ का विचार नहीं होने पर भी उसका सम्यक्त्व का सद्भाव पाया जाता है। इसलिये विषय-कषाय को सेवन करने पर भी तथा विग्रह गतिमें रहनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव को सप्त-तत्व श्रद्धान की प्रतीति बनी रहती है। इस प्रकार तत्वार्थ का लक्षण कहने में यहां कोई दोष नहीं आता है।

प्रश्न—किसी जीव को सम्यग्दर्शन हो गया, इस बात की प्रतीति कैसे होती है ?

उत्तर—यह केवली भगवान् के ज्ञान गम्य है। क्योंकि इनके अलावा अन्य कोई नहीं पहचान सकता।

प्रश्न—यदि इस तरह आत्मा का परिणाम-रूप सम्यग्दृष्टि की पहिचान केवली गम्य है तो आप को सम्यक्त्व हुआ है, इस बात का निश्चय किस प्रकार हो सकता है ? यदि आपको तत्वार्थ का श्रद्धान हो भी जाय तो सम्यग्दृष्टि मानना योग्य नहीं है ?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है। आत्मा का परिणाम-रूप तत्वार्थ का जो श्रद्धान है, वह सम्यक्त्व का बाह्य चिन्ह है। किन्तु फिर भी उस तत्वार्थके श्रद्धान होनेपर नियमसे सम्यक्त्व होता है अथवा सम्यक्त्व रूप आत्मा का जो परिणाम है, उसे केवलज्ञानी ही जान सकता है। अब उस केवलज्ञानी के कहे हुये बाह्य चिह्नों पर विश्वास रखना सम्यक्त्व की पहिचान है। तथापिताके बाह्य चिह्न को देख कर छद्मस्थ के ज्ञान में भी आने योग्य जीव का परिणाम होता है। इस चिन्ह से सम्यग्दर्शन की जानकारी होती है। पुनः तत्वार्थ का श्रद्धान होने पर भी आपको सम्यग्दृष्टि माननना योग्य है। इस प्रकार से सम्यग्दर्शन होने का निश्चय होता है। उनकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम के अनुसार अनुमान स्वानुभव से की जाती है। इसको भी निश्चय तत्वार्थ श्रद्धान कहते हैं। इस बात की परीक्षा होने पर आप को मिथ्यादृष्टि कहना योग्य नहीं है। अथवा सम्यग्दृष्टि जीव के इस प्रकार विचार होते हैं कि वह समस्त उपाधियों से रहित शुद्ध ज्ञान चेतना का स्वभाव आत्मा की अनुभूति है। यहाँ पर जो ज्ञान है, वह आप अपने स्वसंवेदन-रूप है। उसमें रागादि विकार रहित

शुद्ध ज्ञानमात्र का आस्वादन होता है। यहां पर जो शुद्ध ज्ञान है, वही मैं हूं, इस प्रकार ज्ञान में जो रागादिक विकार है, वह कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ है। इसलिये यह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार भेद-विज्ञान से ज्ञान के आस्वाद का जो ग्रहण करना है, वही आत्मा की अनुभूति है, और यही शुद्धनय का विषय है। इस प्रकार आत्मानुभूति का ग्रहण करने से शुद्धनय के द्वारा श्रद्धान होता है, और समस्त कर्म-जनित रागादि भाव से रहित अनन्त चतुष्टयमय मेरा स्वरूप है। इस प्रकार अन्य. पर संयोग-रूप जो कर्म-जनित भाव है, वह मेरी आत्मानुभूति से भिन्न तथा अन्य है। इस प्रकार भेद-विज्ञान का जो विचार करना है, वह सम्यक्त्व का मुख्य अंग है। यहां मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी चौकड़ी का अभाव होने से सम्यक्त्व हुआ है। इस प्रकार भेद-विज्ञान से तत्वार्थ का श्रद्धान होना ही आत्मा का परिणाम है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन-रूप आत्मा का परिणाम अत्यन्त सूक्ष्म तथा केवली भगवान् गम्य है। यानी उस सम्यग्दर्शन का वाह्य चिह्न किसी छद्मस्थ जीव के द्वारा जानने में नहीं आता, किन्तु फिर भी सम्यग्दर्शन के चिन्ह की परीक्षा करके आप को मिथ्यादृष्टि मानना योग्य नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो छद्मस्थ रूप समस्त संसारी जीवों के सम्यक्त्व का निश्चय नहीं हो सकता और तव समस्त व्यवहार का लोप हो जायगा। जिससे कि सभी मुनि तथा श्रावक की प्रवृत्ति मिथ्यात्व सहित ठहरेगी तथा जब सभी मुनि एवं श्रावक की प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टि हो जायगी तो फिर व्यवहार ही कैसे रह जायगा? इस प्रकार के व्यतिक्रम होने से बड़ा दोष होता है। किन्तु फिर भी सम्यग्दर्शन की परीक्षा हुये विना ऐसा श्रद्धान कभी नहीं रखना चाहिये कि मैं मिथ्यादृष्टि हूँ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष में मिथ्यादृष्टि तो अन्य मत वालों को कहा जाता है। तब तो उसीके समान आप भी अन्य मती हो ठहरे। इस प्रकार सर्वथा एकान्त पक्ष का ग्रहण कर मिथ्या दृष्टि मानना योग्य नहीं है अथवा यहां प्रशम ॥ १ ॥ संवेग ॥ २ ॥ अनुकम्पा ॥ ३ ॥ आस्तिकय ॥ ४ ॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनके जो चार गुण बतलाये गये हैं। वे मिथ्या दृष्टि के विषय नहीं होते हैं। इनकी परीक्षा करने से सम्यग्दृष्टि पना प्रगट होय है। इस स्थान पर एक प्रश्न आता है जो निम्न प्रकार है :—

प्रश्न—क्रोध का उपशम तो किसी मिथ्यादृष्टि जीव के भी हो जाता है। वहां उसके भी उपशमपना की प्राप्ति होने का प्रसंग आता है।

उत्तर—जो दोष यहाँ नहीं है उसमें मिथ्या दृष्टि जीव को जहां क्रोधका उपशम होता है वहां उसको अनन्तानुबन्धी मान का उदय है। वह तत्त्व को सर्वथा एकान्त रूप मानता है। फिर उस अपने का झूठे तत्त्व के प्रति आप सत्यार्थ पने का अभिमान करता है इस प्रकार मिथ्या दृष्टि जीव को अनन्तानुवन्धी मान कर्म का उदय है। पुनः अनेकान्त वस्तु स्वभाव के प्रति उनके अन्दर द्वेष का सद्भाव पाया जाता है। इस-लिये उसमें उपशम भाव भी नहीं है। इस प्रकार मिथ्या दृष्टि जीव के क्रोध का भी उदय होता है और वह त्रस स्थावर जीवों के घात का संकल्प करता है। इसलिये उनके अन्दर अनुकम्पा भी नहीं है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के उपशम भाव की प्राप्ति होने का प्रसंग भी नहीं है।

प्रश्न—यदि मिथ्यादृष्टि जीव के अन्दर अनुकम्पा भी नहीं मानी जाती है तो उसके लिये अपने यहां माने हुए तत्व के विषय

में तो आस्तिक पना मानते हैं। फिर यहाँ आस्तिक पने की प्राप्ति होने का प्रसंग आता है।

उत्तर—ऐसा नहीं है। इसमें मिथ्यादृष्टि जीव तत्व का सर्वथा एकान्त रूप श्रद्धान करता है। उसमें जो इसके अन्दर आस्तिक पना हैं वह मिथ्यात्व अत्यन्त दृढ़ हो गया है। इसलिये उसके अन्दर आस्तिक पना भी नहीं है।

भावार्थ—मिथ्या दृष्टि जीव वस्तुको सर्वथा एकान्त रूप ग्रहण करता है इसलिये वह एकान्त के प्रति अत्यन्त दृढ़ हुआ है। उसमें वस्तुतः एकांत पक्षका स्वभाव नहीं है। जो सर्वदा वस्तु स्वरूप को एकान्त रूप ही श्रद्धान करता है वे अरहन्त भगवान के मत से बाह्य हैं। अर्थात् नास्तिक हैं। इसलिये मिथ्यादृष्टि के अन्दर आस्तिकत्व का लेश मात्र भी गुण नहीं है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके आस्तिक पना की प्राप्ति होनेका प्रसङ्ग भी नहीं है। क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि है उसके अन्दर प्रशम संवेग अनुकम्पा, और आस्तिक्य; इस प्रकार ये चार गुण सम्यग्दृष्टि में ही पाये जाते हैं अन्य मिथ्या दृष्टी में नहीं।

प्रश्न—जैसे मिथ्यादृष्टि के जीवों का घात करने के कारण अनुकंपादि गुण नहीं पाया जाता है। वैसे ही जीवों का घात तो अज्ञान से सम्यग्दृष्टि जीव के भी होता है। फिर इन दोनों के अन्दर क्या फरक हैं ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि को जीव तत्त्व का ज्ञान ह। वह अज्ञान से जीव का घात करने में प्रवृत नहीं होता है। परन्तु उसके चारित्र मोहनीय कर्म का उदय से जो अविरति तथा प्रमाद से जीव का घात तो होता है परन्तु वहां अनुकंपा होने के कारण पाप का बंध उनका यह अपराध है। ऐसा

नहीं होता है। नहीं कहा है। यहां पर प्रश्न आता है जो निम्न प्रकार है।

प्रश्न—जो इस प्रकार प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य रूप सम्यग दर्शन के यह चार चिन्ह आपके अनुभव गोचर आपने कहे वे मैं समझ गया। परन्तु वहां सम्यग्दर्शन ही आपके स्वसंवेदन रूप अनुभव गोचर नहीं हुआ है। सो इसका क्या कारण है?

उत्तर—यहां पर जो तत्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन कहा है। सो दर्शन मोह का उपशम तथा क्षयोपशम से वहां जो आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति का लाभ होता है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार यह आत्मा का परिणाम रूप जो सम्यग्दर्शन है वह सूक्ष्म है, इसलिये वह सम्यग्दर्शन केवली बिना अन्य क्षद्मस्थ के जानने में नहीं आता है। इस प्रकार प्रशम ॥१॥ संवेग ॥२॥ अनुकम्पा ॥३॥ आस्तिक्य ॥४॥ यह सम्यग्दर्शन के चार चिन्ह हैं। वह क्षद्मस्थ के तो स्वसंवेदन रूप अनुभव गोचर हैं। इसलिये इनसे सम्यग्दर्शन का अनुमान होता है। वहां अभेद विवक्षा से सम्यग्दर्शन से अभिन्न रूप है, तो भी वहां भेद विवक्षा से भिन्न हैं। इसलिये उसमें एक सम्यग्दर्शन का ही कार्य है। उस कारण से कार्य का अनुमान होता है। इसलिये प्रशमादि कार्य से कारणरूप सम्यग्दर्शन को जानना होता है। इस प्रकार प्रशम संवेग अनुकम्पा, आस्तिक्य इस प्रकारके चारों सम्यग्दर्शन के चिन्हों से अपने तथा अन्य जीव के भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति समझना चाहिये। अष्टपाहुड़ ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इसके प्रति इस प्रकार कहा है कि जो प्रशम संवेग अनुकम्पा, आस्तिक्य इस प्रकार के जो यह चार सम्यग्दर्शन के भाव चिन्ह हैं उससे अपने तथा पर के सम्यक्त्व की परीक्षा होती है। इसमें इतनी विशेषता है कि वहां सर्वथा एकान्त तत्व

को कहने वाले अन्य वादी जो हैं उनका श्रद्धान तथा भाव अन्य कुलिंग के भेष के विषय में सत्यार्थ पन का अभिमान करना पर्याय बुद्धि है। इससे नरक १ तिर्यन्च २ मनुष्य ३ देव ४ इत्यादि चतुर्गति को अपना स्वरूप मानना है। इस प्रकार जो मानना तथा पर्याय में एकान्त बुद्धि का विचार करना जो है वह समस्त अनन्तानुबन्धी का कार्य है। जहां इस प्रकार के अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी रूप कार्य का उदय नहीं है वहाँ पर ही उसमें प्रशम गुण जानना चाहिये। तथा जहां अपने को बुरी भावना से दूसरे को घात करने की विकार बुद्धि हो—मिथ्यादृष्टिके अन्दर-इस प्रकार की बुद्धि होती है सम्यग्दृष्टिके अन्दर कदापि नहीं होती है। वह इस प्रकार विचार करता है कि मेरा या मुझे बुरा कहने वाला जो है वह तो सबसे पहले अपने आत्मा को पाप कर्म के बन्ध से बाध लेता है। अन्य तो निमित्त मात्र है। इस प्रकार समझ कर अपने माध्यस्थ्य भाव से उसके विषय में द्वेष बुद्धि इत्यादि से रहित जो है सो सम्यग्दृष्टि का प्रथम गुण है। इसका भावार्थ इस प्रकार है—

सम्यग्दृष्टि जीवको शल्य नहीं होता है। इसलिये किसी के साथ उनका वैर भाव नहीं होता। उसमें सुख दुःख जीवन मरण संयोग वियोग लाभ अलाभ, यश अपयश, इत्यादि सुख-दुःखके जो कार्य है उसमें उनका अभाव रहता है। एवं हमेशा पर को आपका नहीं मानते हैं? अर्थात परको अपना नहीं मानता है। उनको आप-पर का ज्ञान रहता है। वह ज्ञानी जीव अपना तथा परका केवल संयोग सम्बन्ध मानता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि के शत्रु के विषय में भी राग भाव नहीं रहता है। जो अनन्तानुबन्धी के विना अन्य चारित्र मोहनीय कर्म के उदयसे आरम्भ आदि क्रिया में हिंसादि पाप जो होते हैं उसको भी अच्छा बुरा नहीं मानते। इसलिये अविरत

सम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यान आदि कषाय उदय का उपशम होने का नियम नहीं है। इस प्रकार जहां अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का अभाव रूप उपशम जो है, उसी को ही प्रशम समझना। पुनः संसार से भयभीत हो विरक्त रहना तथा धर्म में और धर्म के फल के सम्बन्ध में परम उत्साहित रहना जो है, वह संवेग है। अथवा साधर्मी से अनुराग करना तथा पंच-परमेष्ठी के विषय में प्रेम भाव-रूप भक्ति प्रकट करना यह सभी संवेग है। अथवा यहां संयोग में ही निर्वेद भी हुआ—ऐसा जानना जिससे आत्मा में स्वभाव-धर्म की प्राप्ति सम्बन्धी जब अनुराग हुआ, तब अन्य सभी अभिलाषाओं का त्याग हो गया। वहाँ समस्त पर-वस्तु से वैराग्य-रूप भावना का प्रकट होना जो है, वही निर्वेद है। इस प्रकार संवेग के विषय में भी जानना। पुनः सर्वप्राणी के विषय में उपकार बुद्धि तथा समस्त जीवों से मैत्री भाव का प्रकट होना जो है वही अनुकम्पा है। उसमें जो पर जीव सम्बन्धी अनुकम्पा हो वह अनुकम्पा है, वह अनुकम्पा अपनी अनुकम्पा है। जिसमें जब यह जीव पर का बुरा करना विचारता है, तब अपने को कषाय-रूप अमनुज्ञ करता है, तब वहां अपने-आप ही बुरा भाव कर लेता है। पुनः जब दूसरे का भला होना विचारता है, तब अपने मन्दकषाय-रूप शुभ भाव होने से वहां वह अपना ही भला हुआ। इसलिये दूसरे जीव की रक्षा करना चाहिये। यहीं अपनी अनुकम्पा है। पुनः जीवादि पदार्थ का स्वरूप सर्वज्ञदेव के आगम के अनुसार जान कर उसके प्रति ठीक बुद्धि हो जाय, तब जैसे केवली भगवान् ने कहा है। उसी प्रकार जीव की मान्यता हो जाती है। इस प्रकार जीवादि के विषय में जो आस्तिक भाव का प्रकट होना है, वह चौथा आस्तिक नामक गुण है। सम्यग्दृष्टि के ये चार चिन्ह तथा संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम;

भक्ति, वात्सल्य तथा अनुकम्पा ये आठ गुण बतलाये गये हैं। वह उनके ही चारों विषयों में गर्भित है। जिसमें वहां भी निन्दा और गर्हा ये दो तो पहले प्रशम में आ गये और निर्वेद वात्सल्य तथा ये तीनों दूसरी संवेग में आ गये। पुनः एक अनुकम्पा को उससे जुदा कहा है।

ऐसे श्रद्धान के विषय में कोई भय नहीं है। इसलिये इसको सप्त भय रहित कहा है। और जो वर्तमानकाल विषयक भय प्रकृति के उदय से जो कुछ भी इसके भय पाया जाता है तो वहाँ पर उसका स्वामीपना भी नहीं है। परन्तु उस भय के मेटने का वह उपाय करता है। जहाँ तक उसका इसको वर्तमान काल की पीड़ा सही नहीं जाती है, तो वहाँ उसका इलाज करता है। सो यह शरीर की निर्बलता का दोष है। सो सन्देह एवं भय इन दोनों से रहित ही सम्यग्दृष्टि होता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के पहला निःशंकित नामागुण प्रकट होता है। कांक्षा नाम भोग की अभिलाषा का है। पूर्व-जन्म में किये गये भोगों की याद करना तथा तिनकी वान्छा करना तथा कर्म और कर्म के फल विषय की वान्छा रखनी तथा अन्य मिथ्यादृष्टि के सुन्दर-रूप भोगों की प्राप्ति देख कर उसको अर्थात् उस फल को अपने मन में भला मानना, कहने का तात्पर्य इस प्रकार है—उस कर्म का फल सुन्दर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार मानना भ्रम है। अथवा जो इन्द्रियों के विषय रुचे नहीं। इस प्रकार के विषय सम्बन्धी उद्वेग-रूप होना यह भोग अभिलाषियों का भाव चिन्ह हैं। इस प्रकार जिनके इनकी इच्छा न हो, वह सम्यग्दृष्टि का निःकांक्षित नाम का दूसरा अंग है। उससे भोग की अभिलाषा-रूप की वान्छा जो कही है, वह मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को भोग की वान्छा नहीं होती है।

प्रश्न—जो इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि को भोग की वाञ्छा नहीं होती है तो वह व्रतादिक रूप शुभ आचरण की क्रिया क्यों करता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि व्रतादिक-रूप शुभ क्रिया को अपने स्वरूप की प्राप्ति होने में कारण होने से उसका आचरण करता है, वहाँ जो उसका फल शुभ-रूप कर्म बन्ध है। सो उसकी वांछा से कर्म बन्ध है, वह यथार्थ में उसकी इच्छा नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टि के व्रतादि-रूप शुभाचरण होते हुये भी कर्म फल की वान्छा नहीं है। इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि को वाञ्छा रहित निःकांक्षित नाम का दूसरा गुण है। पुनः अपने गुण तथा अपने विषय के अहंकार की वुद्धि के प्रति वह दूसरे को अपने से श्रेष्ठ नहीं मानता है। और के विषय में हीनता की तथा नीचता की वुद्धि नहीं रखता है। दूसरे को देख कर ग्लानि या उनके प्रति तिरस्कार वुद्धि नहीं रखता है, इसलिये उसके निर्विचिकित्सित अङ्ग है। यह अंग जिसके अन्दर नहीं है, उसको विचिकित्सा अंग कहते हैं। क्योंकि उसके अन्दर ग्लानि करने का स्वभाव ही होता है। इसलिये कि उसके मिथ्यात्व कर्म का उदय है। वह जीव के प्रति निर्विचिकित्सा अंग कभी नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिसके अन्दर अर्थात् जहाँ कोई पुरुष अंगोपांग तथा अपने पाप कर्म के उदय से धन वस्त्र से रहित दुःखी हो तथा असाता के उदय से उसके अन्दर ग्लानि भाव सहित शरीर हो तो इस प्रकारके व्यक्ति को देखकर सम्यग्दृष्टि पुरुष को ग्लानि कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह दुखी है, उसके पास धन नहीं है, वह रोगी है, इत्यादि प्रकार के कष्ट उसके शरीर में सदैव से ही मौजूद हैं। मैं तो बहुत धन सम्पत्ति से सम्पन्न हूं मेरा शरीर सुन्दर है; मेरी प्रशंसा चारों ओर होती हैं, एवं

मेरे बराबर यह नहीं है यह रंक है गरीब है, इस प्रकार के अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को विचार आते हैं। परन्तु इस प्रकार के विचार सम्यग्दृष्टि जीव को नहीं आते हैं। वह विचार करता है कि यह शरीर अनित्य है पुण्य योग से मिला है, इत्यादि प्रकार के विचार करता है वह किसी भी व्यक्ति के प्रति ग्लानि भाव कदापि भी नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि जीव मन में विचार करता है कि यह मेरे पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का फल है, यदि मैं दूसरे की निन्दा करूंगा या किसी दीन दुःखी रूग्ण को देखकर ग्लानि करूंगा तो कालान्तर में कदाचित् यदि मेरे अशुभ कर्मों का उदय हो जाये तो मुझे भी देखकर लोग ग्लानि करेंगे तथा मेरी निन्दा करते रहेंगे। इसीलिये सम्यग्दृष्टि ग्लानि या विचिकित्सा से रहित रहकर सभी दीन दुःखी एवं रूग्ण आदि जीवों में आत्मा का वास जानकर समता दृष्टि रखता है।

मूढ़ दृष्टि—मूढ़दृष्टि का नाम अतत्व श्रद्धान है। अतत्व के विषय में तत्त्व का श्रद्धान करना मूढ़दृष्टि है। इस प्रकार की मूढ़ दृष्टि जिसके नहीं है उसका नाम अमूढ़ दृष्टि है, यह चौथा अङ्ग है। मूढ़दृष्टि पना मिथ्यात्व के उदय का कार्य है मिथ्यादृष्टि के अन्दर खोटे हेतु से साध्य किया हुआ जो पदार्थ होता है वह सम्यग्दृष्टि के अन्दर नहीं उत्पन्न होता। इसलिये सम्यग्दृष्टि को अमूढ़दृष्टि कहा गया है। सम्यग्दृष्टि के अन्दर ऐसा विचार होता है कि इस संसार की रूढ़ियां अनेक प्रकार की हैं। इन विविध भांति की रूढ़ियों में किसी प्रकार का सार नहीं है। अर्थात् निःसार हैं और ऐसी निःसार वस्तु के प्रति आचरण निःसार मनुष्य ही करता है। और यह अनिष्ट फल को देनेवाला है यानी यह निष्फल है। खोटे फल को देनेवाला है। इसमें कोई तथ्य अथवा अर्थ

नहीं है। यह संसार में केवल मूढ़ता को बढ़ाने वाला है और उन्हीं मूढ़ मनुष्यों के द्वारा ही संसार में मूढ़ता की परिपाटी प्रचलित हुई है। ऐसी मूढ़ता की सेवा आराधना मूढ़ दृष्टियों द्वारा ही होती है। उसके अन्दर अदेव के प्रति देवत्व वुद्धि उत्पन्न होना स्वाभाविक होता है। पुनः अधर्म में धर्मबुद्धि होना लोकमूढ़ता है। अगुरु के प्रति गुरुबुद्धि होना गुरुमूढ़ता है। हिंसामय शास्त्र के सम्बन्ध में जो अहिंसामय वुद्धि होती है ये तीनों मूढ़तायें संसारी जीवों को अनन्तकाल पर्यन्त घोर दुःख देने वाली हैं। जहाँ पर वीतरागता या सर्वज्ञपना नहीं है वहाँ पर देवपना कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार संसार में जितने भी हिंसावृद्धि के धर्म हैं वे सभी संसारी आत्मा को पाप की ओर ले जाने वाले हैं। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव इन तीनों मूढ़ताओं से सर्वथा रहित होता है। सम्यग्दृष्टि अपने मन में सदा सच्चे देव, गुरु तथा शास्त्र के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धान् रखता है। और वह सबसे पहले देवत्व के विषय में विचार करता है कि यह देव कहां से आया है, यह ब्राह्मण कुल का है, या क्षत्रिय कुल का है अथवा वैश्य कुल का है, इत्यादि का अन्वेषण प्रारम्भ कर देता है और यह सोचता है कि इनके माता-पिता कौन हैं ? इनके अन्दर कोई गुण है या नहीं ? ये शास्त्र के अनुसार अठारह प्रकार के दोषों से रहित हैं अथवा सहित ? क्योंकि जैन सिद्धान्त में तीर्थंकर भगवान को देव कहा है। उनका जन्म क्षत्रियों में हुआ है। और उनके माता पिता के शरीर मल मूत्र आदि से रहित रहते हैं। उनकी माता रजस्वला अर्थात मासिक धर्म से रहित रहती हैं। कर्म भूमि सम्बन्धी स्त्री के एक ही पुत्र उत्पन्न होता है। उसके पीछे और कोई पुत्र उन माता के नहीं होता है। पुनः उनके गर्भ में आने के ६ माह पूर्व भी और नव मास गर्भ में रहने तक भी अर्थात् कुल

१५ माह तक तीन बार १०॥ करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। एक काल में ३॥ करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। इसलिये तीन काल में १०॥ करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। ऐसी रत्न की वर्षा होनेके पश्चात् तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है। इस प्रकार भगवान के जन्म-काल में अतिशय प्रकट होता है। वहां प्रथम तो भगवान के शरीर में पसीना ही आता नहीं। पुनः भगवान के शरीर में किसी प्रकार का मल-मूत्र नहीं होता तथा उनके नेत्र, कर्ण, जीभ, दाँत, आदिक में किंचित मात्र भी मल नहीं रहता। यानी उनका शरीर सर्वथा परम निर्मल देदीप्यमान रहता है। उनके नख और केश भी इस प्रकार बढ़े नहीं होते जो कि कैंची या कतरनी से काटे जायें। यानी वे यथासम्भव जैसा चाहिये, उसी अवस्था में समान रहते हैं। उनके मुख में दाढ़ी और मूछ का तो सर्वथा ही अभाव रहता है। भगवान के शरीर में अत्यन्त सुगन्धी सदा बनी रहती है। उनके शरीर में १००८ शुभ लक्षण बने रहते हैं। भगवान के शरीर का रक्त क्षीर के समान बिलकुल सफेद रहता है। उनका शरीर सम-चतुरस्र-संस्थान अर्थात् परम सुन्दर आकार में रहता है और उनमें वज्र-वृषभ-नाराच-संहनन, जो कि उत्तम संहनन कहा गया है, सदा विद्यमान रहता है। उनका वचन परम मिष्ट हितमित होता है। भगवान के शरीर में तीनों लोकों का बल रहता है।

भावार्थ—भगवान के शरीर में पसीना का अभाव, नीहार का अभाव रहता है, उनका शरीर सुगन्धमय १००८ लक्षणों सहित रहता है। उनके रुधिर का वर्ण क्षीर के समान श्वेत रहता है। उनमें समचतुरस्रसंस्थान, बज्र-वृषभ-नाराच संहनन, अत्यन्त अधिक सौन्दर्य, महामिष्ट वचन, अतुल-बल, यह दस अतिशय भगवान के जन्म होते ही प्रकट होते हैं।

आगे केवल ज्ञान के दस अतिशयों का कहते हैं :—

भगवान के केवल ज्ञान होते ही सर्व प्रथम दो सौ योजन पर्यन्त दुर्भिक्ष (अकाल) नहीं पड़ता ॥१॥ केवली भगवान पृथ्वी के समान ऊपर आकाश मार्ग में गमन करते हैं किन्तु उनके शरीर से किसी जीव को कोई बाधा नहीं पहुंचती ॥२॥ केवली भगवान को किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता ॥३॥ केवली भगवान कवलाहार नहीं ग्रहण करते क्योंकि भोजन की इच्छा तो मोहनीय कर्म के उदय से होती है, किन्तु भगवान के मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से अनन्त सुख प्रकट हुआ है। इससे केवली भगवान को आहार का अभाव होता है ॥४॥ केवली भगवान समस्त विद्या के ईश्वर यानी स्वामी हैं ॥५॥ भगवान चतुर्मुखी कहलाते हैं। यद्यपि उनका मुख पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा इन दो दिशाओं की ओर ही रहता है, तथापि केवलज्ञान के अतिशय से १२ सभाओं के जितने भी जीव रहते हैं उन सभी जीवों को चारों ओर से भगवान का मुख दिखाई देता है, अतः चारों दिशाओं के जीव इस प्रकार जानते हैं कि भगवान का मुख तो हमारी तरफ है, इसलिये ही वह चतुर्मुख कहलाते हैं ॥६॥ केवली भगवाग के शरीर की छाया नहीं पड़ती ॥ ७ ॥ भगवान के नेत्रों की पलकें नहीं लगती ॥८॥ केवली भगवान के नख एवं केश नहीं बढ़ते ॥९॥ उनका शरीर परम औदारिक निगोद जीवों से रहित रहता है, इसीलिये वे परमौदारिक कहे गये हैं ॥१०॥

इस प्रकार दश अतिशय का वणन किया गया

आगे देवकृत चौदह अतिशयों को कहते हैं

भगवान की दिव्य ध्वनि सर्व प्रथम अर्धमागधी भाषा में खिरती है। जिसे मण्डप के मध्यमें विराजित समस्त द्वादश सभाओं के जीव अपनी-

अपनी भाषा में भली भाँति समझ लेते हैं। यहाँ पर मागध का अर्थ देव है, उसमें बारह सभाओं के समस्त जीव भगवान की वाणी को एक योजन की दूरी तक अपनी-अपनी भाषाओं में समझते रहते हैं, इसलिये यह दिव्य ध्वनि देवकृत अतिशय समझना चाहिये। इस प्रकार के जितने अतिशय हैं सभी देवकृत हैं, किन्तु यहाँ पर इस प्रकार की शंका नहीं करना चाहिये कि जब यह समस्त अतिशय देवकृत हैं तो भगवान के गुणों की आच्छादना हुई। क्योंकि यह सारे अतिशय भगवान की महिमा के ही हैं। जिस प्रकार अक्षर के विना शब्द का अर्थ नहीं होता उसी प्रकार भगवान के प्रभावसे देव अतिशय को प्रकट करते हैं यानी भगवान के प्रभाव के विना अतिशय नहीं होता।

भावार्थ—उपर्युक्त समस्त अतिशय भगवान् के ही हैं, किन्तु इन्हें देव अपनी शक्ति के वश प्रकट करते हैं। इसी कारण इन अतिशयों को देव-कृत अतिशय भी कहा गया है, और ऐसा कहने में यहां किसी प्रकार का विरोध भी नहीं उत्पन्न होता। भगवान् की दिव्य-ध्वनि मेघ के समान खिरती है। जैसे—मेघ का जल सर्वत्र एक प्रकार बरसता है, किन्तु विभिन्न भाँति के वृक्षों में अनेक रूप प्रकट होता है; उसी प्रकार भगवान् की दिव्य-ध्वनि सदा सर्वत्र समान-रूप से खिरती है, किन्तु पात्रों की विशेषता से वह विभिन्न-रूपोंमें प्रकट होती है। अर्थात् जैसे मेघ का जल वृक्ष का निमित्त पाकर अनेक भेदों-रूप परिणमन करता है, वैसे ही अक्षर रहित (निरक्षरी) भगवान् की वाणी श्रावकों के विशेषज्ञ तथा अल्पज्ञ योग्यता के अनुसार अनेक प्रकार से प्रकट होती है। इस प्रकार समस्त जीव पृथक्-पृथक् भाषा में भगवान् के उपदेश को धारण करते हैं। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि का स्वरूप एक ही है, किन्तु उसके सान्निध्य में

संसार की जितनी रंग-विरंगी वस्तुयें पहुंच जाती हैं, वे सब उसी स्फटिक मणि के समान प्रतीत होने लगती हैं; उसी प्रकार भगवान् की वीतराग वाणी भी एक-रूप है, किन्तु श्रोताओं के अनेक स्वरूप होने पर भी उसके निकट जो लोग रहते हैं, उन्हें एक समान मालूम होती है। भगवान् की दिव्य वाणी को—देव (१), मनुष्य (२) तथा तिर्यञ्च (३) यह समस्त जीव अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। इसी प्रकार अर्ध-मागधी भाषा का स्वरूप जानना चाहिये।

भगवान्‌के समवशरणमें किसी भी जीवके किसी प्रकार का वैर-भाव नहीं होता। वहाँ पर सिंह, गाय, मोर, सर्प, मूसा-बिल्ली आदि जाति-विरोधी जीव भी अपने-अपने वैर-भाव को छोड़ कर परस्पर में मैत्री-भाव रखते हैं। जिस समय भगवान् विहार करते हैं, उस समय समवशरण के नीचे की पृथ्वी को देव, आरसी यानी दर्पणके समान परम निर्मल कर देते हैं। जहाँ पर भगवान् का समवशरण विराजता है अथवा जिस मार्ग से विहार करते हैं, उस मार्ग के दोनों तरफ ६ ऋतुओं के फल-फूल लगे रहते हैं। अर्थात् वहाँ पर षट् ऋतु वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर—इन ६ ऋतुओं के फल फूल सदा लगे रहते हैं। यह सब ऋतुओं के फल-फूल भगवान् के अतिशय के प्रताप से एक काल में प्रकट हो जाते हैं। अनुकूल पवन का गमन कहिये अर्थात् पवन कुमार जाति के देव जो हैं, वे भगवान् के समवशरण तथा विहार के समय ऐसी मन्द सुगन्ध पवन को चलाते हैं, जो भगवान् के सन्मुख नहीं आता है। तो जहाँ-जहाँ भगवान् गमन करते हैं, तहाँ-तहाँ पवन भी उनके पीछे ही चली आती हैं। सर्व जीवों को सुख की प्राप्ति का होना कहा है। भगवान् के समवशरण में कोई भी जीव दुःखी नहीं रहता है। और वहाँ अन्धा पुरुष जाते ही

देखने लगता है, लंगड़ा पुरुष चलने लगता है, बहिरा सुनने लगता है तथा वहाँ क्षुधा नहीं लगती, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायें उत्पन्न नहीं होतीं। तथा वहाँ खांसी, श्वास, इत्यादिक रोगों की वेदना भी नहीं होती है। वहाँ जानेवाले जीव सभी उस वेदना से रहित होते हैं, उनके शरीर में कोई रोग नहीं रहता है। वहाँ शोक, चिन्ता इत्यादिक भय आदि नहीं रहता है। इसलिये उस समवशरण में समस्त जीवों को सुख की प्राप्ति होती है। वहाँ की भूमि कंकड़ से रहित होती है। अर्थात् जहाँ-जहाँ भगवान् विहार करते हैं, वहाँ-वहाँ की भूमि अच्छी तरह साफ रहती है, उसमें काँटे आदि नहीं रहते। उस भूमि को पवन कुमार जाति के देव समवशरण के नीचे एक योजन प्रमाण अर्थात् चार कोस योजन लम्बी उसके आधा योजन प्रमाण, दो कोस चौड़ी जमीन को तृण-रहित रत्नमय मार्ग बना देते हैं। उसके दोनों तरफ एक-एक योजन लम्बी ऐसी दो दीवाल-रूप वेदी की रचना करके देव चला जाता है। जिस गली को साफ किया जाता है, उस गली से ही होकर मनुष्य तिर्यंच गमन करते हैं।

भावार्थ—जब भगवान् के विहार का समय आता है, तब भगवान् अपने समवशरण की ऊँचाई के समान ६-६ कोस १६१६ धनुष एक कमल चार अंगुल प्रमाण ऊपर आकाश में गमन करते हैं, और मनुष्य तिर्यंच जीव उनके नीचे पृथ्वी पर गमन करते हैं। इसलिये नीचे के एक योजन उस पृथ्वी को पवन कुमार जाति के देव तृण-कण्टक-रहित कर देते हैं। गन्धोदक वृष्टि भगवान् के समवशरण में तथा जिस मार्ग से भगवान् गमन करते हैं, उस पृथ्वी पर मेघ कुमार जाति के देव आकाश में अति सुगन्ध-रूप सूक्ष्म जल के कणों की वर्षा करते हैं। २२५ कमल की रचना

करके भगवान् को उस पर से विहार कराते हैं। उस समय कुबेर उन भगवान् के पाँव के नीचे १५ पंक्ति-रूप एक हजार पांखुड़ी के स्वर्णमय २२५ कमल की रचना करते हैं। उसमें ५६-५६ कमल तो चारों दिशाओं में होते हैं एवं एक कमल २२४ कमल के बीच में रहता है। ऐसी १५ पंक्ति-रूप २२५ कमल होते हैं। इसके बीच के कमल पर भगवान् अपने पांव रखते हुये विहार करते हैं।

भावार्थ—केवली भगवान को विहार कर्म का उदय आता है, तब इन्द्र अपने अवधि ज्ञान से जान कर वहां आकर इस प्रकार प्रार्थना करता है कि—हे देव ! यह विहारका समय है, आप विहार कीजिये एवं जीवों का अपनी वाणी के द्वारा उद्धार कीजिये। इस प्रकार इन्द्र की प्रार्थना सुनते ही भगवान का विहार होता है तब उनके पांव के नीचे कुबेर तो २२५ कमल की रचना करते हैं। २२५ कमलों के बीच में (बीच वाले कमल में) मनुष्य के समान, कमल से ४ अंगुल ऊपर भगवान विहार करते हैं। जैसे-जैसे भगवान चलते हैं, कुबेर उनके आगे कमलों की रचना करता जाता है।

प्रश्न—भगवान् तो इच्छा-रहित हैं, तो इच्छा विना भगवान् किस प्रकार चलते हैं ?

समाधान—केवली भगवान चार घातिया कर्मों से रहित हैं; भगवान के नाम कर्मका उदय बाकी है। उससे वाणी का खिरना, उठना, बैठना, भ्रमण करना, पांव उठाना इत्यादि क्रिया होना सम्भव है। इसलिये केवली भगवान की इच्छा बिना ही क्रिया होती है। इसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार भगवान तो आकाशमें अधर ही विहार करते हैं, जो मुनि, अर्जिका, श्रावक श्राविका आदि इन चार प्रकार के संघ, एवं तिर्यञ्च जीव यह सब जमीन पर ही चलते हैं। जो विद्याधर आदि है, चारण मुनि और अन्य सामान्य

केवली जो हैं, वह भी आकाश-मार्ग से चलते हैं। भगवान के समीप ही कुछ दूर पर चलते हैं। और जो बाकी चार प्रकारके देव हैं, उनमें इन्द्र भगवान के पास भक्ति करते हुये भ्रमण करते हैं। इनमें कोई देव भगवान पर चमर ढोरते हुये जाते हैं, कोई देव चोपदार के समान अपने हाथ में रत्नों की छड़ी लेकर भगवान के साथ-साथ चलते हैं। और कोई जय जयकार करते हुये चलते हैं और कोई देव देवियोंके समूह भी भगवानके गुण गाते-गाते जाते हैं। इस प्रकार समस्त देव आकाश मार्ग से गमन करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य तिर्यंच आदि जो पशु हैं, यह सब पृथ्वी पर से भ्रमण करते हैं। भगवान जहां पर जाकर विराजमान होते हैं वहाँ पर सभी देव समव-सरण में अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। इस प्रकार भगवान के विहार के समय उनके पाँवके नीचे २२५ कमलों की रचना होती है। जहां भगवान का समवशरण होता है वहां पर आकाश एक दम स्वच्छ निर्मल होता है, चारों दिशाएँ मेघ पटल से रहित निर्मल होती हैं। धर्मचक्र भगवान के आगे धर्मचक्र भी चलता है। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया गोल रहता है, उसी प्रकार धर्मचक्र भी गोल होता है। भगवान के विहार के समय वह आगे-आगे चलता है। भगवान के साथ साथ सभी देवी देवताओं का समूह आगे-आगे जय जयकार करते हुये जाते हैं। उनके साथ अष्ट मंगल द्रव्य भी रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—चमर, छत्र, कलश, झारी, दर्पण, पंखा, ध्वजा, साथिया— इस प्रकार आठ मंगल द्रव्य जाते हैं।

भावार्थ—अर्ध मागधी भाषा, सभी जीवों का आपस में मैत्री भाव होना, दर्पण के समान भूमि का निर्मल होना, षट् ऋतु के फल-फूल लगे रहना, मन्द सुगन्ध वायु का चलना, सभी जीवों को सुख की प्राप्ति होना, पृथ्वी का तृण एवं कंटक रहित होना तथा गन्धोदक की वृष्टि होना।

२२५ कमलों की रचना होना, आकाश का निर्मल होना, समस्त दिशाओं का निर्मल होना, देवों का जय-जयकार होना, धर्मचक्र होना, अष्ट मंगल द्रव्यों का होना। इस प्रकार भगवान् के देवकृत १४ अतिशय बतलाये गये हैं। इन सबकी रचना करनेवाले देव ही हैं। यह सब क्रिया भगवान् की भक्ति या तीर्थंकर नाम-कर्म के उदय से तथा पुण्य कर्म के उदय से होती है।

आठ प्रकार के देवकृत प्रातिहार्य निम्न प्रकार बतलाये हैं :—

भगवान के समवसरण में सर्व प्रथम अशोक वृक्ष होता है। उस अशोक वृक्ष को देखते ही बारह सभाओं के सभी जीवों का शोक आदि दूर होता है, कल्प वृक्ष भी भगवान के समवसरण में उत्पन्न होता है तथा रत्नों की वर्षा भी भगवान के समवसरण में होती है। भगवान की दिव्य ध्वनि आठ प्रहर में पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न एवं अर्धरात्रि—इस प्रकार चार प्रहर में ६-६ घड़ी तीन प्रहर अक्षर रहित मेघ की गर्जना के समान भगवान के मुख से दिव्य ध्वनि खिरती है।

भावार्थ—भगवान के ओठ, तालु, आदि नहीं हिलते। केवली भगवान के सभी सम्पूर्ण शरीर से ही ध्वनि खिरती है। भगवान की वाणी इस प्रकार होती है जिस प्रकार मानों मेघ की गर्जना हो रही हो, रात दिन में चार बार ६ घड़ी प्रमाण अक्षर रहित भगवान की दिव्य ध्वनि खिरती है। कोई गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती राजा आदि आकर भगवान से प्रश्न करते हैं, इनका निमित्त पाकर भी भगवान की और समय में भी दिव्य ध्वनि खिरती है। इसका कुछ प्रमाण गोम्मटसार आदिके बारहवां अधिकार में बतलाया है। यह दिव्य ध्वनि नाम का प्रातिहार्य है। तीर्थंकर

के ऊपर इन्द्र अपने हाथ से स्फटिक मणि के समान निर्मल तथा देदीप्य-मान इस प्रकार के ६४ सुन्दर चमर भगवान के ऊपर ढ़ोरते जाते हैं।

प्रश्न—भगवान के ऊपर ६४ चमर ही क्यों ढ़ोरे जाते हैं? कम ज्यादा क्यों नहीं है—इसका क्या कारण है?

समाधान—आदि पुराण में जिनसेन आचार्य ने कहा है कि जो राजा के ऊपर १ चमर ढ़ोरा जाता है, राजा महाराजाओं पर २ चमर ढ़ोरे जाते हैं। और अर्ध माण्डलिक पर ४ तथा महामाण्डलिक पर ८ चमर, अर्ध चक्रवर्ती तथा तीन खण्ड के चक्रवर्ती पर १६ चमर ढ़ोरे जाते हैं। ६ खण्ड के अधिपति के (चक्रवर्ती) के ऊपर ३२ चमर ढ़ोरे जाते हैं। पुनः समस्त तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान पर ६४ चमर ढ़ोरे जाते हैं। इस प्रकार से अनादिकाल से परिपाटी चली आई है। इस प्रकार भगवान पर ६४ चमर ही ढ़ोरे जाते हैं। इस प्रकार की यह परिपाटी है। भगवान के नीचे चार कोस ऊंचा स्फटिक मणि के रत्नमय सिंहासन पर भगवान विराजमान होते हैं—भगवान के समवसरण में वह जिस सिंहासन पर विराजमान होते हैं, उसी सिंहासन के पीछे गोल भामण्डल होता है। उसका दर्शन करते ही समस्त संसारी जीव तीन भव की अपनी समस्त बातें जान लेते हैं, और आगे होने वाले तीन भवके बातों को भी जान जाते हैं। और एक भव वर्तमान कालका इस प्रकार सात भव की अपनी जानकारी कर लेते हैं। छठवां-दुन्दुभि बाजे को कहते हैं, वे १२॥ करोड़ जाति के बाजे देवों द्वारा बजाये जाते हैं। वे बाजे समस्त भव्य जीवों को प्रिय लगते हैं, उन्हें सुनते ही समस्त जीव मोहित हो जाते हैं। क्योंकि भगवान मोहनीय कर्म से रहित हैं। इसलिये केवली भगवान को बाजे मोह उत्पन्न नहीं कर सकते है। भगवान के तीन छत्र होते हैं। वे

छत्र, 'भगवान' तीन लोक के स्वामी हैं, इस बात को प्रकट करने के लिये भगवान के ऊपर ही रहते हैं।

भावार्थ—अशोक वृक्ष, दिव्यध्वनि, चौसठ चमर, एक सिंहासन, दुन्दुभि बाजे, तीन छत्र—इस प्रकार आठ प्रातिहार्य भगवान केवली के होते हैं। आगे अनन्त चतुष्टय को कहते हैं।

अनन्त चतुष्टय—अरि का अर्थ मोहनीय कर्म है। 'रज' का अर्थ ज्ञानावरणीय कर्म तथा दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म इस प्रकार के चार घातिया कर्मों को नाश करके अनन्तसुख, ज्ञान, दर्शन, वीर्य इस प्रकार के चार चतुष्टय केवली भगवान को प्रकट होते हैं।

भगवान १८ दोष रहित होते हैं। क्षुधा, तृष्णा, जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, विस्मय, भय, अरति, चिन्ता, खेद, स्वेद मद मोह, निद्रा, राग, द्वेष, इस प्रकार के १८ दोष रहित भगवान केवली होते हैं। इसमें १८ दोषों से रहित केवली भगवान को ३४ अतिशय, आठ प्रतिहार्य, चार अनन्त चतुष्टय—इस प्रकार के ४६ गुण सहित भगवान होते हैं। नीचे पृथ्वी से लेकर ५०० धनुप प्रमाण ऊंचे आकाश में समवसरण की रचना होती है। अब आगे भगवान के समवसरण की रचना का वर्णन करते हैं।

समवसरण की रचना ५०० धनुष प्रमाण ऊंचे आकाशमें १२ योजन चौड़ी झल्लरीके समान गोल रूप रत्नमय भगवान का समवसरण होता है। उसके चारों ओर एक-एक दिशा में एक-एक कोस लम्बी एवं एक-एक हाथ चौड़ी तथा इतनी ही एक-एक हाथ प्रमाण ऊंची २०००० (बीस हजार)

सुवर्णमय पैड़ी होती हैं। उसके नीचे की भूमि से ५००० धनुप प्रमाण ऊंचा होता है।

भावार्थ—एक एक हाथ चौड़े २०००० (बीस हजार) सीढ़ी से युक्त अढ़ाई कोस प्रमाण ऊपर आकाशमें भगवान्‌का समवशरण विराजमान रहता है। यहां पर पांच हजार (५,०००) धनुप प्रमाण अढ़ाई कोस की मोटाई और बारह योजन प्रमाण यानी ४८ कोसकी चौड़ाई को लेकर नील रत्नमणि के समान गोलाकार एक शिला है। वह नीचे से लेकर ऊपर तक स्थित है। उसके चारों ओर बीस हजार (२००००) सीढ़ियां बनी हुई हैं। उसी के ऊपर भगवान् के समवशरण की रचना की गई है। वह शिला समवशरण की समभूमि समझनी चाहिये। इसलिये नीचे भूमि से पांच हजार (५०००) धनुप प्रमाण अढ़ाई कोस ऊँचाई आकाश में आठ भूमि को रचना की गई है। वहां दो हजार धनुप प्रमाण एक कोस ऊँचाई में चार कोट और पांच वेदियां हैं। उसमें पहला धूलिसाल नामक कोट है। वह पांच प्रकार के रत्नों से निर्मित है। पुनः दूसरा कोट है। वह तपाये हुये स्वर्ण के समान लाल रंग का है। तीसरा कोट स्वर्णमय पीत वर्ण है। चौथा कोट स्फटिक मणि के समान तथा चन्द्रमणि के समान श्वेत वर्ण है। इन चारों कोटों के बीच में पांच वेदिकायें हैं, वे भी स्वर्ण-रूप हैं।

भावार्थ—पहला और चौथा ये दो कोट रत्नमय हैं। पुनः बीच के २ कोट और जो पांच वेदियां हैं, वे सातों स्वर्णमय हैं। ऐसे ९ कोट हैं। वहां एक कोट तथा वेदी के चारों दिशाओं में तीन-तीन खण्ड ऊँचे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, नामक चार द्वार हैं। उसमें पूर्व की दिशा की ओर पहला विजय नामक द्वार है, दक्षिण दिशामें दूसरा वैजयन्त नामक द्वार है, पश्चिम दिशा में तीसरा जयन्त नामक द्वार है और उत्तर

दिशा में चौथा अपराजित नामक द्वार है। इस प्रकार ९ कोट की चारों दिशाओं में कुल ३६ (छत्तीस) द्वार हैं। उनमें पहले धूलिसाल कोट के जो चार दरवाजे हैं, वे स्वर्णमय तथा पीत वर्ण के हैं। बीच के जो दो कोट हैं, तथा उसमें जो चार वेदियां हैं, इन छहों के चारों ओर जो २४ दरवाजे हैं, वे रूप्यमय श्वेत वर्ण हैं। उसमें जो एक स्फटिक नामक कोट है, उसके आभ्यन्तर के पांच वेदियों के आठ दरवाजे हैं। उसका रंग मरकत रत्नमय पन्ना के समान हरित वर्ण है। ऐसे समस्त तीन-तीन खण्ड में ३६ दरवाजे हैं। उसमें अनेक देव-देवियां भगवान् का गुणगान करती रहती हैं। उस प्रत्येक द्वार के ऊपर सौ-सौ रत्नमय तोरण हैं। उन समस्त ३६ द्वारों के ऊपर तीन हजार छः सौ (३६००) तोरण हैं। जैसे—यहां के कृत्रिम जिन-मन्दिर के ऊपर स्वर्णमय गोलाकार एक कलश होता है। उसी प्रकार वहां भिन्न-भिन्न एक-एक द्वार के ऊपर रक्तमणिमय लाल वर्ण-रूप सौ-सौ तोरण होते हैं, जो कि अत्यन्त प्रकाशमान होते हैं। इस प्रकार इन तोरणों से सहित तीन-तीन कोस ऊँचा एक-एक द्वार होता है। उस द्वार पर अनेक रत्नमय घण्टा, मोतियों की मालायें एवं अनेक कल्पवृक्ष के पुष्पों की मालायें लटकती रहती हैं। उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों तरफ अष्ट मंगल द्रव्य और नौ निधियों के समूह रहते हैं। वहां एक-एक द्वार के दो-दो पार्श्व (किनारे) हैं। वे बाह्य और आभ्यन्तर भेद से एक-एक द्वार के ४ पार्श्व होते हैं। वहां ३६ द्वार के समस्त १४४ पार्श्वों का तट होता है। उनमें एक-एक तट सम्बन्धी अष्ट मंगल द्रव्य और ९ निधियां विद्यमान हैं। उसमें जो मंगल द्रव्य है, वह एक-एक जाति के भिन्न-भिन्न-रूप से १०८-१०८ होते हैं। और उसके ऊपर एक सौ आठ (१०८) पंखे, १०८ छत्र, १०८ चमर, १०८ कलश,

१०८ झारी, १०८ दर्पण, १०८ ध्वजायें, १०८ साथिया तथ इसी प्रकार भिन्न-भिन्न-रूप में एक-एक जाति के १०८-१०८ मंगल द्रव्य हैं। अतः जैसे—मंगल द्रव्य को कहा है—उसी तरह काल, महाकाल, पाण्डुक, मानवक, शंख, नैसर्प, पद्म, पिंगल, नाना रत्न ये नौ प्रकार की निधियां हैं। वे भी एक-एक जाति के भिन्न-भिन्न-रूप में एक सौ आठ-एक सौ आठ ही हैं। इस तरह एक-एक पार्श्व सम्बन्धी इनकी रचनायें हैं। वहां अष्ट मंगल द्रव्य का जो समूह है, वह द्वार पर ही स्थित है। और जो नौ निधियों का समूह है, वह एक-एक द्वार के दोनों तटों के वाह्य भूमि में स्थित है। उस समय मालूम पड़ता है कि मानों श्रीवीतराग भगवान् से तिरस्कृत होकर वीतराग भाव को प्राप्त होकर द्वार के आगे पड़ कर भगवान् की सेवा कर रहा हो। ऐसे एक-एक द्वार के चार-चार तटों में अष्ट मंगल द्रव्य और नौ निधियों की रचना है। वहां पहली पूर्व दिशा में विजय नामक जो नौ द्वार हैं, उसमें भवनवासी देव अपने हाथ में स्फटिक नामक रत्नमय श्वेत वर्ण-रूप दर्पण लिये हुये खड़े हैं। दूसरी दक्षिण दिशा के वैजयन्त नामक द्वार में व्यन्तर देव अपने हाथ में स्वर्णमय छड़ी लेकर खड़े हैं। पिछली पश्चिम दिशा में जयन्त नामक जो नौ द्वार कहे गये हैं, उनमें ज्योतिषी देव अपने हाथ में रत्नमय गुर्ज लिये खड़े हैं। चौथी उत्तर दिशा का जो अपराजित नामक नौवां द्वार है, उसमें कल्पवासी देव रत्नमय दण्ड लेकर खड़े हैं। इस प्रकार नौ कोट वेदी के चारों दिशाओं के ३६ द्वारों सम्बन्धी ये चार जाति के देव द्वारपाल होते हैं। ऐसे नौ कोट वेदी के समस्त ३६ द्वारों का स्वरूप जानना चाहिये। यहां कोट और वेदी में केवल इतनी ही विशेषता है कि जो कोट है उसमें पृथ्वी सम्बन्धी चौड़ाई अधिक है, किन्तु ऊपर अनुक्रम से हानि-रूप है, और वेदी नीचे से लेकर

ऊपर अन्त तक भित्ति की तरह बराबर एक समान है। इस तरह इन चार कोट और पांच वेदी इन नौ कोटों के बीच में चैत, खातिका, पुष्पवाटिका, उपवन, ध्वजा, कल्पवृक्ष, मन्दिर और सभा ये आठ भूमियाँ हैं। इनके आठवीं सभा नामक भूमि के मध्य में एक गन्धकुटी की रचना है।

भावार्थ—सातवीं मन्दिर नामक भूमि के आगे जो चौथा स्फटिक नामक कोट कहा गया है—उसके बीच में छः हजार धनुप प्रमाण तीन कोस ऊँचा और एक कोस प्रमाण चार कोस का चौड़ा एक गोल मण्डप है। उस मण्डप के बीच में १६ धनुप ऊँची तीन पीठ हैं। पीठ का नाम चबूतरा है। उसमें आठ धनुप ऊँचा और चार हजार धनुष प्रमाण दो कोस चौड़ा गोल-रूप प्रथम पीठ है। उसके ऊपर चार धनुप ऊँचा और दो हजार पाँच सौ धनुष प्रमाण सवा कोस चौड़ाई गोल-रूप दूसरा पीठ है। उसके ऊपर चार धनुष प्रमाण ऊँचा और एक हजार धनुष प्रमाण आधा कोस चौड़ा गोल-रूप तीसरा पीठ है। इन तीनों पीठों के ऊपर छः सौ धनुष प्रमाण ऊँची, छः सौ धनुष प्रमाण लम्बी तथा छः सौ धनुष प्रमाण चौड़ी चौकोर-रूप गन्धकुटी है। उसके ऊपर एक योजन अर्थात् चार कोस ऊँचा एक रत्नमय सिंहासन है। उसके ऊपर स्वर्णमय एक हजार पांखुड़ी का एक कमल है। उस कमल की कर्णिका के बीच में चार अंगुल अधर श्री जिनेन्द्र भगवान् विराजमान हैं। इसलिये नीचे की भूमि से छः कोस एक हजार छः सौ सोलह धनुप प्रमाण का एक कमल और चार अंगुल प्रमाण अधर आकाश में श्री भगवान् विराजमान हैं। ऐसे श्री मण्डप के बीच में तीन पीठ के ऊपर भगवान् की गन्धकुटी है। उसके चारों ओर श्री मण्डप के नीचे दो हजार धनुष प्रमाण एक कोस की चौड़ी आठवीं सभा की भूमि है। उसमें अनुक्रम से भूमि, कल्पवासी देव, मनुष्य,

ज्योतिषी देवियां, व्यन्तर देवियां, भवनवासी देवियां, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यंच इस प्रकार बारह सभायें विराजमान हैं।

भावार्थ—अढ़ाई कोस की मोटाई और बारह योजन की चौड़ाई रत्नमयी जो एक शिला कही गई है, उसके अन्त भाग में पहला धूलिशाल नामक कोट है। उसके पहली चैत्य नामक भूमि है। उसके आगे पहली वेदी है। उसके आगे दूसरी खातिका भूमि है। उसके आगे दूसरी वेदी है। उसके आगे तीसरी पुष्पवाटिका भूमि है। उसके आगे दूसरा कोट है। उसके आगे चौथी उपवन नामक भूमि है। उसके आगे तीसरी वेदी है। उसके आगे पांचवीं ध्वजा नामक भूमि है। उसके आगे तीसरा कोट है। उसके आगे छठी कल्पवृक्ष नामक भूमि है। उसके आगे चौथी वेदी है। उसके आगे सातवीं मन्दिर नामक भूमि है। उसके आगे चौथा कोट है। उसके आगे आठवीं सभा नामक भूमि है। उसके आगे पाँचवीं वेदी है। इस तरह ९ कोट और आठ भूमि इन सत्रहों के बीच में तीन पीठ हैं। उसके ऊपर एक गन्धकुटी है। उस गन्धकुटी के बीच में एक सिंहासन है। उस सिंहासन के ऊपर एक कमल है। उस कमल से चार अंगुल ऊपर आकाश में भगवान् विराजमान हैं। चारों दिशाओं की सीढ़ियों में अपनी-अपनी लम्बाई के समान एक कोस की चौड़ी और पहली धूलिशाल नामक कोट के दरवाजे से लेकर समवशरण के बीच में गन्धकुटी के दरवाजे तक २३ कोस की लम्बी चार महागली हैं। उन महागलियों के मार्ग में होकर केवली भगवान् के दर्शनार्थ समवशरण के अन्दर आते-जाते हैं। इन चारों गलियों के प्रत्येक गली के दो-दो पार्श्व यानी तट में स्फटिक नामक मणिमय श्वेतवर्ण रूप एक कोस की ऊँची और सात सौ पचास धनुषकी चौड़ी

तथा अपनी गली के समान २३ कोस की लम्बी दो-दो दीवालें हैं। इनको वेदी भी कहते हैं। इस प्रकार चारों दिशाओं की महागलियों में कुल आठ वेदियां हैं। वे पृथक्-पृथक एक-एक वेदी अनेक द्वारों से सुशोभित हैं। उन दरवाजों में वज्रमयी किवाड़ें लगे हैं। इन वेदियों की दायीं और वायीं तरफ आठ-आठ भूमियां हैं। वहां पर जो कोई भव्य जीव उन आठ-आठ भूमियों की रचना को यदि देखना चाहे तो उपर्युक्त द्वारों के बीच में से जायगा। इस प्रकार समवशरणके अन्दर भूमियों का वर्णन किया गया।

अव आगे आठ भूमियों की रचना में मानस्तम्भ की रचना का वर्णन करते हैं:—

पहली चैत्य नामक भूमि की चारों दिशाओं के बीच में चारों ओर चार द्वारों से संयुक्त तीन-तीन पीठ हैं। उन पीठों के ऊपर ६००० धनुष प्रमाण तीन कोस के ऊँचे स्वर्णमय गोल-रूप एक-एक मानस्तम्भ है। उसकी दो हजार (२०००) धारायें हैं। वे सभी धारायें खम्भों के पहल के अनुसार हैं। उन मानस्तम्भों के नीचे मूल भाग में तीसरे पीठ के ऊपर एक-एक दिशा में एक-एक जिनविम्व विराजमान हैं। उन जिन-विम्वों का अभिषेक इन्द्रादिक देव क्षीर-सागर के जल से करते हैं। पृथक्-पृथक् एक-एक अरहन्त प्रतिमा आठ-आठ प्रातिहार्यों से युक्त है।

प्रातिहार्य—अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, दिव्यासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र ये आठ प्रातिहार्य हैं। इन आठों में सबसे अधिक विशेपता दिव्यध्वनि की है। समस्त भव्य जीव इसे सुन कर अपने-अपने कल्याण के मार्ग अपनाते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार चार प्रतिमा से युक्त एक दिशा में एक-एक मानस्तम्भ है। उसे देखते ही मिथ्यादृष्टि जीव का मान गल जाता है।

इसी कारण उसका नाम मानस्तम्भ है। अर्थात् मानस्तम्भ को देखने से इन्द्रादिक देवोंका भी मान गलित हो जाता है। अतः समवशरणमें जो जीव जाते हैं, वे सबसे पहले मानस्तम्भ को नमस्कार करते हैं। इसलिये मानस्तम्भ का नाम सार्थक हुआ। पहली चैत्यभूमि की चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ हैं। जिनमें सोलह जिन-प्रतिमायें हैं। इसलिये इस पहली पृथ्वी का नाम चैत्यभूमि सार्थक हुआ। इस प्रकार पहली चैत्यभूमि के विषय में चार मानस्तम्भ का स्वरूप समझना चाहिये। उन मानस्तम्भों की चारों दिशाओं में एक-एक बावड़ी है। पहली पूर्व दिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी नन्दा, नन्दोत्तरा, नन्दावती और नन्दघोषा ये चार बावड़ी हैं। दूसरी दक्षिण दिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित इस प्रकार चार बावड़ी हैं। इसी तरह पश्चिम दिशा के मान-स्तम्भ सम्बन्धी अशोक, महाशोक, कुमुदा, पुण्डरीका ऐसी चार बावड़ी हैं। पुनः उत्तर दिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी नन्दा, महानन्दा, सुप्रतिबोध, प्रभंकरी इस प्रकार चार बावड़ी हैं। इस तरह चारों दिशाओं में कुल सोलह बावड़ियां हैं। वे सभी बावड़ियां परम निर्मल जल से पूरित हैं। उसमें अनेक रत्नमय कमल विकसित रहते हैं। इस प्रकार चारों ओर से बावड़ियां चौकोर हैं। उसमें पादप्रक्षाल करने के लिये दो-दो कुण्ड बने हुये हैं। उन कुण्डों के जल से भव्य जीव अपने चरण धोकर पुनः उस बावड़ी के जल से जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करते हैं। इस प्रकार मानस्तम्भ की पूजा करने के पश्चात भगवान् की पूजा करते हैं। इस तरह पहली चैत्यभूमि के विषय में सोलह बावड़ियों के स्वरूप को जानना। जो पहला धूलिसाल नामक कोट है, उसकी चारों दिशाओं में जो चार महा-गलियां कही गई हैं, उनके बीच में स्फटिक मणि के श्वेतवर्ण-रूप दो नाट्य-

शालायें हैं। इस तरह चारों गलियों सम्बन्धी कुल आठ नाट्यशालायें हुईं। प्रत्येक नाट्यशाला तीन-तीन खण्ड की ऊँचाई में है। प्रत्येक नाट्यशाला में बत्तीस-बत्तीस अखाड़े हैं और उन एक-एक अखाड़े में बत्तीस-बत्तीस भवनवासिनी देवियाँ नृत्य करती रहती हैं। और एक-एक नाट्यशालायें दोनों किनारे दो धूप-घट रहते हैं। इस प्रकार पहली चैत्यभूमि सम्बन्धी आठ नाट्यशालाओं को समझना।

भावार्थ— चैत्यभूमि सम्बन्धी चार मानस्तम्भ, सोलह बावड़ी, बत्तीस कुण्ड, आठ नाट्यशालायें हैं।

अब आगे खातिका भूमि का वर्णन करते हैं :—

पहली और दूसरी बेदी के बीच में दूसरी खातिका नामक भूमि बतलाई गई है। उसमें जल की रचना है। इसलिये इसका नाम खातिका भूमि है। दूसरी भूमि की चारों दिशाओं में पहली भूमि के समान एक-एक कोस चौड़ी चार महागलियाँ हैं। उस महागली के मार्ग को छोड़ कर उसके चारों ओर के अन्तराल में एक सौ पच्चीस धनुष नीचे एक जल से पूरित खातिका है। उसमें विविध भांतिके स्वर्णमय एक-एक हजार पांखुड़ी के कमल फूल रहे हैं। उसके चारों ओर एक-एक हाथ चौड़ी और ऊँची पैड़ियां बनाई गई हैं। इन चारों खाइयों के दोनों तटों में हँस, मोर, चकवा-चकवी आदि अनेक मायामयी पक्षी शब्द करते रहते हैं। इस प्रकार दूसरी खातिका का वर्णन समाप्त हुआ।

अब आगे तीसरी पुष्पवाटिका का वर्णन करते हैं :—

दूसरी वेदी और दूसरे कोट के बीच में तीसरी पुष्पवाटिका नामक भूमि है। उसमें अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पुष्पों की रचना है। इससे इसका नाम पुष्पवाटिका है। तीसरी भूमि की चारों दिशा सम्बन्धी दूसरी

भूमि के समान एक-एक कोस की चौड़ी चार महागलियाँ हैं। उन महा-गलियों के मार्ग को छोड़ कर उनके चारों अन्तरालों में वेलिवन है। उसमें अनेक प्रकार की रत्नमयी वेलें फैली रहती हैं। उन वेलों में भांति-भांति के सुन्दर-सुन्दर पुष्प लगे रहते हैं। उस वन में अनेक प्रकार के क्षुद्र यानी छोटे-छोटे पर्वत रहते हैं। उन पर्वतों के ऊपर जगह-जगह वेलि के मण्डप बने हुये हैं। उसमें अनेक देव-देवियां भगवान् का गुणानुवाद गाती रहती हैं। इस प्रकार पुष्पवाटिका का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे चौथी उपवन भूमि का वर्णन करते हैं:—

दूसरे कोट और तीसरी वेदी के बीच चौथी उपवन नामक भूमि है। उसमें अनेक वृक्षों की रचना है। इसलिये उसका नाम उपवन भूमि है। इस उपवन नामक बाग में चौथी भूमि की चारों दिशाओं में तीसरी भूमि के समान एक-एक कोस चौड़ी चार महागलियाँ हैं। उन महागलियों के मार्ग को छोड़ कर उनके चारों अन्तराल में एक-एक तरफ चार-चार वन की पंक्तियां अशोक, सप्तच्छद, चम्पक, आम्र इस प्रकार भिन्न-भिन्न-रूप से चार वन की श्रेणियाँ हैं। उनमें पहले अशोक नामक वृक्ष को देख कर संसारी जीव के समस्त शोक दूर हो जाते हैं। इसीलिये उसका नाम अशोक वृक्ष पड़ा। दूसरे सप्तच्छद वृक्ष के ऊपर एक-एक शाखा में सात-सात पत्ते होते हैं। इसीसे इसका नाम सप्तच्छद है। तीसरा चम्पक वृक्ष है। उसकी ज्योति दीपक के समान जगमगाती रहती है। इसलिये उसका नाम चम्पक वृक्ष रक्खा गया। चौथा जो आम्र का वृक्ष है, उसके ऊपर अनेक प्रकार के आम लगे हुये हैं। इसलिये उसका नाम आम्र वृक्ष रक्खा गया। उसके ऊपर अनेक मायामय पक्षी गुंजार करते रहते हैं। पुनः उस वन में त्रिकोण-चतुष्कोण निर्मल जल से पूरित बावड़ियां बनी हुई हैं।

उनकी पैड़ियां रत्नों की बनी हुई हैं। उनके तट स्वर्णमय हैं। उस वन सम्बन्धी रत्नमय अनेक पर्वत बने हुये हैं। वहाँ पर अनेक रत्नमय महल भी हैं। उन महलों में अनेक देव-देवियां क्रीड़ा करती रहती हैं। इस प्रकार विविध भाँति की रचनाओं से वह महावन सुशोभित रहता है। पहले कहा हुआ जो अशोक नामक वन है, उसके बीच में अशोक नामक चैत्य वृक्ष है। उसके चारों ओर एक-एक कोट है। उस कोट के चार-चार दरवाजे हैं। ऐसे तीन कोट के भीतर बीच में स्वर्णमय तीन पीठ हैं। उसके ऊपर तीन कोस ऊँचा एक अशोक वृक्ष है। उस वृक्ष के नीचे मूल-भाग सम्बन्धी तीसरी पीठ के ऊपर एक-एक दिशा में एक-एक अरहन्त भगवान् की प्रतिमा हैं। इसलिये एक अशोक वन सम्बन्धी एक अशोक नामक चैत्य वृक्ष है और उसके ऊपर चार जिन-प्रतिमायें विराजमान हैं। इसलिये इसको चैत्य वृक्ष कहा गया है। इसी तरह दूसरे सप्तच्छद नामक वन में सप्तच्छद चैत्य वृक्ष है तथा ऐसे तीसरे चम्पक वन में चम्पक नामक चैत्यवृक्ष है। इसी प्रकार चौथे आम्र वन में आम्र नामक चैत्य वृक्ष है। यहां चैत्य नाम जिन-प्रतिमा का है। इसलिये चारों चैत्य वृक्ष अपना-अपना नाम सार्थक करके विराजमान हैं। इस तरह चौथी भूमि के चारों अन्तराल सम्बन्धी सोलह चैत्य अशोक, सप्तच्छद, चम्पक, आम्र इन चारों जातियों के अनेक वृक्ष हैं। जिस प्रकार पहली चैत्य नामक भूमि की चारों गलीके दोनों किनारे आठ-आठ नाट्यशालाओंका वर्णन किया गया है। उसी प्रकार दूसरे कोट के आभ्यन्तर चारों गलियों के दोनों किनारे आठ-आठ नाट्यशालायें हैं, परन्तु यहाँ इतना विशेष है कि वहां तो भवनवासी देवियाँ नृत्य करती हैं और यहां पर कल्पवासिनी देवियां नृत्य करती हैं।

भावार्थ—चौथी उपवन भूमि के अन्दर सोलह चैत्य नामक वृक्षों की

चारों दिशा में चौंसठ जिन-प्रतिमायें, आठ-आठ नाट्यशालायें, अनेक बावड़ी, पर्वत, महल तथा अनेक वृक्षों की रचनायें हैं। ऐसी चौथी उपवन नामक भूमि का स्वरूप जानना।

आगे पाँचवीं ध्वजा भूमि की रचना को कहते हैं :—

तीसरी वेदी और तीसरे कोट के बीच में पाँचवीं ध्वजा नामक जो भूमि कही गई है, उसमें दश प्रकार की ध्वजाओं की रचनायें हैं। इसलिये उसका नाम ध्वजाभूमि पड़ा। वहां पर चारों महागलियों के मार्ग को छोड़ कर चारों अन्तराल में सिंह, हस्ती, वृषभ, मोर, हँस, गरुड़, वस्त्र, माला, कमल और चक्र इस प्रकार दश प्रकार की ध्वजायें एक-एक दिशाओं में तिष्ठती हैं। उनके अट्ठासी अंगुल प्रमाण चौड़े और तीन कोस ऊँचे रत्नमय दण्ड हैं तथा उनके वस्त्र भी रत्नमय ही हैं और वे वस्त्र पवन के झकोरे लगने से लहराते रहते हैं। उनकी शोभा ऐसी मालूम पड़ती है कि मानों वे भव्य जीवों को अपनी ओर बुला रही हों। उनमें पहली सिंह ध्वजा में सिंह के आकार में वस्त्र लहराता रहता है और इसी प्रकार अन्य हस्ती, वृषभ, मोर, हँस, गरुड़, वस्त्र, माला, कमल और चक्र इन नौं जाति की ध्वजाओं के आकार में वस्त्र लहराते रहते हैं। इसलिये दश प्रकार की ध्वजाओं में पृथक्-पृथक् दश प्रकार के चिन्ह हैं। ये दश प्रकार की ध्वजायें पृथक्-पृथक् एक-एक दिशा में एक सौ आठ रहती हैं। इसलिये समस्त दश प्रकार की ध्वजायें एक दिशा में एक हजार अस्सी (१०८०) हुई। तो इस हिसाब से चारों दिशाओं की कुल चार हजार तीन सौ बीस (४३२०) ध्वजायें हैं। उनके बीच में परस्पर पच्चीस-पच्चीस धनुष का अन्तराल है। इस प्रकार पाँचवीं भूमि का स्वरूप जानना।

आगे पांचवीं ध्वजा भूमि की रचना को कहते हैं :—

तीसरे कोट और चौथी वेदी के बीच में छठी कल्पवृक्ष नामक भूमि कही गई है उसमें दश प्रकार के कल्पवृक्षों की रचना है। इसलिये इसका कल्पवृक्ष भूमि नाम पड़ा। वहां चारों महागलियों के मार्ग को छोड़कर उसके चार-चार अन्तराल में चार-चार ही कल्पवृक्षोंके नाम—गृहांग १ भाजनांग २, आभूषणांग ३, वस्त्रांग ४, भोजनांग ५, मद्यांग ६, ज्योतिरांग ७, मालांग ८, वादित्रांग ९, तथा दीपांग १०। ऐसे दश प्रकार के कल्पवृक्ष एक-एक वनमें छः हजार धनुष प्रमाण तीन-तीन कोस ऊंचे स्थित है। वहाँ एक एक वन में अशोक नामक चैत्यवृक्ष के समान एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष है। उनके नाम क्रमशः मेरू १, मन्दार २, पार ३, और संतान ४, ऐसे चार प्रकार के हैं। उनके मूलभाग में सिद्ध प्रतिमा विराजमान है।

भावार्थ—जिस प्रकार चौथी उपवन नामक भूमिकी चारों दिशाओं में चार चार वनश्रेणियां कही गई हैं उसी प्रकार यहां भी एक एक दिशा में चार चार दश प्रकार के कल्पवृक्षों की वनश्रेणियां हैं। उस एक एक वनश्रेणी के बीच में एक एक सिद्धार्थवृक्ष है। वहां पहले मेरू नामक वन के बीच में तो एक मेरू नामक सिद्धार्थ वृक्ष है। उसके चारों ओर तीन कोट हैं और एक एक कोट के चार चार दरवाजे हैं। उन तीनों कोटों के भीतर बीच में सुवर्णमयी तीन पीठ हैं। उनके ऊपर तीन कोस के ऊंचे एक एक मेरू नामक सिद्धार्थ वृक्ष हैं। उन मेरूवृक्षों के नीचे मूलभाग में तीसरे पीठ के ऊपर एक एक दिशा में एक एक सिद्ध भगवान की प्रतिमाजी विराजती हैं।

प्रश्न—सिद्ध भगवान जी की प्रतिमा का आकार किस प्रकार है ?

उत्तर—अरहन्त भगवान के समान श्री सिद्ध भगवान की वीतराग मूर्ति साढ़े तीन हाथ से लेकर कुछ कम पांच सौ धनुष प्रमाण होती है, उसमें इतना विशेष है कि अरहन्त भगवान की प्रतिमा के निकट आठ-आठ प्रातिहार्य होते हैं, किंतु सिद्ध भगवानके निकट प्रातिहार्य नहीं होते। इसके अतिरिक्त समस्त रचना अरहन्त भगवानके समान ही रहती है। इस तरह एक एक वन सम्बन्धी मेरू नामक सिद्धार्थ वृक्ष है और उसमें चार सिद्ध प्रतिमा विराजमान हैं। वहां पर उस वन संबंधी अनेक रत्नमयी महल बने हुए हैं एवं ६ पर्वत भी विद्यमान हैं। वहां की बावड़ी निर्मल जल से परिपूर्ण है। इस प्रकार पहले वन के सिद्धार्थ मेरू का स्वरूप जानना चाहिये। अथवा जिस पहले मेरू वन में एक सिद्ध नामका जो वृक्ष कहा गया है उसी प्रकार दूसरे मन्दार जाति के वन में एक मन्दार नामका वृक्ष है। इसी तरह तीसरे पारिजात वन में एक पारिजान सिद्धार्थ नामक वृक्ष है। इसी प्रकार चौथे सन्तान जाति के वन में एक सन्तान नामक सिद्धार्थ वृक्ष है। इस प्रकार छोटो भूमि के चारों ओर १६ सिद्धार्थ नामक वृक्ष एवं उसमें ६४ सिद्ध प्रतिमा जी विराजमान हैं। पुनः जिस प्रकार चौथी उपवन नामकी गली के दोनों ओर ८ नाट्यशालायें कही हैं उसी तरह यहाँ भी तीसरे कोट के आभ्यन्तर चारों महागलियों के दोनों तरफ ८ नाट्यशालायें हैं। किन्तु यहां पर इतनी विशेषता है कि कल्प वासिनी देवियां यहां पर नृत्य करती हैं। यहां की नाट्यशाला श्वेतवर्ण की है और श्वेत तथा स्वर्णमय स्तम्भ है।

सातवीं भूमि का वर्णन

चौथी वेदी और चौथे कोट के बीच में सातवीं मन्दिर नामकी भूमि है। उसमें अनेक पंक्ति रूप जिन मन्दिर की रचना है। इसलिये उसका

नाम मन्दिर भूमि है। उन चारों गलियों के मार्ग को छोड़कर उसके चारों अन्तरालों में तीन तीन कोस ऊंचे शिखर निर्मित रत्नमय जिन-मन्दिर है। उनमें अनेक वेदी विद्याधर तथा चारण मुनि भगवान के गुनगान गाते हैं। इस मन्दिर भूमि की एक एक दिशा सम्बन्धी तीन कोस ऊंचे रत्न नाम मनिमय अत्यन्त सुन्दर नव स्तूप है। उनमें प्रत्येक के ऊपर एक एक अरहन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान है। वह प्रतिमा अष्ट मंगल द्रव्य तथा अष्ट महाप्रातिहार्य से युक्त है; ऐसे नव-नव स्तूप के अन्तराल में दीवाल के स्तम्भ के समान गोल रूप रत्नमय १००,१०० तोरण हैं।

भावार्थ - सातवीं मन्दिर भूमि की चारों दिशा में ३६ स्तूप तथा उनके ऊपर इतनी ही प्रतिमायें विराजमान हैं। इसके साथ साथ ४०० तोरण अनेक प्रकार के महल वापी तथा विविध भाँतिके पर्वतों की रचनायें हैं। इस प्रकार इस सातवीं मन्दिर नाम की भूमि का वर्णन किया गया।

आठवीं भूमि का वर्णन निम्न प्रकार है:—

वहां पर चौथे कोट तथा पांचवीं वेदी के बीच में आठवीं सभा नाम की भूमि है। उस भूमि में मुनि, कल्पवासी देव, मनुष्य, स्त्री, ज्योतिषी देवी, व्यन्तरदेव, देवी, भवनवासी देव, देवियां, व्यन्तरदेव, कल्पवासी देव, ज्योतिष देव, तिर्यन्च। इस प्रकार की १२ सभायें हैं। इस कारण इस भूमि का नाम सभा भूमि पड़ा। वहां चारों अन्तराल में एक-एक दिशा सम्बन्धी तीन-तीन सभायें हैं। इसलिये चारों दिशाओं के सब ओर १२ सभायें कही गई हैं। इसका भावार्थ इस प्रकार है—

भावार्थ:—सातवीं मन्दिर भूमि के आगे चौथा स्फटिक नामक कोट

बतलाया गया है, इसके मध्य तीन कोस ऊंचा तथा चार कोस चौड़ा गोल रूप श्रीमंडप है। इसके मध्य में गन्धकुटी के ऊपर भगवान की प्रतिमा विराजमान है। इस कारण इसको नाम श्री मंटप बतलाया गया है। इस श्री मण्डप में एक अशोक वृक्ष है, वह एक योजन प्रमाण श्रीमण्डप के नीचे समस्त बारह सभा के जीवों के शोक को दूर करता है। इसलिये इसका नाम अशोक वृक्ष है। अर्थात वह अशोक वृक्ष वज्रमय है, उसकी शाखायें रत्नमय हैं। उसके पत्र रत्न तथा मरकत मणि के समान हैं एवं रत्न मणिमय लाल वर्ण रूप उसके पुष्प हैं। इस प्रकार इस वृक्ष का स्वरूप समझना चाहिये। उसकी शाखायें एक योजन प्रमाण हैं एवं श्री मण्डप के चारों ही ओर फैली हुई छः हैं। इस श्री मंडप में अनेक मोतियों की मालायें, रत्नघट, धूपघट, इत्यादि विविध भांति की रत्नमयी रचनायें हैं। इस श्री मंडप के बीच में जो तीन-तीन पीठ कहे गये हैं, उनमें चौथे स्फटिक नामक कोट से लेकर आगे भगवान की गन्धकुटी के नीचे पहले पीठ की ऊंचाई एक-एक कोस है एवं उसकी चौड़ाई ७५० धनुष है। इस प्रकार स्फटिक मणि के श्वेत रूप १६ भीतियों की वेदी हैं। उसमें जो ८ वेदियां हैं वे ४ गलियों के दोनों तरफ हैं। आठ वेदियों से चार अन्तराल के बीच में और एक-एक अंतराल में दो वेदी हैं। इसलिये एक-एक दिशा में चार-चार वेदियां हुईं। उस वेदी के बीच में तीन-तीन कोठे हैं। इस प्रकार चारों दिशाओं के कुल १२ कोठे तथा १६ भीतियां हैं।

भगवान की गन्धकुटी की रचना का वर्णन निम्न प्रकार है:—

चौथे कोठे के आगे श्री मंडप के नीचे स्वर्णरूप गोलाकार जो पांचवीं वेदी है उसके बीच में तीन पीठ हैं। उसमें पहले पीठ की ऊंचाई

तो आठ धनुष है। तथा ४००० धनुप प्रमाण दो-दो कोस चौड़े मरकत मणि तथा पन्ने के सम्मान हरित वर्ण गोलाकार है। यहां पहली पीठ की चारों दिशाओं में एक कोस की चौड़ी तथा २३ कोस लम्बी जो चार महागलियां वतलायी गई हैं, उनकी सीध में जो १२ सभायें हैं, उनकी सीध में १—१ हाथ की चौड़ी तथा इतनी ही एक-एक प्रमाण ऊंची वत्तीस-वत्तीस चढ़ने उतरने की सीढ़ियां हैं।

भावार्थ—भगवान की गन्ध कुटी के चारों ओर १६+१६=३२ सीढ़ियां हैं। उनमें एक-एक दरवाजा है। इसलिये गन्धकुटी के चारों ओर १६ द्वार कहे गये है। उनमें चार द्वार तो चारों दिशाओं की महागलियों सम्बन्धी हैं, तथा १२ द्वार वारह सभा की तरफ हैं। इस प्रकार इन १६ द्वारों की ३२ सीढ़ियों द्वारा ही मार्ग होता है। उस मार्ग से गणधर देव, इन्द्र महाराज तथा चक्रवर्ती आदि जितने भी भव्य जीव हैं वे सव इस प्रथम पीठ के ऊपर चढ़कर तीर्थंकर भगवान की पूजा भक्ति करते हैं। इसके आगे दूसरे पीठ के ऊपर नहीं जाते। इस प्रकार नियम वताया है। इसलिये पहली पीठ तक ही जाते हैं, आगे नहीं। वहां पूजा करके पुनः उसी जीने के मार्ग से उतर कर अपनी-अपनी सभा में आकर वैठ जाते हैं।

प्रश्न—भगवान के समवसरण में वार-वार भव्य जीवों का गमन होता है, ऐसा कहा है; परन्तु अभव्य जीवों के जाने के लिये क्यों नहीं वतलाया ?

समाधान—यह नियम है कि वहां पर भव्य जीव ही जाते हैं, अभव्य नहीं।

भावार्थ—शास्त्रों का ऐसा नियम है कि अभव्य जीव भगवान के

समवसरण में नहीं जाते। मिथ्यादृष्टी जीव समवसरण में जाते ही सम्यक्त को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये भव्य जीवों को ही समवसरण में जाने के योग्य भगवान ने बतलाया है।

प्रश्न—क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति मनुष्य में होती हैं या तिर्यंच में ?

समाधान—क्षायिक सम्यक्त्व मनुष्य को ही होता है तिर्यन्त को नहीं। इस प्रकार गोम्मटसार में सम्यक्त्व मार्गणा में बतलाया गया है। वह क्षायिक सम्यक्त्व मनुष्य को केवली अथवा श्रुत केवलीके निकट ही होता है, अन्य कहीं नहीं। इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ होते ही वहाँ उसकी आयु पूरी होते ही जो पूर्णता होती है वह पहली आयु बन्ध से चारों गतियों में होती हैं।

भावार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ केवली तथा श्रुत केवली के निकट ही मनुष्य को होता है, अन्य किसी को नहीं। परन्तु वहाँ कर्मका अन्त होते ही उसकी पूर्णता चारों गति में होती है। इसलिये केवली भगवान के निकट ही जीव की आयु पूरी होती है। परन्तु वहां अकाल मृत्यु नहीं होती। इसलिये भगवान के समवसरण में पहली कुटी के नीचे जो पहला पीठ है वहाँ देव मनुष्य तिर्यंच इस प्रकार तीन भेदवाले संसारी जीव का गमन होता है इसके आगे नहीं। इस पीठ की एक-एक दिशा में एक-एक धर्म चक्र एवं आठ-आठ मंगल द्रव्य हैं। जो कि क्रमशः झारी, कलश, दर्पण, स्वस्तिक, छत्र, ध्वजा, पंखा, चामर इन आठ नामोंसे प्रख्यात हैं। और १००० गाड़ी के पहिये के आरे के समान गोल आकार रूप सूर्य के प्रकाश के समान धर्म चक्र का स्वरूप है। उस चक्र को यक्ष देव अपने मस्तक पर धारण किये खड़े रहते हैं। इस प्रकार चार हजार धनुप

चौड़ा जो पहिला पीठ बतलाया गया है, उसके सात सौ पचास धनुष चौड़ी एक छोटी सी कटनी है उसके दोनों तरफ की चौड़ाई १५०० धनुष है। इसलिये पहले पीठ के ऊपर ४ धनुष ऊंचा तथा २५०० धनुष चौड़ा दूसरा पीठ कहा है। इस स्वर्णमयी दूसरे पीठ पर हाथी, वृषभ, गरुड़, चक्र, कमल, वस्त्र, माला—ये आठ प्रकार रत्नमयी ध्वजाये हैं। पहली पीठ के समान ही ७५० धनुप चौड़ी सी कटनी है। उसके दोनों ओर १५०० धनुप प्रमाण स्थान है। इसलिये दूसरे धनुष के ऊपर चार धनुष ऊंचा तथा १००० धनुष चौड़ा पंच प्रकार का रत्नमय तीसरा पीठ बतलाया गया है। तीसरे पीठ पर ६०० धनुष ऊंची, ६०० धनुष लम्बी तथा इतनी ही चौड़ी अनेक रत्नमयी चौकोर रूप ६४ गन्ध कुटी है। वहां भगवान के शरीर की सुगन्धि से समस्त दिशायें सुगन्धमयी हो जाती हैं, इसलिये इसको गन्ध कुटी कहा गया है। इस गन्ध कुटीको अनेक मोती की मालाओं तथा अनेक जाति की रत्नमयी ध्वजाओं द्वारा सुशोभित किया गया है। इसके बीच में एक योजन प्रमाण यानी चार कोस ऊंचा स्फटिक मणि का सिंहासन है। इसके चारों पायों को इस प्रकार बनाया गया है कि मानों सामने प्रत्यक्ष सिंह ही बैठा हो अथवा वह सिंह मानों भगवान की भक्ति करने के लिये श्रावक व्रत धारण करके अपने समभाव पूर्वक धर्म श्रवण करने के लिये निकट में आया हो। इसलिये इसका नाम सिंहासन पड़ा है। इस सिंहासन पर स्वर्णमय हजार पाँखुड़ी का एक कमल है। इस कमल के चार अंगुल प्रमाण ऊपर अर्थात् अन्तरिक्ष भाग में भगवान विराजमान हैं। इसलिये नीचे की भूमिसे १६१६ धनुष तथा चार अंगुल प्रमाण ऊंचे आकाश में केवली भगवान विराजमान हैं। नीचे की भूमि से ५००० धनुष प्रमाण

ऊपर आकाश में श्री मंडप के नीचे १२ सभाओं के जीव निवास करते हैं।

गन्धकुटी के ऊपर विराजमान हुये केवली भगवानके शरीर की ज्योति का चारों ओर गोलरूप इस प्रकार का एक पुंज है जिसकी प्रभा समस्त समवसरण में व्याप्त हुई है। इसलिये उसका नाम प्रभा मण्डल है।

भावार्थ—भगवान की देह के प्रमाण गोलाकार रूप गन्ध कुटी के चारों ओर एक भामण्डल है। उस भामण्डल से समस्त जीव देव तथा तिर्यन्च आदि के तीन भव आगे तथा तीन पीछे गये हुए भवों की और एक वर्तमान इस प्रकार सात भव की जानकारी जीव को हो जाती है। इस प्रकार आठ भूमि के बीच में भगवान की गन्ध कुटी की रचना का स्वरूप जानना चाहिये। इस गन्ध कुटी के चारों ओर एक कोस चौड़ी इस प्रकार बारह सभायें हैं उनमें जीव बैठकर धर्म का उपदेश प्राप्त कर सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार बारह योजन चौड़ी तथा ४८ कोस प्रमाण समवसरण की रचना का जो वर्णन किया है वह इस समय विदेह क्षेत्र में वर्तमान है। वहां पर वह हमेशा वर्तमान रहती है। इस भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल के आदि में तो उत्कृष्ट १२ योजन की रचना होती है। तथा इसके आगे अनुक्रम से यह घटते जाते हैं, जैसा कि पहले वृषभदेव भगवान के समवसरण का विस्तार १२ योजन बतलाया गया है। एवं अन्त में २२ वे नेमिनाथ भगवान के आधे योजन बतलाया है। तेईसवें पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें महावीर भगवान के पाव-पाव योजन घट गया। इसलिये अन्त के विषय भगवान महावीर स्वामी का समवसरण १ योजन चौड़ा कहा है।

नाभेयस्य शतानि पंच धनुषां मानं परं कीर्तित्तम ।
सद्भिस्तीर्थंकराष्टकस्य निपुणैः पंचाशदूनं हि तत् ।।
पंचानां च दशानकं भुवि भवेत्पचोनकं चाष्टके ।
हस्ताः स्युर्न वसप्त चान्त्यजिनयोर्येषां नु तान्नौम्यहं ।।
समवसरणमानं योजनं द्वादशादि ।
जिनपतियदुयावद्योजनार्द्धार्द्धहानिः ।।
कथयति जिनपार्श्वे योजनैकं सपादं ।
निगदितजिनवीरे योजनैकं प्रमाणम् ।।

भगवान आदि नाथ के शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष थी । तदूनन्तर अजित नाथ भगवान से पुष्पदन्त भगवान तक ५० धनुप प्रति भगवान छ कम होती चली गई। पुष्प दन्तनाथ भगवान के शरीर की ऊंचाई १०० धनुप थी। शीतल नाथ भगवान से अनन्त नाथ भगवान तक दस-दस धनुप की ऊंचाई कम होती ही गई। अनन्त नाथ भगवान के शरीर की ऊंचाई ५० धनुप थी। धर्मनाथ भगवान से नेमिनाथ भगवान तक ५-५ धनुप की ऊंचाई घटती गई। नेमिनाथ भगवान की ऊंचाई १० धनुष थी। पार्श्वनाथ व भगवान की ऊंचाई नव हाथ थी। तथा महावीर भगवान की ऊंचाई सात हाथ थी इस प्रकार मैं इन सभी भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

आदि नाथ भगवान के समवसरण की लम्बाई १२ योजन थी। तत्पश्चात आधे योजन समवसरण की लम्बाई घटती गई, पार्श्वनाथ भगवान के समवसरण की लम्बाई सवा योजन तथा महावीर भगवान के समवसरण की ऊंचाई १ योजन की थी।

अर्थात् पहले आदिनाथ स्वामी का समवसरण का पमाण बारह योजन

था, दूसरे भगवान अजितनाथ स्वामी का ११ योजन, चौथे का १०॥, पाचवें का १०, छठे का ९॥, सातवें का ९, आठवें का ८॥, नवें का ८, दसवें का ७॥, ग्यारहवें का ७, बारहवें का ६॥, तेरहवें का ६, चौदहवें का ५॥, पन्द्रहवें का ५, सोलहवें का ४॥; सत्रहवें का ४, अठारहवें का ३॥, उन्नीसवें का ३, बीसवें का २॥, इक्कीसवें का २, बाइसवें का १॥, तेइसवें पार्श्वनाथ के १।, चौबीसवें भगवान महावीर के समवसरण की लम्बाई १ योजन प्रमाण बतलाई गई है।

इस अवसर्पिणी काल में अनुक्रम से हीन रूप होता आया है। इसी प्रकार दूसरे उत्सर्पिणी काल में पुनः वृद्धि होती है। उसमें आदि में एक योजन लम्बी-चौड़ी तथा अन्त में २४ वें भगवान के समवसरण की १२ योजन प्रमाण की लम्बाई होती है। इस प्रकार दोनों समवशरण का वर्णन किया जा चुका। वहां पर पांच वेदी तथा चार कोट इस प्रकार नव कोट वेदी तथा गली की वेदी को कहा गया। इसकी ऊंचाई तो भगवान के शरीर से चोगुनी होती है। तथा वहां सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्य वृक्ष, मानस्तम्भ, ध्वजा, वन के वृक्ष, महल, जिनमन्दिर, पर्वत, स्तूप आदि इनकी ऊंचाई अपने-अपने काल सम्बन्ध को लेकर तीर्थंकर के शरीर से बारह गुनी होती है। इस प्रकार समवशरण की रचना का वर्णन समझना चाहिये। वह सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा निर्मित किया जाता है। इस प्रकार श्री भगवान तीर्थंकर के समवशरण के स्वरूप को यथासम्भव शास्त्र के आधार से विवेचन किया गया है।

इस प्रकार समवशरण की लक्ष्मी से युक्त विराजमान सयोग केवली नाम के तेरहवें गुण स्थान में तीर्थंकर भगवान तथा सामान्य केवली,

सर्वज्ञ, वीतराग, परमहितोपदेशक, जो अरहन्त भगवान हैं वे देव हैं, और उनका वर्णन इस प्रकार किया है।

भावार्थ—तीर्थंकर केवली तथा सामान्य केवली इन दोनों के केवली के समान ही गुण स्थान होते हैं, इस कारण दोनों को अरहन्त कहते हैं। पर इन दोनों में इतनी विशेषता है कि सामान्य केवली के गन्धकुटी होती है और तीर्थंकर भगवान के समवशरण आदि महान विभूति होती है। क्योंकि वहां पर तीर्थंकर प्रकृति का उदय है। इसमें आत्मा श्रुत-गुण नहीं है। इसलिये तीर्थंकर तथा केवली ये दोनों आत्मा की दृष्टि से समान हैं और दोनों ही अरहन्त भगवान हैं। इस प्रकार जो अरहन्त भगवान हैं वे सम्यग्दृष्टि के लिये पूजने योग्य हैं। इसके अलावा अन्य देव सम्यग्दृष्टि जीव के मानने योग्य नहीं बतलाये गये हैं। इस-लिये अरहन्त भगवान को देव कहना सम्भव है, दूसरे को नहीं। इसलिये वीतराग भगवान ही देव हैं। विशेषकर अरहन्त ही सिद्ध भगवान हैं। अरहन्त सिद्ध इन दोनों में इतना ही भेद है कि अरहन्त भगवान, सिद्ध होने के पहले का जो अरहन्त पद है वह चार घातिया कर्म के नष्ट करने से हुये हैं, सिद्ध भगवान आठों कर्मों को एक साथ नष्ट करते हैं इसलिये वे सिद्ध हो गये हैं। पर दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है। इस कारण सूक्ष्मत्व अर्थात अमूर्तिक अवगाहन अगुरु लघु अव्यावाध इस प्रकार के आठ गुण सहित जो सिद्ध भगवान देव हैं वेही पूजने योग्य हैं।

धर्म के स्वरूप को बतलाते हैं:—

धर्म—उसे कहते हैं कि जो आत्मा को पंच परिवर्तन रूप संसार के

दुःखों से निकाल कर बाधा रहित मोक्ष सुख रूप उत्तम स्थान में ले जाकर धारण करे वही धर्म है ।

भावार्थ—जो आत्मा को संसार से उठा कर सुख रूप उत्तम स्थान में स्थापना करे सो धर्म है इस प्रकार इस धर्म का स्वरूप बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन का मूल ही धर्म है। मूल का अर्थ यह है कि जिस प्रकार मन्दिर के नीचे नींव होती है अथवा वृक्ष की जिस प्रकार जड़ होती है उसी प्रकार धर्म के वृक्ष का मूल कारण सम्यग्दर्शन है । जिसे उस मूल का दर्शन नहीं होता है उसे धर्मी नहीं समझना चाहिये । जैसे मूल बिना वृक्ष के स्कन्ध, शाखा पुष्प, फल आदि नहीं होते हैं उसी प्रकार धर्म का जो मूल है जिनको दर्शन नहीं है, उनको धर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती है। इस तरह वस्तु के स्वरूप को भी धर्म कहा है। उसमें वादी प्रतिवादी तथा प्रत्यक्ष अनुमान से बाधा नहीं आती है, इसलिये सम्यग्दर्शन मूल जिनके हैं उनके ही आत्मा का स्वभाव तथा धर्म जानना चाहिये। विशेषार्थ........... ।

संसार में धर्म बहुत से लोग कहते हैं, परन्तु धर्म के यथार्थ स्वरूप को तो कोई जानता नहीं । इसलिये उनको असली धर्म की प्राप्ति नहीं है । जो ज्ञानी अपनी अल्प बुद्धि के द्वारा अनेक प्रकार के मिथ्या रूप धर्म की कल्पना करते हैं वह प्रत्यक्ष अनुमान से बाधित हैं। इसलिये धर्म प्रमाण रूप उनको कोई यथेष्ठ ज्ञान नहीं है । इसलिये वीतराग देव ने धर्म शब्द का अर्थ विस्तार पूर्वक बतलाया है । जहाँ नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, इस प्रकार चार गति रूप संसारकी आत्माको छुड़ा कर अतीन्द्रिय अविनाशी आत्मा को सुख रूप में अर्थात् मोक्ष स्थान में विराजमान करें, वह धर्म है। यह धर्म निश्चय और व्यवहार रूप दो

प्रकार का बतलाया गया है। उस धर्म को चार प्रकार से भी विवेचन किया गया है। एक तो वस्तु के स्वरूप को धर्म कहा है, दूसरा उत्तम क्षमादि दस धर्म को भी धर्म कहा है, तीसरा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों को भी धर्म कहा है तथा चोथा जीवकी रक्षा रूप दया धर्म को भी बतलाया है। यह चार प्रकार का धर्म बतलाया गया है। तब निश्चय से जो जीव उसको साधन करके अपनी आत्मा को साधे वह एक प्रकोर आत्मा का धर्म है। साधन के बाद इन चारों का भेद मिट जाता है। वही वस्तु का स्वभाव है। उसी का नाम आत्म तत्व है तथा दर्शन भी उसी का नाम है। इसलिये जीव नामक वस्तु का स्वभाव परमार्थ से ज्ञान रूप चेतनामयी परिणाम है। यही चेतना सर्व विकार से रहित होती है। जो शुद्ध भाव रूप परिणाम में आ जाता है उसी का नाम धर्म अर्थात् वही शुद्धात्मा निश्चय धर्मवाला कहलाता है। इसलिये यहां शुद्ध चेतना रूप उत्तम क्षमादि दस प्रकार का आत्मा का स्वरूप भी जो धर्म बतलाया है, वही अपना स्वभाव है। पुनः जो ज्ञान दर्शन तथा चारित्र यह तीन प्रकार का रत्नत्रय कहा गया है इनमें जो तीनों का ज्ञान चेतना रूप परिणाम है वही ज्ञान स्वभाव रूप धर्म कहलाता है। उसमें यह भी शुद्ध चेतन स्वरूप ही हुआ। इसलिये रत्नत्रय रूप तीन प्रकार के कहने पर भी एक आत्मा का स्वरूप ही धर्म हुआ और जहां पर जीव की रक्षा होती है या स्व-पर का जहाँ कल्याण होता है अथवा क्रोधादि कषायों के निमित्त पर्याय का विनाश रूप मरण तथा अनेक संक्लेश रूप जहां दुःख न हो या अपने तथा पर की रक्षा करने के लिये अपने स्वभाव में लीन होने योग्य आत्मा के परिणाम को धर्म कहते हैं। जिसमें कषाय के अभाव से अपने निज स्वरूप की प्राप्ति

हो ऐसे स्वभाव में लीन होने से अपनी तथा पर की रक्षा होती है। और जो अपने स्वरूप में स्थिरभूत न हो तो वहाँ कषाय के उदय से अपने तथा पर जीव की हिंसा होती है। इसलिये जीव की रक्षा करने में एक आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चय नय से साध्य हुआ, धर्म एक ही प्रकार का है। इसलिये एक वस्तु का स्वभावरूप ही धर्म समझना चाहिये। वहां इस प्रकार आत्मा का जो स्वभाव रूप धर्म है वह धन के द्वारा खरीदने से नहीं मिल सकता अथवा दान सम्मान करने से भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि कहिये कि दानादि देने से धर्म की प्राप्ति होती है, सो यह भी नहीं है, और न तो धर्म किसी के देने लेने से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार धन दूसरों के हाथ में दिया जा सकता है उस प्रकार धर्म किसी को दिया नहीं जा सकता। और यदि किसी की सेवा सुश्रूषा करके उसे प्रसन्न करके धर्म प्राप्त किया जाय तो यह भी नहीं हो सकता, तथा महल, मन्दिर, वन, पर्वत, तालाब, कुआं, बावड़ी, तीर्थ यात्रा आदि में घूमने मात्र से धर्म नहीं मिल सकता। धर्म तो केवल अपने आत्मा का स्वभाव है और यह अपने अन्दर ही मिल सकता है। जहाँ जो पर में आत्म बुद्धि है उसको छोड़कर अपने ज्ञाता, द्रष्टा स्वभाव का अनुभव करना, श्रद्धान करना तथा अपने ज्ञान स्वभाव में ही प्रवर्तन रूप आचरण करना सो धर्म है। अथवा उत्तम क्षमादि दशलक्षण रूप धर्म है तथा रत्नत्रय रूप धर्म है। जीव की दया करना धर्म है। धर्म कहाँ है? जो आत्मा का शुद्ध ज्ञान दर्शन रूप परिणाम है वही धर्म है। इसलिये एक आत्मा ही अपने धर्म रूप हो गया। अर्थात एक वीतराग स्वरूप तथा शुद्ध ज्ञान दर्शन चेतन रूप आत्मा के स्वभाव को ही धर्म समझना चाहिये। यहाँ पर. द्रव्य क्षेत्र,

काल, भाव, ये तो केवल निमित्त मात्र हैं। जब आत्मा रागादिक विभाव रूप परिणाम को छोड़कर अपने ज्ञान दर्शन रूप स्वभाव को ग्रहण करके वीतराग रूप में देखता है तब जिन मन्दिर, जिनप्रतिमा, जिनतीर्थ यात्रा तथा दान पूजा, जप-तप, संयम, महल, वन, पर्वत इत्यादि समस्त स्थान धर्म रूप होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के बिना इस जीव को कहीं भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती है और सम्यग्दर्शन सहित समस्त बाह्य सामग्री जितनी भी हैं वे धर्म की प्राप्ति के साधन होते हैं। इसलिये भेद विज्ञान सहित एक अपने आत्मा के स्वभाव को ही धर्म कहा गया है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से धर्म का स्वरुप कहा।

अब आगे व्यवहार धर्म का स्वरूप कहते हैं :—

व्यवहार नय की अपेक्षा से धर्म के अनेक भेद हैं। व्यवहार नय पर्याय के आश्रित है। और जो पर्याय है वह भेदरूप है। इस प्रकार जीव के पर्यायरूप परिणाम भी अनेक प्रकार के हैं। इसलिये व्यवहार धर्मका विवेचन भी अनेक प्रकार से किया गया है। वहां एक देश प्रयोजन के निमित्त तथा उसी को सर्वदेश रूप कहना व्यवहार है। अथवा अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण करने को तथा प्रयोजन के निमित्त उसको अन्य प्रकार कहना भी व्यवहार है। ऐसे वस्तु का स्वभाव कहने में उसमें जो निर्विकार चेतना के शुद्ध परिणाम को साधन करने वाला मन्द कषायरूप जीव का जो शुद्ध परिणाम है अथवा उसकी जो बाह्य क्रिया है वह सब वस्तु के स्वरूप का व्यवहार धर्म है। इसी तरह उत्तम क्षमादि दश प्रकार मन्द कषायरूप आत्मा का जो शुभ परिणाम है उसको भी साधन करने वाली जो बाह्य क्रियायें हैं वे सभी उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण रूप व्यवहार

धर्म हैं। इसी तरह रत्नत्रय में एक आत्मा को दर्शन, ज्ञान चारित्र भेद से तीन प्रकार कहा गया है। ऐसे तीन भेद रूप कहने वाले रत्नत्रय का साधन करने वाला मन्द कषायरूप आत्मा का जो शुभ परिणाम है उसकी जितनी भी वाह्य क्रियायें हैं वे सभी रत्नत्रय रूप व्यवहार धर्म हैं। इसी तरह जीव की रक्षा करने के लिये तथा अपनी शुद्धात्मा में लीन होनेके लिये उनके साधन करने वाले मन्द कषायरूप परिणाम से अपने तथा पर के मरण तथा रोग वेदनादि दुःख सम्बन्धी क्लेश रूप परिणाम को नहीं होने देने वाली जितनी भी क्रियायें हैं वे सभी जीव की रक्षा रूप दया धर्म हैं। ये सभी व्यवहार धर्म हैं। इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से व्यवहार धर्म के स्वरूप को कहा। इस तरह इन दोनों नयों के द्वारा प्राप्त किया गया जो धर्म का स्वरूप है उसे जिनागम में कहा गया है। ऐसे धर्म को एक स्वरूप, अनेक स्वरूप कहने से उस स्याद्वाद नय के प्रति वस्तु के स्वरूप में विरोध नहीं आता है। इसलिये निश्चय करके तो अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप में आचरण करना ही सच्चा धर्म है और व्यवहार नय की अपेक्षा इस आत्मा के स्वरूप को साधन करनेवाली जो वाह्य क्रियायें हैं वे दूसरे व्यवहार धर्म कहलाती हैं। ऐसे निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के धर्मों का स्वरूप जानना। यहां इतना विशेष रूप है कि जो निश्चय और व्यवहार दो भेदरूप धर्म का स्वरूप कहा गया है उन दोनों प्रकार के धर्मों के विषय में एक वीतराग रूप सम्यग्दर्शन का लाभ हुए विना सभी वाह्य क्रियायें हैं और वाह्य क्रियाओं से यथार्थ धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक अपने अन्तरंग में वीतराग रूप भावना न हो तब तक जितने भी वाह्य साधन, जिनमन्दिर, जिनतीर्थयात्रा, इत्यादि धर्मस्थान में दान, पूजा, जप, तप, संयमादि जो शुभ क्रियायें कही

गई हैं वे सभी क्रियायें शुभराग रूप होकर पुण्यबंध के कारणरूप होती हैं। परन्तु भेद विज्ञान रूप निज स्वरूप की प्राप्ति के बिना इन क्रियाओं से धर्म का लाभ नहीं हो सकता। इसलिये जब यह आत्मा अपने अन्तरंग में सम्यग्दर्शन सहित वीतराग रूप होता है तब वीतराग के साथ-साथ बाह्य क्रिया जिन मन्दिर-तीर्थयात्रा आदि समस्त स्थानों में धर्म की प्राप्ति होती है। इसलिये समस्त धर्मों का मूल कारण अपने आत्मा का स्वभाव रूप सम्यग्दर्शन ही है। इस प्रकार आत्मा का स्वभाव रूप धर्मका स्वरूप समझना चाहिये। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार धर्म का वर्णन किया गया।

अब आगे गुरु का लक्षण कहते हैं:—

श्री समन्तभद्राचार्य ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है कि:—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

जो विषयों की आशा, आरम्भ तथा परिग्रह से सर्वथा रहित रहकर ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं वे ही आगम में तपस्वी कहलाते हैं।

यदि विचार करके देखा जाय तो गुरु भी देव हैं, अरहन्त भी हैं। क्योंकि मोक्ष मार्ग के उपदेष्टा केवल अरहन्त भगवान ही हैं। अतः गुरु को ही अरहन्त भगवान् का स्वरूप समझना चाहिये। अरहन्त भगवान् के पश्चात् छद्मस्थ ज्ञान के धारी निर्ग्रन्थरूप दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले गुरु ही होते हैं कहा भी है कि:—

संप्रत्यस्ति न केवली कलियुगे त्रैलोक्यरक्षामणिः ।
तद्वाचः परमाश्च सन्ति भरतक्षेत्रे जगद्योतकाः ।।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्वनम् ।
तत्पूजा जिनवाक्यपूजनतया साक्षाज्जिनः पूजितः ।।

इस कलिकाल में तीन लोक के रक्षक श्रेष्ठ केवली भगवान नहीं हैं, भरतक्षेत्र में केवल जगत् को प्रकाश करनेवाले श्री केवली भगवान् के वचन ही मौजूद हैं और सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र को धारण किये हुए श्रेष्ठ साधु हैं। वे साधुजन उन भगवान के वचनों के आश्रित हैं। अर्थात् उन्हीं भगवान् के वचनों को ग्रहण करके समस्त संसार में प्रकाश करते हैं। अतः ऐसे श्रेष्ठ यतीश्वरों की पूजा करने से भगवान् के वचनों की पूजा करनेके समान पुण्य प्राप्त होता है। अर्थात् उनकी पूजा से साक्षात् जिनेश्वर की पूजा करने के समान फल प्राप्त होता है। ये साधु अरहन्त भगवान के एक देशपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय रूप धर्मको प्राप्त किये हैं। इसलिये ये साधु सर्वदा संवर—निर्जरा रूप मोक्षके कारण हैं। ऐसे अरहन्तदेवके समान ही एक देशपना प्राप्त हुए मुनि भी निर्दोष हैं। इसलिये वे मुनि भी भगवान् के परमागमके अनुसार ही मोक्षमार्गके यथार्थ स्वरूपका उपदेश करने वाले हैं। इसलिये वे मुनि सच्चे गुरु हैं। ऐसे गुरुओं में जो गुण हैं उन गुणों का वर्णन नीचे किया जाता है।

गुरुओं के गुण इस प्रकार हैं :—

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं। ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति ऐसे ये पाँच प्रकार की समितियाँ हैं। सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छः प्रकार की आवश्यक

क्रियायें हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ऐसे पाँचों इन्द्रियों का निरोध करना, अदन्तधावन, अस्नान, केशलुञ्चन, भूमिशयन, एक वार, आहार, खड़े होकर आहार लेना नग्नत्व। इत्यादि समस्त मिल कर कुल २८ मूल गुण हैं; तथा गृह, क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य अर्थात् भाण्ड वर्तन ऐसे दश प्रकार के वाह्य परिग्रह हैं। और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष इस प्रकार चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं। ये दोनों २४ प्रकार के परिग्रह हैं। मुनिजन इन चौवीसों प्रकार के परिग्रहों से सर्वथा रहित रहते हैं।

आगे चौरासी लाख उत्तरगुण का भेद कहते हैं:—

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत और एक इन्द्रिय निरोध, तथा मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच ये चार प्रकार के धर्म १ हास्य, २ रति ३ अरति, ४ भय—जुगुप्सा, ५ अज्ञान, ६ सम्यक्त्व, ७ प्रमाद, ८ मनगुप्ति, ९ वचनगुप्ति तथा १० कायगुप्ति ये कुल मिल कर २१ भेद होते हैं। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार ये चार अतिचार, इनको उपर्युक्त २१ में गुणाकार करने से ८४ भेद होते हैं। ऐसे ८४ भेद को पृथ्वी, जल, वायु, एक प्रत्येक वनस्पति, एक साधारण वनस्पति, एकेन्द्रिय, एक तेइन्द्रिय, एक चतुरिन्द्रिय, एक पाँच इन्द्रिय इन षट्काय जीवों की रक्षा ये दश भेद हैं। इनको स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन, काय, आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश प्रकार के प्राणों को परस्पर में आरम्भ के घात से रहित गुणाकार करने से कुल १०० भेद हुये। पूर्वमें जो ८४ भेद कहे गये हैं, उनको परस्पर में गुणाकार करने से

८४०० भेद हुये। इनमें स्त्री संसर्ग, पुष्टरस, गन्धमाला, सुन्दर शैया,

आभूषण, वीनावादित्र का श्रवण, धन का संग्रह, कुशील संसर्ग, राज-सेवा, रात्रि गमन दश प्रकार के शीलों का गुणाकार करने से कुल ८४००० भेद हुये।

इन चौरासी हजार भेदों को आलोचना के दश दोषों से रहित गुणाकार करने से कुल आठ लाख चालीस हजार (८४००००) भेद हुये। पुनः आठ लाख चालीस हजार भेदों में दश प्रकार के प्रायश्चित्तों से गुणाकार करने से कुल चौरासी लाख (८४००१००) भेद हुये। इस प्रकार चौरासी लाख उत्तर गुण के भेदों का वर्णन किया गया।

आगे अठारह हजार शील के भेदों का वर्णन करते हैं :—

शील दो प्रकार का है। एक तो पर-द्रव्यों के संयोग के अभाव की अपेक्षा से है और दूसरा स्त्री संसर्ग के अभाव की अपेक्षा से है। उसमें जो प्रथम पर-द्रव्य के संयोग के अभाव की अपेक्षा से कहा गया है। वह मन, वचन तथा काय की अपेक्षा से तीन प्रकार का है। जिसके कृत, कारित तथा अनुमोदना ये तीन भेद हैं। इन तीनों को पहले के तीन में गुणाकार करने से कुल ९ भेद होते हैं। इन ९ भेदों को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार से गुणाकार करने से कुल ३६ भेद होते हैं। इन ३६ भेदों को स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों से गुणाकार करने से कुल १८० भेद हुये। पुनः इन एक सौ अस्सी भेदों को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और एक प्रत्येक वनस्पति, एक साधारण वनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस १० प्रकार हिंसा के भेद से गुणाकार करने से कुल १८०० भेद हुये। इन १८०० भेद में उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश प्रकार के भेदों से गुणाकार करने से कुल १८०००

भेद हुये। इस प्रकार पर-द्रव्य संयोग की अपेक्षा १८००० भेद सहित जो जीव का आत्मा के साथ विभाव परिणाम होता है, उसके अभाव से जीव के अठारह हजार जो शील के भेद होते हैं सो निश्चय ब्रह्मचर्य है। आत्मा में रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस प्रकार निश्चय शील के अठारह हजार भेदों का स्वरूप जानना।

आगे स्त्री संसर्ग के अभाव की अपेक्षा अठारह हजार शीलके भेदों का वर्णन करते हैं :—

स्त्री दो प्रकार की होती हैं। एक चेतन और दूसरी अचेतन। इनमें तिर्यंचिनी, मनुष्यनी तथा देवांगना ये तीन भेद होते हैं। इनमें मन, वचन तथा काय इन तीनों से गुणाकार करने से ९ भेद हुये। इन ९ भेदों को कृत, कारित तथा अनुमोदना से गुणाकार करने से कुल २७ भेद हुये। उनका पाँच इन्द्रियों से गुणाकार करने से १३५ भेद होते हैं। एक द्रव्य-स्त्री और दूसरी भावस्त्री इन दोनों के गुणाकार करने से २७० भेद हुये। इन २७० भेदों को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारों के गुणाकार करने से कुल १०८० भेद हुये। पुनः १०८० भेद को अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ इन १६ कषायों को गुणाकार करने से १७२८० भेद हुये। ऐसे १७२८० प्रमाण चेतन स्त्री के भेद हुये।

आगे अचेतन स्त्री के सात सौ बीस (७२०) भेद को कहते हैं :—

अचेतन स्त्री के तीन भेद हैं :—एक काष्ठ-रूप, दूसरा पाषाण-रूप और तीसरा चित्र-रूप। इन तीन प्रकार की स्त्रियों को मन तथा काय से गुणाकार करने पर ६ हुये। इसमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी वचन की प्रवृत्ति न हो वहाँ मन और काय इन दो के सम्बंन्ध से संसर्ग होता है, इसीलिये

यहाँ ९ भेद न कह कर केवल ६ भेद कहा गया है। कृत, कारित तथा अनुमोदना इन तीनों के गुणाकार करने से १८ भेद हुये। पुनः १८ भेदों को पाँच इन्द्रियों से गुणाकार करने पर ९० भेद हुये। इन ९० भेदों को एक द्रव्य स्त्री और दूसरी भाव-स्त्री इन दो से गुणाकार करने पर १८० भेद हुये। इनको क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चार कषायों से गुणाकार करने से ७२० भेद अचेतन स्त्री के हुये। अचेतन स्त्री के ७२० भेद कहे गये हैं। इनको पहले कहे गये चेतन स्त्री के १७२८० भेदोंमें मिलाने से कुल अठारह हजार (१८०००) भेद हुये। ऐसे चेतन तथा अचेतन इन दो प्रकार की स्त्री के संसर्ग से १८००० भेद-रूप जीव के विभावपरिणाम होते हैं। ये विभाव-रूप आत्मा के जो परिणाम हैं, उनका त्याग ही ब्रह्मचर्य है। इसलिये स्त्री संसर्ग के अभाव की अपेक्षा से १८००० भेदों को कहा। यह १८००० शील से युक्त ही आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार १८००० शील, २८ मूलगुण और ८४०००००० लाख उत्तर गुण का पालन करनेवाले और अन्तरंग और बहिरंग २४ प्रकार के परिग्रहों से रहित दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि ही गुरु बनने के योग्य हैं। इस प्रकार निर्ग्रन्थ दिगम्बर जो मुनि हैं वे सामान्य और विशेष-रूप से दो प्रकार के हैं। एक आचार्य, उपाध्याय और साधु के भेद से तीन प्रकार के हैं। इसमें जो आचार्य हैं, उनके कुल छत्तीस मूल गुण होते हैं। उपाध्याय के पच्चीस मूल गुण होते हैं और सर्वसाधु के अट्ठाइस मूल गुण होते हैं।

आगे आचार्य के छत्तीस गुण का वर्णन करते हैं:—

अनशन, अवमोदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान ये बारह प्रकार के तप और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम,

तप, त्याग तथा आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार के धर्म; सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग ये छः आवश्यक क्रिया; मन, वचन तथा काय ये तीन गुप्ति तथा दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ये पाँच आचार ये सब मिल कर आचार्य के छत्तीस मूल गुण हुये।

भावार्थ—आचार्य के बारह तप, दश धर्म, छः आवश्यक, तीन गुप्ति और पांच आचार ये छत्तीस मूल गुण हैं।

आगे उपाध्याय के मूल गुण कहते हैं :—

११ अंग, १४ पूर्व ये उपाध्याय के २५ मूल गुण हैं।

भावार्थ—जो मुनि ११ अंग और १४ पूर्व का पाठी होता है, वह उपाध्याय है। इस प्रकार उपाध्याय के कुल २५ मूल गुण हुये।

साधु के मूल गुण :—

पंच महाव्रत, पाँच समिति, छः आवश्यक, पाँच इन्द्रियनिरोध, अदन्तधावन, अस्नान, केशलुंच, भूमिशयन, खड़े होकर आहार, एक भुक्त, अचेलत्व, ये २८ मूल गुण साधु के होते हैं।

इस प्रकार भिन्न भिन्न आचार्य के ३६ मूल गुण, उपाध्याय के २५ मूलगुण तथा साधु के २८ मूलगुण होते हैं। इसमें इतनी विशेषता समझनी चाहिये कि यह परिपाटी मूल-संघ आम्नाय की है। ऐसी मूल-संघ की परिपाटी के अनुसार जो २८ मूलगुण सहित हो वही मुनि वन्दना के योग्य है, किन्तु इन २८ मूलगुणों में यदि १ गुण भी कम हो तो उसे केवल वेषधारी मुनि समझना चाहिये।

भावार्थ—जिन मुनि में २८ मूलगुण हैं, वह यथार्थ गुरु है और वह मूलगुण आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन तीनों में है। अर्थात् इन

तीनों में मूलगुण की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है। इस प्रकार से इन गुणों से इनके बाह्य चिन्ह व्यक्त होते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति तथा तेरह प्रकार के चारित्र अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सभी को समान होता है। और मूलगुण तथा उत्तर गुण भी समान-रूप से होता है, सभी उपसर्ग भी समान-रूप से सहन करते हैं। इनका आहार-विहार भी समान होता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रत्नत्रय रूप ध्यानाध्ययन भी समान रूप से होता है। कषाय को जीतना, इन्द्रियों की वासना को वश करने आदि क्रियायें समान-रूप से हैं। इन तीनों में समानता पाई जाती है; अतः ये तीनों गुरु हैं। आचार्य में विशेषता यह है कि वे पाँच आचारों को स्वयं आचरण करें तथा अन्य को भी करावें एवं अन्य में लगे हुये दोषों की शान्ति के लिये उन्हें प्रायश्चित्त भी दें। इस प्रकार पंचाचार में जो प्रवीण हैं वे आचार्य हैं। उपाध्याय में यह विशेषता है कि वह मुख्यता से शिष्यों को शास्त्र पढ़ाते हैं तथा स्वयं भी पढ़ते हैं। और वे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व तथा गमकत्व, इन चारों विद्याओं में अत्यंत प्रवीण होते हैं। अतः उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

साधु – साधु उन्हें कहते कि जो मुख्य करके रत्नत्रय मोक्षमार्ग को साधन करें। दीक्षा-शिक्षा आदि उपदेश-रूप क्रियाओं में इनकी प्रधानता नहीं रहती। अतः ये अपने स्वरूप के साधन में सदा तल्लीन रहते हैं। इस प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा सर्वसाधु इन तीन भेदों से निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि होते हैं। इसके अलावा अन्य वेषधारी, व्रतरहित, परिग्रह सहित, विषय-कषाय से मलिन जो गुरु हैं वे गुरु नहीं हैं। इस प्रकार गुरु का वर्णन समाप्त हुआ।

भावार्थ—सर्वज्ञ, वीतराग, परमहितोपदेशक इन तीन विशेषणोंसे युक्त

अरहन्त भगवान का स्वरूप जानना चाहिये। उस भगवान की जो वाणी है वही शास्त्र हैं और उसी शास्त्र के अनुसार चारित्र को आचरण करने वाले जो लोग हैं वे ही गुरू हैं। इस तरह देव-मूढ़ता, शास्त्र-मूढ़ता तथा गुरू—मूढ़ता रहित सच्चे देव, शास्त्र तथा गुरू का श्रद्धान करने वाले सम्यग्दष्टि को अमूढ़ दृष्टि कहते हैं। अपनी आत्म शक्ति के लिये शक्ति को बढ़ाना उपगूहन है। वहां यदि पर सम्बन्धी कोई दोष हो तो उसे अपनी शक्ति के अनुसार हटाने की कोशिश करनी चाहिये। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को वढ़ाने की इच्छा करना ही उपगूहन कहलाता है। उसको उपगुण अथवा उपगूहन कहते हैं। अन्य के दोष को ढकने को उपगूहन कहते हैं। जो मनुष्य धर्म से च्युत हो उसको धर्म में पुनः स्थिर करना स्थितिकरण है। अपने कर्म के उदय से कदाचित श्रद्धान तथा क्रिया रूप चारित्र छूटने की सम्भावना देख कर अपने पुरुपार्थ के द्वारा श्रद्धान कराना अथवा दृढ़ बनाना अर्थात धर्मी पुरुषों को धर्म से चलायमान देख-कर उपदेश के द्वारा तथा आजीविका के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार दीन दुःखियों की सहायता करके इन्हें धर्म में लगाना ही स्थितिकरण कहलाता है।

वात्सल्यः—जिसमें अरहन्त सिद्ध तथा प्रतिबिम्ब चैत्यालय, जिन-मन्दिर तथा मुनि आर्जिका श्रावक श्राविका इस प्रकार चार प्रकार के संघ तथा इनके प्रति विनय तथा प्रेम के साथ वात्सल्य भाव रखना ही उचित है। जिस प्रकार नौकर मालिक के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है उसी तरह धर्म तथा धर्मात्मा के प्रति प्रेम का व्यवहार रखना ही उचित है जिस प्रकार गाय एवं बछड़ा।

प्रभावनाः—धर्म को उद्योत करने को ही प्रभावना कहते हैं। जहां

अपनी आत्मा का रत्नत्रय रूप आभूषण से युक्त अर्थात ज्ञान दर्शन में आत्मा का प्रकट करने के लिये हमेशा देव गुरु तथा शास्त्र की प्रभावना करना तथा बाह्य दान तप भगवान की पूजा विम्ब-प्रतिष्ठा विद्या इत्यादि के अतिशय को बढ़ाने के लिए धर्म की महिमा को प्रकट करना अर्थात जिन धर्म की महिमा को प्रकट करने से सम्यग्दृष्टि के प्रभावना नामका आठवां गुण प्रकट होता है। इस प्रकार के आठ गुण जिनमें प्रकट हों उनको वीतराग कहते हैं। जिनमें यह आठ गुण हों वहीं सम्यग्दर्शन की उत्पति का कारण है। इसलिए यह प्रभावना अंग सम्यग्दर्शन के वाह्य चिन्ह हैं। इस प्रकार सम्यग्यदर्शन के आठ अंग के विषयों का वर्णन किया।

सम्यग्दृष्टिकी पहिचान के लिये चार चिन्हों को बतलाते हैं।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, इस प्रकार के चार चिन्ह पहले सराग सम्यक्त्व के हैं। आगे वीतराग सम्यत्तव को बतलाते हैं।

जहां वीतराग सम्यक्त्व होता है उसमें प्रशमादि चार गुण अवश्य होते हैं। वह केवली तथा सिद्ध भगवान को ही होता है। अन्य को नहीं। इसलिए वह अपनी आत्मा के परिणाम से ही जाना जाता है। प्रशमादि गुण का अधिकार है ही नहीं। इस प्रकार दूसरे वीतराग सम्यक्त के स्वरुप को वतलाया है।

भावार्थ—इस तरह एक सराग सम्यक्त्व और दूसरे वीतराग सम्यत्तव यह दो प्रकार के हैं। इसमें पहले सराग सम्यत्तव चौथे गुण स्थान से लेकर क्षीण कषाय तक रहता है। यह नव गुण स्थान में छदमस्थरूप संसारी जीव को ही होते हैं। वह वीतराग सम्यत्तव जो है वह केवली तथा सिद्ध भगवान को ही होता है। यहां पर इतनी विशेषता है कि वहां सम्य-

ग्दर्शन के औपशमिक क्षायोपशमिक तथा क्षायिक इस प्रकार के तीन भेद जो कहे हैं उसमें से एक उपशम एक क्षयोपशम यह दो सम्यक्त्व सराग रूपी हैं। तीसरा जो क्षायिक सम्यक्त्व है वह वीतराग रूप है। इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व एक सराग एक वीतराग इस प्रकार के दो भेद रूप हैं। इसलिये दर्शन मोह से रहित तत्वार्थ का श्रद्धान रूप आत्मा का जो परिणाम है वह सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार दूसरे सूत्र में तत्वार्थ का श्रद्धान् रूप सम्यग्दर्शन का लक्षण वर्णन किया गया है। ऐसा कहने पर यहां पर कोई अन्य मार्गी प्रश्न कर सकता है कि अपनी इच्छा से ही श्रद्धान करना क्या सम्यग्दर्शन है ? कर्मके परिणाम को भी सम्यग्दर्शन कहा जायगा। वहाँ तत्वार्थ श्रद्धान कहने से उनका भी निराकरण हो जायगा। इसलिये तत्वार्थ ही सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस प्रकार शिष्य की शंका करने से आचार्य उत्तर देते हैं कि :—

सूत्र – तन्निसर्गादधिगमाद्वा ३)प्रथम सूत्र मे कहा गया जो सम्यग्दर्शन है वह अन्य के उपदेश विना अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है और वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। जा किसी अन्यके उपदेश रूप अर्थ के ज्ञान से सम्यक्त्व हो तो वह अधिगमज नामक दूसरा सम्यक्त्व है। ऐसे निसर्गज और अधिगमज नामक दो प्रकार के सम्यग्दर्शन कहलाते हैं।

भावार्थ—पहले सूत्र में तत्वार्थ के श्रद्धान रूप जो सम्यदर्शन है सो निसर्गज और पर के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन होता है वह दूसरा अधिगमज नामक सम्यदर्शन है।

प्रश्न—निसर्गज सम्यग्दर्शन में अर्थ का ज्ञान है कि नहीं ? यदि है तो यह भी अधिगमज ही हुआ। अतः इन दोनों में भी

भेद नहीं हुआ ? और यदि अर्थ का ज्ञान नहीं है तो उसके जाने विना तत्वार्थ का श्रद्धान कैसे हो सकता है ? इसलिये निसर्गज सम्यग्दर्शन का अभाव आता है और तब एक अधिगमजपना ही स्थिर रहता है।

उत्तर—यहां पर यह दोष नहीं है, क्योंकि दोनों ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अन्तरंग हेतु जो दर्शनमोहका उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम ये तीन भेद हैं वे दोनों ही प्रकार के सम्यक्त्व के समान रूप से ही होते हैं। और इसके होते हुए जो वाह्य पर के उपदेश विना तत्वार्थ का श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है और जो पर के उपदेश पूर्वक तत्वार्थ का श्रद्धान हो वह दूसरा अधिगमज सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार दोनों सम्यक्त्व में वाह्य निमित्त की अपेक्षा भेद जानना चाहिये, किन्तु अर्थ का ज्ञान दोनों सम्यक्त्व में पाया जाता है। इसलिये एक निसर्गज और दूसरा अधिगमज ये दो भेदरूप सम्यग्दर्शन होता है। अथवा जैसे संसार में सिंह में क्रूरता, शार्दूल में शूरवीरता, गीदड़ में कायरता तथा सर्प में दुष्टता आदि क्रिया स्वभावसे ही पायी जाती है यानी वह किसीके उपदेशसे नहीं होती, परन्तु इस विषय में भी कर्म का उदय कहा जाता है। इसलिये जो पर के उपदेश विना पूर्व कर्म के निमित्त से प्रवृत्ति हो उसको निसर्गज कहते हैं। इसी तरह यहाँ भी जो परके उपदेश विना आत्मा के दर्शन मोह का उपशम, क्षय और क्षयोपशम से ही स्वपर तत्व का भेद विज्ञान होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो पर के उपदेश से तत्वार्थ का श्रद्धानरूप भेद विज्ञान होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। इसलिये इन दोनों सम्यग्दर्शनों में शब्दभेद है, अर्थ भेद नहीं।

प्रश्न—इस सूत्र में जो 'तत्' शब्द है वह पूर्व सूत्रमें सम्यग्दर्शन

का ग्रहण करने के लिये किया गया है जो इस सूत्र में 'तत्' शब्दके बिना भी तो इस प्रकरण के वश से सम्यग्दर्शन का ग्रहण होता हैं। अतः इस सूत्र में पुनः 'तत्' शब्द का ग्रहण किस लिये किया गया ?

उत्तर—यह तो सत्य है कि पहले सूत्र से भी सम्यग्दर्शन का ग्रहण होता है, परन्तु यहाँ जो मोक्षमार्ग का प्रकरण है सो मोक्षमार्ग प्रधान रूप से है। इसलिये तत् शब्द के बिना मोक्षमार्ग के ग्रहण होनेका प्रसंग आता है। इसलिये उसके प्रसंग को दूर करने के लिये यहाँ पर तत् शब्द का ग्रहण किया गया है। अथवा ज्ञान, चारित्र इन दोनों के हेतु नहीं बनते। अतः यहां भी इस सूत्र में तत् शब्द का ग्रहण किया गया है और केवल ज्ञान तो श्रुतज्ञान पूर्वक ही होता है। इसलिये इसमें निसर्गजपना नहीं सम्भव है। अतः केवल ज्ञान तो अधिगमज ही है। और जो श्रुतज्ञान है वह भी अधिगमज ही होता है इसलिये अन्य के उपदेश से श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है और जो स्वयं बुद्धि से विशेष रूप श्रुतज्ञान होता है सो भी पहले भव के उपदेश से ही होता है। इसलिये वहां भी निसर्गजपना सम्भव नहीं है। अथवा समस्त संसारी जीवों के नियम से मति पूर्वक ही श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिये श्रुतज्ञान को भी अधिगमज ही जानना चाहिये। और मति, अवधि तथा मनः पर्यय ये तीन ज्ञान जो हैं वह निसर्गज ही है। इसलिये एक पर के उपदेश बिना अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है। अतः इनके अधिगमजपना नहीं बनता और जो चारित्र है सो तो अधिगमज ही है। इसलिये ये श्रुतज्ञानपूर्वक होते हैं। अतः चारित्र भी अधिगमज ही जानना चाहिये।

भावार्थ—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान ये तीन ज्ञान

तो निसर्गज ही हैं और श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान ये दो अधिगमज ही हैं। पुनः चारित्र भी अधिगमज रुप ही होता हैं ऐसे ज्ञान तथा चारित्रके विषय मेंनिसर्गज, अधिगमज, के भेदको जानना जैसे सम्यग्दर्शनके विषयमें निसर्गज तथा अधिगमज रुप दोनों हेतु सम्भव हैं वैसे ज्ञानके पृथक २ भेदों में तथा चारित्र के विषय में दोनों हेतु सम्भव नहीं हैं। अतः यहां मोक्ष मार्ग के सम्बन्ध को दूर करने के लिये इस सूत्र में तत् शब्द का ग्रहण किया गया ह। इस प्रकार तत् शब्द ग्रहण करने का प्रयोजन समझना चाहिये।

प्रश्न—निसर्गज नाम भी ज्ञान का है और अधिगमज नाम भी ज्ञान का है। तो ज्ञान ही से सम्यक्त्व उत्पन्न होना सिद्ध हुआ। अतः ज्ञान ही सम्यक्त्व उपजने का कारण रूप हुआ और सिद्धांत ऐसा है कि जो सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञान ये दो युगपत् यानी एक काल में होते हैं, सो वहां विरोध आता है। यह कैसे?

उत्तर—जो सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम है वह वाह्य परोपदेश से भी पहले होता है और उससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होताहै। ऐसे पहले ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से पीछे सम्यक्त्व होताहै। तव ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोनों के एक काल होने में कोई विरोध नहीं आता।

प्रश्न—जो सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में दर्शनमोह का उपशम आदि अन्तरङ्ग हेतु कहे हैं वे सभी जीवों के सदा काल क्यों नहीं होते?

उत्तर—जो दर्शन मोह का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम ऐसे तीन कारण कहे हैं वहाँ उनके भी प्रतिपक्षी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ऐसे चार बाह्य कारण हैं। अतः जब अन्तरङ्ग और बाह्य ये दोनों कारण मिलें तव

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती हैं। वहाँ जो जिनेन्द्र का प्रतिबिम्ब आदि है सो द्रव्य है। क्षेत्र यानी भगवान् का समवसरण आदि जो है सो क्षेत्र है। काल यानी जब संसारी जीव के चतुर्गति में भ्रमण करने रूप अर्द्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रहा हो यानी इससे अधिक संसार न हो सो काल है। भाव अर्थात् अधःकरण अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण रूप जीव के परिणाम जो हैं सो भाव है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप जब बाह्य चतुष्टय की योग्यता मिले तब अन्तरङ्ग में दर्शन मोह का उपशमादिक होता है। इसलिये दर्शन मोह के उपशमादिक होनेका भी कारण जानना। वहाँ पर अन्तरङ्ग और बाह्य रूप दोनों निमित्तों का जो होना है सो भी भव्य जीवों के ही होता है, अभव्य के नहीं। इसलिये जो यह वस्तु का स्वभाव है उसमें कुछ तर्क नही करना चाहिये। इसको वादी-प्रतिवादी सभी मानते हैं। अभव्य जीव का कुछ ऐसा ही स्वभाव है कि उसको सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये निकट भव्य जीव के ही अन्तरंग दर्शन मोहका उपशमादिक होते हो बाह्य निसर्गज तथा अधिगमज रूप ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं।

आगे चौथे सूत्र में शिष्य प्रश्न करता है कि—सम्यग्दर्शन के विषय भूततत्व जो कहे हैं वे तत्व कौन से हैं?

उत्तर—जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् ॥४॥

अर्थ - जो चेतना लक्षण सहित है वह जीव है। जो जीता है और आगेभी जीवेगा सो जीव है। क्योंकि द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा भी है कि:—

तिक्काले चदुपाणा इन्द्रिय बलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥

व्यवहार नय की अपेक्षा पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु, और श्वासोच्छ्वास से दश प्राण जिसके हों वह जीव और निश्चय नय से जिसके चेतना अर्थात् ज्ञान और दर्शन है वही जीव है।

भावार्थ—प्राण, उपयोग, अमूर्तिक, कर्ता, देहप्रमाण, भोक्ता, ससारस्थ, सिद्धत्व, ऊर्ध्वगमन, इस तरह नव अधिकार के द्वारा जीव का स्वरूप जानना चाहिये।

अजीव—अर्थात् इसके विपरीत जिसमें चेतना लक्षण नहीं है वह अजीव है। उसके पांच भेद हैं - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आस्रव का अर्थ यह है कि मन, वचन और काय इन तीनों के योग से आत्मा के प्रदेशों में चंचलता होने से शुभाशुभ कर्म प्रकृति का जो आना है वह आस्रव है।

वन्ध—जीव और कर्म के प्रदेशों का परस्पर एक क्षेत्रावगाहन रूप मिलना वन्ध कहलाता है।

संवर—नवीन कर्म के आने वाले द्वार रूप आस्रव को रोकना संवर कहलाता है।

निर्जरा—एक देश कर्म का क्षय होना निर्जरा है।

मोक्ष—समस्त कर्मों का क्षय होना मोक्ष है। इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे जो सात भेद रूप हैं उन्हें तत्व कहते हैं। अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे जो सात प्रकार के तत्व कहे गये हैं वे प्रत्येक भिन्न-भिन्न द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उसमें प्रथम निश्चय और दूसरा व्यवहार इन दो प्रकार के तत्वों का वर्णन किया गया है। इसमें कोई इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास और वायु ये चार मूलप्राण से पहले जिये थे, जी रहे हैं और आगे भी जियेंगे। इस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षसे।

जो जीव तत्वका कहना है वह द्रव्य जीव है। पुनः सुख, सत्ता, बोध, चेतना, ऐसे चार निश्चय प्राणरूप जीव तत्व का जो कहना है वह भाव जीव है। इस प्रकार द्रव्य और भाव से दो प्रकार के जीव तत्व का स्वरूप समझना।

आगे दूसरे अजीव तत्व को बतलाते हैं :—

अजीव तत्व चेतना रहित पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे पाँच भेद-रूप जो अजीव तत्व है, सो द्रव्य अजीव है। पुनः स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण-रूप पुद्गल द्रव्य के गुण हैं। और गति में सहायक-रूप धर्म द्रव्य का गुण स्थिति में सहायक-रूप अधर्म का गुण है, जो अवगाहन-रूप आकाश का गुण है। नवीन तथा जीर्ण-रूप होता है, वह वर्तना-रूप काल गुण है। इस प्रकार जीव तत्व के बिना इन पाँच द्रव्य के स्वभाव को जो कहता है, वह भाव अजीव है। इस प्रकार द्रव्य, भाव की दृष्टि से ये दो प्रकार के दूसरे अजीव तत्व हैं।

आस्रव तत्व—जहाँ जीव के रागादि-रूप भाव के निमित्त से पुद्गल परमाणु में ज्ञानावरणादि आठ कर्म-रूप फल देने की शक्ति हो, वह द्रव्यास्रव है। और जो पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरत, पन्द्रह योग, पच्चीस कषाय, इन सत्तावन (५७) भेद-रूप जो जीव के परिणाम हों, वह भावास्रव है।

भावार्थ—जो कार्मण वर्गणा-रूप पुद्गल द्रव्य कर्म-रूप शक्ति का प्रगट होना है, वह द्रव्यास्रव है और जीव के रागादि-रूप जो परिणाम का होना है, वह भावास्रव है। इस प्रकार द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार के तीसरे आस्रव तत्व का स्वरूप जानना।

आगे चौथे वन्ध तत्व को कहते हैं :—

जहाँ राग-द्वेप के निमित्त-रूप आत्माके प्रदेशों में पुद्गल परमाणुओं का कर्म-रूप बन्ध एक क्षेत्रावगाहन-रूप हो, वह बन्ध है। पुनः जीव के राग-द्वेप मोह-रूप अपने चिकने भाव से कर्म-रूप रज को ग्रहण कर परस्पर में मिलाप होना भाव-बन्ध है। ऐसे द्रव्य भाव के भेद से दो प्रकार के चौथे वन्ध तत्व का स्वरूप है।

आगे संवर तत्व को कहते हैं :—

जहाँ व्रत, समिति, गुप्ति इत्यादि चारित्र-रूप चेतना के परिणाम से नवीन कर्म पुद्गल के एकीकरण का अभाव हो, वह द्रव्य संवर है। पुनः पाँच समिति, पाँच प्रकार के वृत, तीन गुप्ति, ऐसे तेरह प्रकार के चारित्र और बारह भावना, दश प्रकार के धर्म, बाईस परिषहों को जीतना इस प्रकार सत्तावन भेद-रूप चेतना का जो परिणाम है, वह भाव-संवर का कारण है।

भावार्थ—नवीन कर्मों का जो रोकना है, वह द्रव्य-संवर है और जिस परिणाम से जीव के नवीन कर्म के आगमन का अभाव हो, वह भाव-संवर है। इस प्रकार द्रव्य और भाव इन दोनों के निमित्त से होनेवाला पाँचवां संवर तत्व है।

छट्टा निर्जरा तत्व—जहाँ अनशनादि तप-रूप चेतना के परिणाम से प्रथम बंधे हुये कर्म पुद्गल का अंश-रूप से अभाव हो, वह द्रव्य निर्जरा है। पुनः जो कर्म की निर्जरा-रूप चेतना का परिणाम होना है, सो भाव निर्जरा है।

भावार्थ—जीव से कुछ कर्म पुद्गलों का दूर होना द्रव्य निर्जरा है

और चेतना कर्म की निर्जरा-रूप भाव होना भाव निर्जरा है। इस प्रकार द्रव्य और भाव इन दोनों प्रकार की निर्जरा होना, निर्जरा तत्व है।

अब मोक्ष तत्व को कहते हैं :—

जहाँ जीवके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकार के बन्धों का सर्वथा नाश हो, वह द्रव्य मोक्ष है। पुनः राग-द्वेष-रूप मोह से रहित सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र-रूप जो आत्मा का परिणाम हो, वह भाव-मोक्ष है।

भावार्थ—समस्त कर्म पुद्गल का जीव से सर्वथा अलग होना द्रव्य मोक्ष है। और सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र इन तीनों की एकता-रूप जो आत्मा का परिणाम होता है, वह भाव-मोक्ष है। ऐसे द्रव्य और भाव की अपेक्षा से मोक्ष तत्व का स्वरूप समझना।

इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात प्रकारके तत्वों का स्वरूप जानना। इन तीनों में सबसे पहले जीव तत्व का स्वभाव चेतना का लक्षण रूप जो कहा है, वह द्रव्य निर्जरा से भिन्न है। वहाँ इसमें अन्य और समस्त द्रव्य चेतना से रहित जो अजीव रूप है, वह जड़ है। इसलिये यहाँ और अन्य द्रव्यों से भिन्न भेद की प्राप्ति होती है। जहाँ जो गुण अन्य वस्तुओं में नहीं पाया जाता है, वह असाधारण लक्षण है। इसलिये पहले जीव तत्व का जो असाधारण गुण चेतना है, वह सामान्य है।

आगे चेतना का स्वरूप कहते हैं :—

सामान्य तथा विशेष-रूप पदार्थ को जो जानता है, वह चेतना है। तथा उसी चेतना के ज्ञानदर्शन-रूप बारह विकल्प भेद हैं।

भावार्थ—आठ प्रकार के ज्ञान, चार प्रकारके दर्शन—ये बारह प्रकार के भेद गुण ज्ञानदर्शन से पदार्थ के जाने जाते हैं। इसलिये आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा-रूप है अथवा वह चेतना तीन प्रकार की है—(१) कर्म-चेतना, (२) कर्म-फल चेतना तथा (३) ज्ञान-चेतना ये चेतना के तीन भेद हैं। इसमें पहले की जो कर्म-चेतना है, वह अपने ज्ञानस्वरूप भाव से अन्य वस्तु में आत्म बुद्धि होना कर्म-चेतना है, जो कर्म-फल-चेतना है, वह शुभाशुभ कर्म के उदय सम्बन्धी जीव के सुख-दुख रूप भाव को प्रगट होना कर्म-फल-चेतना है तथा जो ज्ञान-चेतना है, वह जहाँ समस्त पर द्रव्य से भिन्न राग-द्वेप रूप मोह से रहित आत्म-स्वभाव का प्रगट होना है, वह ज्ञान-चेतना है।

भावार्थ - कर्म-रूप पुद्गल को अपना मानना जो है, वह कर्म-चेतना है। पुनः सुख-दुःख-रूप कर्म-फल सम्बन्धी जीव के राग-द्वेप-रूप परिणाम होना दूसरी कम फल-चेतना है। पुनः राग-द्वेपादि से रहित शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा का परिणाम होना जो है, वह आत्मा की ज्ञान-चेतना है। इस प्रकार तीन प्रकारकी चेतनाहै। इन तीनोंमें जो पहली कर्म-चेतना है, वह मिथ्यादृष्टि जीव के ही होती है, अन्य के नहीं। दूसरी जो ज्ञान-चेतना है, वह सम्यग्दृष्टि को ही होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। तथा तीसरी जो कर्म-फल-चेतना है, वह सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्या-दृष्टि इन दोनों के होती है। इसलिये कर्म-चेतना तथा कर्म-फल चेतना ये दो प्रकार की चेतनायें मिथ्यादृष्टि के होती हैं और कर्म-फल-चेतना तथा ज्ञान-चेतना ये दोनों चेतनायें सम्यग्दृष्टि को होती हैं।

भावार्थ—पहली जो कर्म-चेतना है, वह पहले मिथ्यात्व-गुणस्थानमें होती है, आगे नहीं। दूसरी जो कर्म-फल-चेतना है, वह मिथ्यात्व-

गुणस्थान से लेकर छट्टे प्रमत्त-गुणस्थान तक होती है, आगे नहीं। और तीसरी जो ज्ञान-चेतना है, वह अव्रती गुणस्थान से लेकर सिद्ध भगवान् तक समस्त सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है। इसलिये पहले मिथ्यात्व गुण-स्थान सम्बन्धी एक कर्म-चेतना ही जानना। पुनः पहले मिथ्यात्व, दूसरे सासादन सम्यग्दृष्टि, तीसरे मिश्र इन तीन गुणस्थान में एक कर्म-फल चेतना ही होती है अर्थात् इनमें कर्म चेतना नहीं है। चौथी अव्रत पाँचवां देशव्रत तथा छठ्ठां प्रमत्त-गुणस्थान में कर्म-फल चेतना रहती है। एक ज्ञान-चेतना और कर्म-फल चेतना ये दो चेतनायें प्रमत्त-गुणस्थान में रहती हैं। पुनः सातवें अप्रमत्त-संयत से लेकर चौदह गुणस्थान तक अयोग केवली ऐसे इन आठ गुणस्थानों तथा सिद्ध भगवान् में एक ज्ञान-चेतना ही रहती है अथवा कर्म-चेतना, कर्म फल-चेतना और ज्ञान-चेतना जो तीन प्रकारकी कही गई है; उसमें कर्म-चेतना और कर्म-फल-चेतना ये दो चेतनायें अज्ञान-चेतना के भेद हैं। उससे संसारके कारण जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मका निमित्त कहा गया है, कर्मकी उत्पत्ति और बन्ध दोनोंके कारण हैं। इसलिये कर्म-चेतना, कर्म-फल-चेतना ये दो भेद-रूप अज्ञान चेतना हैं, उन्हें संसार के बीज समझना चाहिये और तीसरी जो ज्ञान-चेतना है, वह मोक्ष का कारण है। और वह समस्त राग-द्वेष, मोह तथा कर्म के अभाव से हुई है। अतः वह ज्ञान-चेतना मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—ज्ञान-चेतना और अज्ञान-चेतनायें जो कही गई हैं, उसमें पहली जो ज्ञान-चेतना है, वह मोक्ष का कारण है तथा दूसरी अज्ञान-चेतना संसार का कारण है। दूसरी अज्ञान-चेतना के दो भेद हैं—कर्मचेतना और कर्म-फल-चेतना। इसलिये चेतनाओं के तीन भेद कहे गये।

प्रश्न:—इस प्रकार दूसरी कर्म-फल चेतना संसार कारण है, तो वह सम्यग्दृष्टि के कैसे होती है?

उत्तर—जो अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान नाम के चारों मोहनीय कर्म के उदय से शुभाशुभ-रूप कर्म-फल सम्बन्धी सम्यग्दृष्टि जीव को भी सुख-दुःख में राग-द्वेष-रूप परिणमन होता है, परन्तु वहाँ मिथ्यादृष्टि के समान राग-द्वेष नहीं होना है। जैसे—मिथ्यादृष्टि जीव के अपने कर्म के उदय को अपना स्वभाव मानता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय को अपना स्वभाव नहीं मानता। इसलिये अल्पशक्ति के कारण चारित्र मोहनीय की अपेक्षा कर्म-फल चेतना है, परन्तु उसके श्रद्धान में अन्तर-फरक, भिन्नता नहीं है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म-फल-चेतना संसार का कारण नहीं है।

प्रश्न—यदि इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को कर्म-फल चेतना संसार का कारण नहीं हैं, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव को संसार का कारण कैसे है?

उत्तर—वहाँ पर मिथ्यादृष्टि जीव को शुभाशुभ कर्म के फल सम्बन्धी सुख-दुःख होता है और उनको मिथ्यात्व कर्म के उदय होने के कारण वह उसको अपना स्वभाव मानता है इसलिये उसको कर्म-फल चेतना संसार का कारण बतलाया गया है।

भावार्थ—निन्दा और स्तुति के जो वचन हैं, वे पुद्गल के पर्याय हैं, परन्तु अज्ञानी जीव उसको सुन करके ऐसा मानता है कि ये सब हमारे हैं और इसीलिये वह राग-द्वेष करता है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि—अज्ञानी जीवों के निन्दा-स्तुति-रूप वचन शब्द-रूप तथा पुद्गल पर-द्रव्य हैं। वह तुम्हारे निज स्वभाव से पृथक् है। इसलिये हे अज्ञानी जीव

तुमको तो कुछ भी नहीं कहा—फिर तू वृथा अज्ञानी क्यों हुआ ?
तू निन्दा-रूप वचन में रोष तथा स्तुतिरूप वचन में राग क्यों करता है ?
वह शुभाशुभ-रूप जो शब्द है, वह तुम्हारा नहीं है, सो वृथा ही उसे
सुन करके रागी-द्वेषी क्यों होता है ? पुनः जो शुभाशुभ वर्ण, गन्ध, इत्यादि
कहा वह भी तुम्हारे नहीं हैं, अतः उनमें तुम्हारा राग-द्वेष करना व्यर्थ है।
अथवा शुभाशुभ रूप जो शब्द है उसने तुमसे ऐसा नहीं कहा कि तुम मुझे
सुनो, फिर तू वृथा ही रागी-द्वेषी क्यों हुआ ? पुनः ये शुभाशुभ रूप जो
वर्ण हैं वे तुमको ऐसा नहीं कहे कि तुम मुझको देखो, पुनः ऐसे ही
शुभाशुभ रूप जो गन्ध हैं उसने तुमको ऐसा नहीं कहा कि तुम मुझे सूघो,
ऐसे ही शुभाशुभ रूप जो रस है उसने तुमसे ऐसा नहीं कहा कि तुम मेरा
आस्वाद लो। इसी प्रकार जो शुभाशुभ रूप स्पर्श है उसने तुमसे नहीं
कहा कि तुम मेरा स्पर्श करो। यानी पचेन्द्रिय के शुभाशुभ रूप जितने
ही द्रव्य हैं उनमें से किसी ने भी नहीं कहा कि तुम मेरा उपभोग करो ।
अथवा यदि आत्मा भी उसको ग्रहण करने के लिये अपने प्रदेश को छोड़
कर वहाँ जाय तो भी उसको प्राप्ति नहीं होती। किन्तु यह अज्ञानी जीव
मोह के उदय से वृथा ही उसमें राग-द्वेष करता है।

भावार्थ—शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप जो शुभाशुभ द्रव्य हैं
वे सभी आत्मा के गुण नहीं हैं, जो तुमको देखे, सुने, सूघे, आस्वाद करे,
स्पर्श करे अथवा तुमको जाने।

जिस प्रकार चुम्बक पाषाण में सुई अथवा लोहे की कोई वस्तु निकट
में होने से स्वयं ही उसमें जाकर मिल जाती है उसी प्रकार आत्मा पंचे-
न्द्रियों के विषयों में स्वयमेव जाकर नहीं मिलता। किन्तु ऐसा होने पर
भी यह आत्मा शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गन्ध को सूंघकर, रस

का आस्वादन कर स्पर्श को छूकर के तथा द्रव्यको जानकर उसमें भला-बुरा मानकर रागी-द्वेषी होता है यह सभी अज्ञानता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को कर्म के उदय का स्वामीपना होता हैं। इसलिये उसको दूसरी कर्म-फल चेतना संसार के लिये कारण है। पुनः पहली जो कर्म चेतना है वह तो पर पदार्थ में आत्मबुद्धि मानने से साक्षात मिथ्यात्व रूप ही है। तीसरी जो ज्ञानचेतना कही गई है वह साक्षात् सम्यक्त्वरूपी है। इसलिये वहाँ समस्त मोह विकार से रहित शुद्ध ज्ञान दर्शनमय जो आत्म परिणाम है वह ज्ञान चेतना है। यहाँ तीसरी आत्मा के परिणाम का नाम सम्य-क्त्व है। इसलिये यह ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टि को ही होती है, अन्य मिथ्यादृष्टि को नहीं।

विवेचन—ज्ञानचेतना का स्वभाव ज्ञेय पदार्थ को जानना ही मात्र है। इसलिये ज्ञान में विकार नहीं है, परन्तु उसमें राग-द्वेष करने से विकार होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना में राग-द्वेष रूप विकार नहीं होता। इस प्रकार यह ज्ञानचेतना का स्वरूप कहा गया। १—कर्मचेतना, २—कर्मफलचेतना, और ३-ज्ञानचेतना इन तीन प्रकार के चेतनाओं का स्वरूप प्रवचनसार में श्री कुन्द-कुन्द स्वामी ने निरूपण किया है, अतः उसे वहाँ से देख लें।

प्रश्न—जो वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों में ज्ञानदर्शनचेतना रूप लक्षण की प्रवृत्ति देखने में नहीं आती है, क्योंकि कि उसके अन्दर हित की प्राप्ति और अहित की अप्राप्ति नहीं है। तो वनस्पतिआदि एकेन्द्रिय जीवों में अजीव- पने की ही प्राप्ति होनी चाहिए ?

उत्तर—यहां पर ऐसा दोष नहीं है। क्योंकि उन वनस्पतियों के

सम्बन्ध में भी ज्ञानदर्शन रुप जो चेतना है वह सर्वज्ञ प्रत्यक्ष है और छद्मस्थ के लिये आगमप्रमाण से जानी जाती है। तथा जैसे जल के सींचने से वनस्पति हरी हो जाती है और अग्नि आदि के आताप से वह सूख जाती है उसी प्रकार आहार के लाभ-अलाभ से एकेन्द्रिय आदि विषय में भी ज्ञानदर्शनचेतनपना छद्मस्थ को भी गम्य है। इसलिये वनस्पति आदि एकेन्द्रिय के विषय में अजीवपना की प्राप्ति नहीं है। अथवा जैसे अंडे में रहने वाला तथा गर्भ में रहने वाले तथा संमूर्छन को जन्म अवस्था में जो जीव रहते हैं उनमें ज्ञानदर्शनरूप हित को प्राप्ति और अहित का त्याग यानी इन दोनों हिताहित की प्रवृत्ति नहीं होती है, परन्तु उसमें जीव तो विद्यमान रूप है उसी तरह एकन्द्रियादि रूप पांच स्थावरकाय में भी ज्ञाता-द्रस्टारूप चेतनलक्षण सहित जीव है, ऐसा समझना चाहिये। पुनः इस जीव से विपरीत रूप उल्टी चेतना लक्षण रहित जो अजीव है और पुण्यपाप रूप आवागमन का जो द्वार है वह आस्रव है। जैसे समुद्र में नदी के द्वारा सदा जल आता रहता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के द्वारा आत्मा में भी कर्म रूप जल निरन्तर आता रहता है। इस प्रकार आस्रव तत्व का स्वरूप जानना।

बंधतत्त्व—मिथ्यादर्शन आदि के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में पुद्गल परमाणु रूप कर्म प्रदेश का परस्पर मिलाप होना जो है सो बन्ध है। अथवा जैसे वेड़ी आदि द्रव्य वंधन से कोई पुरुष पराधीनता से अपने मनमाने स्थान को नहीं जा सकने से-वह अत्यन्त दुःख को प्राप्त होता है। उसी तरह यहाँ आत्मा भी कर्मरूप बन्धन से बंधा हुआ शरीर तथा मन सम्बन्धी दुःखों से पीडित हो रहा है। इस प्रकार बंध तत्व का स्वरूप समझना चाहिये।

संवरतत्व—शुद्ध परिणाम के वश से जो कर्म को रोकना है सो संवर है। अथवा जिस प्रकार चतुर जन अपने द्वार के दरवाजे को भली भांति बन्द करके अपने जान माल की रक्षा चोर-डाकुओं से कर लेता है तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार बुद्धिमान ज्ञानी भव्य जीव संवर रूप आत्मा के अन्दर आत्मा को मलिन करने वाले नवीन कर्मों को नहीं आने देता।

निर्जरातत्व—तप विशेष की निकटता से एक देश कर्म का क्षय होना निर्जरा है अथवा जिस प्रकार मन्त्र तथा औषधि के बल से जिनके दुःखरूपी कर्मों का नाश हो गया है ऐसे जीवों को दुःख की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार यहाँ भी सविपाक तथा अविपाक इन दो प्रकार की निर्जरा से नाश को प्राप्त हुये जो कर्म हैं वे आत्मा को संसाररूप फल को नहीं दे सकते।

मोक्ष—सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति से आत्मा के समस्त चार प्रकार कर्मबन्धों का सर्वथा नाश होना मोक्ष है अथवा जैसे कोई पुरुष बेड़ी आदि द्रव्य बन्ध से छूटने के बाद अपने आधीनपन को मानता है वह मनवाँछित देश में जाने के बाद ही सुखी होता है उसी प्रकार यहाँ आत्मा भी समस्त कर्ममलों के नाश होने से अपने आधीन अनन्त ज्ञान तथा अनन्तदर्शन होने से सुखी होता है। इस प्रकार सातवें मोक्ष तत्व का वर्णन किया। इसका विस्तार विशेषरूप से आगे चलकर किया जायेगा।

प्रश्न—जो सबसे पहले जीव कहा, तत्पश्चात् अजीव, पुनः आस्रव, बन्ध, सवंर, निर्जरा और अन्त में मोक्ष कहा। तो इन सातों तत्त्वों के अनुक्रम से कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यहां पर मोक्षमार्ग का प्रकरण है उसको प्रगट करने के लिये जीवादि तत्वों का उपदेश रूप जो परिश्रम है वह आत्मा के लिये है और संसारी जीवों को सुखी करने की इच्छा भी है वह सुख आकुलता रहित ज्ञान दर्शनरूप आत्मा का हित करने वाला है वहाँ पर किसी प्रकार की बाधा नहीं है। इसलिये उसे सुख कहा गया है। वह सुख अविनाशी आत्मोका हित रूप है और ऐसा अलौकिक सुख केवल मोक्ष में ही पाया जाता है। इस प्रकार जो मोक्ष का सुख है वह जीव को ही होता है। अतः सबके आदि में जीव का ग्रहण किया गया है। अथवा जीवादि जो सात प्रकार के तत्व कहे गये हैं उनका ज्ञान भी केवल एक आत्मा को ही होता है। इसलिये भी सूत्र के आदि में जीव तत्व को ही ग्रहण करना योग्य है।

भावार्थ—समस्त तत्वों में मोक्ष तत्त्व प्रधान है। और मोक्ष की प्राप्ति भी जीव को ही होती है अथवा उन समस्त तत्त्वों को ग्रहण भी एक आत्मा को ही होता है। इसलिये ही सूत्र के आदि में सबसे पहले जीव तत्त्व का ग्रहण किया गया है। तत्पश्चात् अजीव का ग्रहण किया गया है। वहाँ शरीर, वचन, मन, प्राण, श्वासोच्छ्वास इत्यादि पुद्गल की जो क्रिया है वह जीव के ऊपर अजीव का उपकार माना गया है। इसलिये जीव के पीछे अजीव का ग्रहण किया गया है। पुनः आत्मा और कर्म का परस्पर सम्बन्ध होना आस्रव है। इसलिए अजीव के पीछे आस्रव का ग्रहण किया गया है। आस्रव के आने से ही जीव को बन्ध होता है। इसलिये आस्रव के पीछे बन्ध को ग्रहण किया गया है अर्थात् संवर रूप आत्मा को ही बांधता है। इसलिये बन्ध के पीछे ही संवर का ग्रहण किया गया है। पुनः संवर रूप परिणाम से आत्मा के कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिये

संवर के पीछे निर्जरा का ग्रहण किया गया है और समस्त कर्म निर्जरा के पश्चात् अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये निर्जरा के अनन्तर मोक्ष का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार सातों तत्त्वों की परिपाटी का क्रम जानना चाहिये।

प्रश्न—इस सूत्र में पुण्य और पाप का भी ग्रहण करना चाहिये था, क्योंकि अन्य ग्रन्थों में अन्य आचार्यों ने नौ तत्त्व कहे हैं। अतः यहाँ भी नौ तत्त्व ही कहना योग्य था ?

उत्तर—यह वात तो सत्य है, किन्तु अन्य ग्रन्थों में जो नौ तत्त्व हैं वे पुण्य और पाप को उत्पन्न करने वाले हैं और वे आस्रव तथा बन्ध तत्त्व में गर्भित हैं जिससे वहाँ आस्रव और बन्ध दोनों ही पुण्य-पाप रूप ही हैं। यानी इससे वे भिन्न नहीं हैं। इसलिये यहां पुण्य और पाप का पृथक् ग्रहण नहीं किया गया। अतः इस सूत्र में केवल सात तत्त्वों का ही ग्रहण करना योग्य है।

प्रश्न—यदि ऐसी वात है तो वहां जीव-अजीव के विना अन्य आस्रव आदि जो पांच तत्त्व हैं वे भी तो जीव और अजीव में ही गर्भित हैं। इसलिये एक जीव और एक अजीव इन दोनों तत्त्वों को ही कहना चाहिये था फिर वहां सात तत्त्व क्यों कहे ?

उत्तर—यह दोष यहां पर नहीं है जहां पर मोक्ष मार्ग को प्रकरण हो वहाँ पर मोक्ष अवश्य ही कहना चाहिये। किन्तु जो मोक्ष है सो जीव के होता है। इसलिये जीव का ग्रहण करना योग्य है। वह मोक्ष संसार पूर्वक होता है और जो संसार है वह जीव तथा अजीव के परस्पर संयोग रूप से होता है। इसलिये अजीव का भी ग्रहण करना योग्य है। पुनः

जीव-अजीव का संयोग रूप जो संसार है वह आस्रव और बन्ध से होता है। इसलिये यहां संसार का प्रधान कारण आस्रवबन्ध ही है। अतः आस्रव और बन्ध इन दोनों का भी ग्रहण करना योग्य है। पुनः आस्रव बन्धरूप संसारके अभावसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और उस मोक्षको प्रधान कारण संवर निर्जरा है। इसलिये इन दोनों तत्त्वों का भी ग्रहण करना योग्य है। इस प्रकार प्रधान रूप कारण तथा कार्यकी अपेक्षा से उन सात तत्त्वों को पृथक्-पृथक कहा है। इसलिये यहां पर इन सात तत्त्वों को ही कहना योग्य है। इसमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं है। अथवा यद्यपि सामान्यपने की अपेक्षा एक जीव और दूसरा अजीव ये दो ही तत्त्व हैं। जो आस्रवादि विशेष रूप अन्य पाँचों तत्त्व हैं वे सब इन्हीं दोनों में गर्भित हैं। यानी इनसे बाहर नहीं हैं। इसलिये एक जीव और दूसरा अजीव ये दो ही तत्व हैं, यह बात तो सत्य है, तथापि यहां पर प्रयोजन के वश से पृथक्-पृथक् अर्थ का ग्रहण किया गया है। जैसे किसी राजा की सेना में बहुत से क्षत्रिय रहते ही हैं, किन्तु उसमें कोई आकर ऐसा कहे कि इस सेना में सभी क्षत्रिय आ गये और शूरवर्मा नामक बहुत बड़ा जो सुभट है सो भी आ गया है। सो यद्यपि शूरवर्मा नामक सुभट सभी क्षत्रियों में अन्तर्भूत है तथापि उसका प्रयोजन वश से पृथक् ग्रहण किया गया है। उसी तरह यहां भी जीव और अजीव के विषय में अन्य पांच तत्त्व अन्तर्भूत हैं। और वे संसार मोक्ष के प्रधान कारण हैं। इसलिये उनका पृथक्-पृथक् ग्रहण किया गया। इस प्रकार सात ही तत्व कहने योग्य हैं, इससे हीन अधिक नहीं।

अन्यवादी का प्रश्न—इस सूत्र में तत्त्वशब्द तो भाव वाची है और वह एक वचनपने से नपुंसकलिंग है, किन्तु यहां तत्त्वशब्द

के जीवादिपदार्थ जो द्रव्यवाची रूप पुरुषलिंग कहे उससे इनके समानाधिकरणपना नहीं उत्पन्न हुआ ?

उत्तर—यह दोष यहां नहीं है, क्योंकि द्रव्य से भाव पृथक् नहीं है और वहां पर जो द्रव्य है सो भाव से अभेदरूप है। इसलिये यहां द्रव्य-भाव के ग्रहण करने में कुछ भी दोष नहीं हैं। अथवा जैसे ज्ञान ही आत्मा है वहाँ ज्ञान रूप जो भाव है सो ही आत्मा है उसी प्रकार यहाँ भावरूप तत्त्व शब्द के जीवादि पदार्थ द्रव्यरूप कहे हैं। इसलिये भाव वाची रूप तत्वशब्द के जीवादि पदार्थों को द्रव्यवाची रूप कहने में कुछ भी दोष नहीं है।

प्रश्न—इस प्रकार द्रव्य को ही भाव से अंगीकार करोगे तो वहां द्रव्यों का जो लिंग तथा संख्या है उसकी भी तो प्राप्ति आवेगी ?

उत्तर—लिंग तथा संख्या का भी जहां तक तत्वशब्द भाव वाची है वहाँ एक वचन नहीं है। इसलिये लिंग संख्या की प्राप्ति नहीं होती। अथवा यहां लिंग संख्या रूप वचन की सिद्धि करने का कुछ प्रयोजन नहीं है। यहां केवल वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करने का प्रयोजन है। इसलिये उस सूत्र में भाव वाची जो तत्व शब्द है उसको जीवादि पृथक् पृथक् लिंग संख्यारूप रहने में कुछ दोष नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।

शंका—हमने तो यहां ऐसा समझा है कि लिंग तथा संख्यारूप शब्द का यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो केवल द्रव्यं तत्वं इतना ही सूत्र कहना चाहिये था। क्योंकि द्रव्य के ही भेद सभी पदार्थ हैं। इससे एक द्रव्य को ही तत्व कहना योग्य है फिर यहाँ सात ही तत्वों का सूत्र में अंगीकारपना क्यों किया ?

समाधान—ऐसा कहने में भी एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह सात, आठ आदि संख्यात असंख्यात तथा अनंत ऐसे अनेक भेदरूप पदार्थों की प्राप्ति होती है तो वहां सामान्यपने से पदार्थ एक है। क्योंकि एक द्रव्य के विषय ही अनन्त पर्याय होते हैं सो ही प्राचीन सिद्धांत में कहा है कि जो एक द्रव्य है उसको अनंतानंत पर्यायें हैं, ऐसा वचन है। इस लिये पदार्थ एक है अथवा सो ही द्रव्य एक जीव, एक अजीव ऐसे दो भेद से दो प्रकार का है। क्यों कि वहाँ जीव-अजीव से कोई पदार्थ भिन्न नहीं है। इसलिये द्रव्य दो है अथवा एक शब्द, एक अर्थ, एक ज्ञान ऐसे तीन प्रकार हैं। इसमें शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनों में से कोई भिन्न नहीं है। इसलिये द्रव्य तीन हैं अथवा इसी प्रकार और भी वचन के भेद की अपेक्षा से संख्यात असंख्यात तथा अनन्त भेद-रूप है।

वह कैसे है?

उत्तर—उसमें कोई प्रकृति और पुरुष ऐसे दो भेद करके पुनः उसके पच्चीस तत्व कहते हैं। पुनः कोई द्रव्य गुण आदि सात पदार्थ कहते हैं। कोई पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तथा वनस्पति इन पांच तत्वों को कहते हैं और कोई प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थ कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान—ज्ञेय भेद की अपेक्षा करके एक द्रव्य के अनन्त भेद हुए हैं। तब उनका कहाँ तक ज्ञान हो? इसलिये शिष्य के आशय के वश से आचार्य ने मध्यम क्रम करके सात ही पदार्थ कहे हैं। यहाँ जितने भी बड़े-बड़े बुद्धिमान ज्ञानी हैं उन्हीं की समझ में आयेगा, अन्य अल्प-ज्ञानी की समझ में नहीं। और यदि अति विस्तार रूप से कहते तो वहां बहुत समय तक समझने पर भी उनको ज्ञान नहीं होता। इसलिये

मध्यम क्रमवर्ती करके सात ही तत्व ग्रहण करने योग्य है, हीनाधिक नहीं।

भावार्थ—मोक्षमार्ग प्रकरण में सम्यग्दर्शन के विषयभूत श्रद्धान करने योग्य सात ही पदार्थ हैं, अन्य प्रकार नहीं। इसलिये यहां इस सूत्र में भी सात ही तत्व का ग्रहण किया गया है।

प्रश्न—यहां एक जीव द्रव्य ही तत्व है, अन्य नहीं यानी और कोई तत्व यहां पदार्थ नहीं है। इससे एक द्रव्य ही अनेक पर्याय रूप है। इसलिये एक जीव ही द्रव्य है, अन्य कोई नहीं ?

समाधान—आपका यह कहना असत्य है। क्योंकि जिससे पर को जीव की सिद्धि वचन से कराई है यहां जो वचन है वह अजीव है। इसलिये एक तत्व नहीं। यदि वचन को भी जीव कहा जाय तो उसके स्व संवेदन होना चाहिये, पर वह नहीं है। इस प्रकार एक जीव और एक वचन रूप दूसरा अजीव भी है। इसलिये एक जीव ही तत्व है, ऐसा नहीं है।

प्रश्न—जो कोई दूसरा जीव हो तो उसके स्व संवेदन ज्ञान कहना चाहिये, क्योंकि समस्त संसार में केवल एक ही परमात्मा है। उसकी अविद्या से अनेक जीव दीखते हैं, इसलिये एक ही जीव तत्त्व है ?

उत्तर—संसार में जीव तो अनेक हैं, परन्तु वे अविद्यारूप में वैसे दीखते हैं ? यदि तू ऐसा मानेगा तो एक मेरे बिना अन्य कोई जीव ही नहीं है। तो इसी प्रकार अन्य लोग भी कहेंगे कि मेरे बिना कोई जीव ही नहीं है। पर ऐसा कहने में सर्व शून्यता का प्रसङ्ग आयेगा। और यदि तू पुनः ऐसा कहेगा कि आगम से केवल एक ही पुरुष की सिद्धि है

तो हमारे आगम में नाना पुरुष रूप अनेक जीव की सिद्धि है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण से तो हमारा आगम सिद्ध है। और एक ही पुरुष को कहने वाले का आगम प्रत्यक्ष प्रमाण से मिलता नहीं, इस प्रकार उसमें विरोध आयेगा। अतः जो वचन है वह अजीव रूप है। वहाँ जैसे अजीव वचन है उसी प्रकार पृथ्वी आदि वस्तु भी अजीव है। इसलिये सामान्यपने से एक जीव, और एक अजीव ऐसे दो तत्व हैं। वहाँ जीव अजीव ऐसे दोनों के मिलनरूप क्रिया से आस्रव होता है। पुनः इस जीव पुद्गल के प्रदेश का परस्पर में मिलाप होने से बन्ध होता है और जीव के विशुद्ध परिणाम होकर नवीन कर्मों के आने का अभाव होने से संवर होता है। पुनः जीव का एक देश रूप कर्म का क्षय होने से निर्जरा होती है और जीव के समस्त कर्मों के सर्वथा अभाव होने से मोक्ष होता है। इस प्रकार जीव अजीव के सम्बन्ध होने से सात तत्वों की प्राप्ति होती है। इसलिये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात ही तत्व हैं, इनसे हीन अधिक नहीं।

आगे के पांचवें सूत्र में शिष्य पूछता है कि—इस प्रकार कहे हुए सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि तत्व का लोक व्यवहार में विचार आता है, अतः वहां नाम मात्र सूत्र को भी जीव कहना चाहिये, स्थापना रूप को भी जीव कहना चाहिये, द्रव्य को भी जीव कहना चाहिये और भाव को भी द्रव्य कहना चाहिये, क्योंकि यथार्थ स्वरूप समझे बिना उसमें अन्यथापने की प्राप्ति होती है। इसलिये उनका व्यभिचार कैसे दूर हो जायगा?

शिष्य के प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि—

सूत्र—नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिससे पदार्थों को जानिये अथवा पदार्थों को सन्मुख करे सो नाम है। उससे गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया से रहित वस्तु में अपना पुरुपार्थ कर ही अन्य की अपेक्षा रहित वस्तु की अपनी इच्छा से ही संज्ञा करनी जो है सो पहिला नाम निक्षेप है। इस प्रकार व्याकरण में नाम शब्द की निरुक्ति कही है।

भावार्थ—जिस वस्तु में जैसा नाम है, वैसो उसमें गुण तो नहीं रहता। परन्तु उसको लोक व्यवहार की प्रवृत्ति के अर्थ उसको अपनी इच्छा से वैसा ही नाम कहना है, सो नाम निक्षेप है। जैसे किसी पुरुप का नाम इन्द्रराज है, किन्तु इन्द्र का गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया, रूप लक्षण उसमें एक भी नहीं है, परन्तु माता-पिता ने उसका नाम इन्द्र, धर दिया है, तो वहां उसका नाम निक्षेप कर इन्द्रराज कहने में कुछ भी दोप नहीं है। अथवा ऐसे ही किसी पुरुष का नाम लक्ष्मीधर है, वहां अर्थ के विचार से जो एक लाख रुपये का स्वामी हो, उसे लक्ष्मीधर कहते हैं, परन्तु लोक में जिसके पास पाँच ही रुपया नहीं है, उसको भी लक्ष्मीधर कहते हैं। इस प्रकार का जो कहना है, वह नाम निक्षेप की अपेक्षा से लक्ष्मीधर कहना सत्य है। अतः इसी प्रकार और भी धनपाल, इन्द्रदत्त, जिनदत्त, देवदत्त, नागदत्त, गजपतराय सिंहसेन इत्यादि जो हैं, नामगुण जाति द्रव्य क्रिया की अपेक्षा से विना ही जो अपने मन में आये अपनी इच्छा से वस्तु का नाम रखना है उसे नाम लौकिक निक्षेप समझना चाहिये एवं जो अन्य कोई कारण की अपेक्षा से जहां जो नाम हो, वहां वह नाम की अपेक्षा ही कहा जाता है। जिस प्रकार सफेद गुण को धारण करनेवाले को धवलगुण कहना वहां गुणधर नाम है। तथा जहाँ मनुष्य, गाय, हाथी अश्व, घट, पट इत्यादिक जो नाम हैं, वहाँ उनका बोध जाति के द्वारा

होता है। और जो कोई पुरुष कुण्डल पहने हैं, उसको कुण्डलिया कहना एवं जो हाथ में डण्डा लिये हो, उसको डण्डी कहना तथा जो बहुत धन रखता हो उसको धनवान कहना इस प्रकार यह द्रव्य नाम है। जो पूजन करता हो उसको पुजारी कहना तथा जो लिखता है, उसको लिखनेवाला कहना तथा जो राज्य करता हो उसको राजा कहना इस प्रकार नाम पड़े हैं। इस प्रकार गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया इस प्रकार के चार भेद-रूप जो नाम बताये हैं, वह नाम निक्षेप कहे हैं। उस नाम निक्षेप में तो केवल नाम कहना मात्र ही प्रयोजन जानना। वहाँ पर कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। उसमें लोक-व्यवहार प्रवृत्त के लिये वस्तु का नाम जो कहना है, वह नाम निक्षेप है। स्थापना का अर्थ यह है कि—अन्य वस्तु की अन्य वस्तु में स्थापना करना ही स्थापना है। जिस प्रकार धातु पाषाण की प्रतिमा में वृषभदेव की स्थापना करके पूजा आदि भक्ति करने को तथा साक्षात् आदिनाथ तीर्थंकर मानना ही स्थापना है। जिसकी स्थापना की है, वह स्थापना है।

भावार्थ—जहाँ वस्तु तो कुछ और हो, वहाँ उसमें अपने संकल्प-रूप में अन्य वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। जिस प्रकार धातु पाषाण मिट्टी आदि द्रव्य में इस प्रकार की स्थापना करना जो यह फलानी वस्तु है, वहां धातु पाषाण तथा रत्न की प्रतिमा को बनवा कर इस प्रकार स्थापना करे कि यह आदिनाथ तीर्थंकर हैं, तथा यह अन्त के चौबीसवें महावीर स्वामी हैं तथा इस प्रकार ही काठ पाषाण तथा मिट्टी आदि द्रव्य में स्थापना करना, तथा यह हाथी है, यह घोड़ा है, यह ऊँट है, यह पैदल है, यह गाय है, यह भैंस है, यह बकरी है, यह भेड़ा है, यह साँड है; यह कुत्ता है इत्यादिक स्थापना जो है, वह सभी तदाकार

स्थापना है। पुनः दूसरी अतदाकार जो है वह जीव है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तथा रत्नत्रय-रूप है, तथा यह जिनवाणी एवं जिन-धर्म है इस प्रकार की स्थापना करना अतदाकार स्थापना है।

विशेषार्थ—यहां तदाकार नाम सद्भाव का है। और अतदाकार नाम असद्भाव है, इसमें सद्भाव तथा असद्भाव यह दो प्रकार की स्थापना है। उसमें जो सद्भाव है, जहाँ जिसकी स्थापना करना हो वहाँ उस वस्तु के अंग उपांग-रूप इस प्रकार ही चिन्ह प्रकट हो अर्थात् देखनेवाले को उसका ही नाम प्रकट हो तथा उसके अनुसार ही उसकी बुद्धि प्रकट हो तथा यह तो आदिनाथ भगवान् की मूर्ति है, यह महावीर स्वामी की मूर्ति है तथा यह इन्द्र महाराज हैं, यह हाथी है, यह घोड़ा है, यह गाय है, यह भैंस है इत्यादि तदाकार-रूप वस्तु जो है, वह सभी सद्भाव स्थापना है।

असद्भाव अर्थात् असद्भाव जो स्थापना है, वहां उस वस्तु के अंगोपांग-रूप आदि चिन्ह प्रकट नहीं हैं। इस प्रकार आकार रहित शून्य-रूप अतदाकार वस्तु जो है, वह दूसरी असद्भाव स्थापना है। उससे एक अतदाकार तथा तदाकार वस्तु-रूप को स्थापना करना जो है, वह दूसरा स्थापना निक्षेप है।

द्रव्य—द्रव्य जो है वस्तु, आगामी काल में जिस प्रकार होनेवाली हो, उसको उसी प्रकार वर्तमान काल में उसी रूप में कहना जिस प्रकार राजा का पुत्र हो तो उसको राजा कहना इसको द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार राजा का पुत्र वर्तमान काल में राजा तो नहीं है, परन्तु आगामी काल में वह राजा होनेवाला है, इस प्रकार उसको द्रव्य की अपेक्षा करके राजा कहने में कुछ भी दोप नहीं है। अथवा जिस

प्रकार कोई जीव मनुष्य पर्याय के अन्त में देव पर्याय के सन्मुख हुआ है, परन्तु वह देव पर्याय को ग्रहण नहीं किया है, उसको द्रव्य की अपेक्षा से देव कहना अथवा जिस प्रकार कोई जीव सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने के सन्मुख हो गया है, पर उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई, पर अन्त-मुहूर्त में होनेवाली तथा सम्यक्त्व को धारण करनेवाली है, उसको द्रव्य की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि कहना इसी प्रकार अगले पर्यायके सन्मुख-रूप वस्तु को वर्तमान में ग्रहण करना जो है, वह द्रव्य निक्षेप है। यह तीसरा द्रव्य निक्षेप दो प्रकार का है :—

१—आगम द्रव्य निक्षेप।

२—नो-आगम द्रव्य निक्षेप।

उनमें से पहले आगम द्रव्य निक्षेप को कहते हैं। उसमें जिसका निक्षेप कहा है, उस वस्तु का कथन जो जैनागम है, उसको जाननेवाले जो पुरुष हैं, वह जिस काल में उस शास्त्र का चिन्तन आदि उपयोग रहित होता है, वह पुरुष काल में आगम द्रव्य निक्षेप है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष सम्यग्दर्शन के तथा जीव द्रव्य के कथन करनेवाले शास्त्र को जाननेवाला है, वह पुरुष जिस काल में उस शास्त्र के कथन का चिन्तन आदि उपयोग रहित होकर अन्य और व्यवहार में उपयोग सहित होता है, वहां उस काल में उस पुरुष को आगम द्रव्य सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा आगम द्रव्य जीव भी कहते हैं। इस प्रकार आगम द्रव्य निक्षेप का स्वरूप समझना।

दूसरे नो-आगम द्रव्य निक्षेप का वर्णन :—

दूसरा जो नो-आगम द्रव्य निक्षेप भी तीन प्रकार का है :—

१—ज्ञायक शरीर।

२— भावी शरीर।

३— तद्व्यतिरिक्त शरीर।

इन दोनों को भिन्न-भिन्न रूप में वर्णन करते हैं। पहले ज्ञायक शरीर अतीत अनागत वर्तमान काल के भेद से तीन प्रकार है। वहाँ जो ज्ञाता का शरीर पहले पर्याय में था उसको छोड़ कर आया, वह अतीत ज्ञायक शरीर है, क्योंकि लोकमें ऐसे व्यवहारकी प्रवृत्ति देखी जाती है और वहां प्राणी के मृतक शरीरको भी लोग ऐसा कहते हैं कि यह अमुक पुरुष है। इसलिये ज्ञाता जीव का जो मृतक शरीर है, सो अतीत ज्ञायक है। और वह अतीत ज्ञायक शरीर भी तीन प्रकार का है।

१— च्युत।

२—च्यवित।

३—त्यक्त।

च्युत—जो शरीर अपनी आयु का अन्त होने से मरण को प्राप्त होता है, सो च्युत है।

च्यवित— जो विष भक्षण करके मरण को प्राप्त हो या मारण, ताड़न, तृष्णा आदि वेदनापूर्वक शरीर में से रुधिर के निकलने या भयपूर्वक तलवार, बरछी, छूरी, कटारी आदि शास्त्रों से, तीव्र संक्लेश होने से स्वासोच्छ्वास के रुकने से, अग्नि में भस्म होने से, जल में डूबने से तथा अन्न पानी का निरोध करने से अकाल मरण को प्राप्त होता है, सो दूसरा च्यवित है।

त्यक्त—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप इस प्रकार के ४ प्रकार की आराधनाको धारण करके समाधिमरण सहित शरीर को त्याग करता है सो तीसरा त्यक्त है।

अनागत शरीर—इसी प्रकार पहला अतीत ज्ञायक शरीर भी जानना। ज्ञाता जीव आगामी काल में जिस शरीर को धारण करेगा सो दूसरा अनागत शरीर है।

वर्तमान शरीर—जिस शरीर से ज्ञाता जीव वर्तमान काल में सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि तत्वों के आगम को जाने, वह तीसरा वर्तमान ज्ञायक शरीर है।

भावार्थ—जहाँ पर जिस वस्तु का जो निक्षेप किया है, वहाँ पर उसके कथन के शास्त्र को जाननेवाले पुरुष का अतीत (१), अनागत (२), वर्तमान (३) इस प्रकार तीन भेद-रूप उसका जो शरीर है, वह पहला ज्ञायक शरीर है। इस प्रकार पहला नो-आगम द्रव्य ज्ञायक शरीर के स्वरूप को समझना।

आगे दूसरे नो-आगम द्रव्य भावी शरीर को कहते हैं :—

जहाँ पर जो सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि पदार्थों के आगम का जाननेवाला शरीर होगा, वह दूसरा अनागत नामक नो-आगम द्रव्य निक्षेप है। इसी प्रकार नो-आगम द्रव्य भावी शरीर का स्वरूप बतलाया है।

आगे तीसरे तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य को कहते हैं :—

तीसरा जो तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य है, उसके दो भेद हैं :—

१—तद्व्यतिरिक्त-कर्म।

२—तद्व्यतिरिक्त नो-कर्म।

उसमें जिस वस्तु का निक्षेप करके जो उसका कारण-रूप ज्ञाता वर्णादि स्वरूप द्रव्य-कर्म है, वह पहला तद्व्यतिरिक्त नामक नो-आगम द्रव्य-कर्म है। और सम्यग्दर्शनादिक के उत्पन्न होने का बाह्य कारण जो आहारादि पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध शरीर-रूप परिणमन करेगा, वह दूसरा

तद्व्यतिरिक्त नामक नो-आगम द्रव्य नो-कर्म है। ऐसे दो प्रकार तीसरे तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य का स्वरूप जानना। इसी प्रकार तीन भेद-रूप दूसरा नो-आगम द्रव्य निक्षेप है। उसमें एक आगम द्रव्य निक्षेप तथा दूसरा नो-आगम द्रव्य निक्षेप है।

इस प्रकार दो भेद-रूप द्रव्य की आगामी पर्याय को वर्तमान काल में जो ग्रहण करता है, वह तीसरा द्रव्य निक्षेप है। द्रव्य की वर्तमान काल में जैसी पर्याय हो, उसको उसी प्रकार स्वीकार करना यह निक्षेप भाव है। जैसे—जो राज्य करता है, उसी को राजा कहना भाव है। इस प्रकार जो चौथा भाव निक्षेप है, वह भी दो प्रकार का है।

१—आगम भाव

२—नोआगम भाव

जिस प्रकार वस्तु का निक्षेप करके उसके कथन करनेवाले शास्त्रको जानने वाले पुरुष का जिस काल में उस शास्त्र में उसका उपयोग लग रहा हो उस काल में वह पुरुष आगम भाव निक्षेप है। एवं जहाँ जिस वस्तुके निक्षेप से वस्तु की जो पर्याय वर्तमान काल में हो वह दूसरा नोआगम भाव निक्षेप है। इसलिये एक आगम भाव तथा दूसरा नोआगमभाव इस प्रकार दो भेद रूप द्रव्य की पर्याय को अतीत तथा अनागत विना एक वर्तमान काल को ही ग्रहण करना जो है वह चौथा भाव निक्षेप है। इस प्रकारः—

१—नाम

२—स्थापना

३—द्रव्य

४—भाव इन चार निक्षेपों का वर्णन किया।

तत्—पहले सूत्र में कहे गये सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि पदार्थों का जो ग्रहण है सो तत् है ।

न्यास—नाम ॥ १ ॥ स्थापना ॥ २ ॥ द्रव्य ॥ ३ ॥ भाव ॥ ४ ॥ रूप जो चार निक्षेप हैं वह न्यास है । अथवा तत् कहिये नाम ॥ १ ॥ स्थापना ॥ २ ॥ द्रव्य ॥ ३ ॥ तथा भाव ॥ ४ ॥ जो तत् कहिये सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि पदार्थों का निक्षेप करना जो है वह तत्सूतन्यास है।

भावार्थ—नाम ॥ १ ॥ स्थापना ॥ २ ॥ द्रव्य ॥ ३ ॥ भाव ॥ ४ ॥ ऐसे इन चारों से सम्यग्दर्शनादिका तथा जीवादि पदार्थों का न्यास कहिये निक्षेप होता है । यहां पर निक्षेप नाम पदार्थ की स्थापना करने का हैं । इसलिये नाम स्थापना द्रव्य भाव तसूतन्यास ऐसा सूत्र हुआ ।

प्रश्न—अब यहां कोई कहता है कि नाम एवं स्थापना के तो एक ही पना है तथा जहां पर जैसे गुण रहित नाम होता है वहां पर वैसे ही गुण रहित धातु पाषाण, काष्ठ, तथा मिट्टी आदि वस्तुओं में तदाकार-अतदाकार में यह इन्द्र है यह हाथी है, इत्यादि जो ऐसा नाम करना हैं वही स्थापना है । इसलिये जहां पर जिस वस्तु का नाम नहीं होता है वहां पर उस वस्तु की स्थापना भी नहीं होती । अतः नाम स्थापना एक ही है । इसमें कोई भेद नहीं है ?

उत्तर—वहां पर जैसे स्थापना में आदर रूप भाव होता है, वैसे नाम में आदर रूप भाव नहीं होता। जिस प्रकार किसी मनुष्य का नाम इन्द्र, स्वामी तथा जिन है, वहाँ उस पुरुष में इन्द्रपना, स्वामीपना, तथा अरहन्त रूप जिनपना का आदर नहीं है । तथा जहां धातु रूप, पाषाण आदि वस्तु में इन्द्र तथा अरहन्त भगवान की स्थापना होती है उसको

साक्षात् इन्द्र स्वामी तथा जिन भगवान ही मानते हैं। वहां पर जिनेन्द्र भगवानके प्रतिबिम्ब की स्थापना में अपना उपकार होना मानते हैं। ऐसी स्थापना निक्षेप के विषय में कुछ भेद नहीं माना गया है। उसकी साक्षात् रूप अरहन्त भगवान ही जानकर स्तुति तथा पूजादि की जाती है। और उनका ध्यान किया जाता है। इसीलिये स्थापना निक्षेप के विषय में आदर रूप भाव है। और नाम निक्षेप के विषय में आदर या पूज्य भाव नहीं, वहां तो केवल व्यवहार के अर्थ ही नाम रक्खा गया है इसलिये उसमें स्तवन पूजादि आदर रूप भाव नहीं होते। इस प्रकार नाम और स्थापना में इतना ही भेद है। अतः दोनों पृथक्-पृथक् हैं एक नहीं। अथवा जैसे किसी पुरुष का नाम वृषभ हो तो वहां उसकी पूजा स्तुति आदि करना तथा उसमें अपना उपकार होने की बुद्धि नहीं उपजती। किन्तु जहाँ पर वृषभ की स्थापना होती है वहां उसको साक्षात् पाप कर्मका नाश करने वाला वृषभ देव जिनेन्द्र मानकर उसकी पूजा स्तुति तथा ध्यान किया जाता है। इस प्रकार नाम और स्थापना में भेद जानना।

भावार्थ—नाम निक्षेप के विषय में तो संसार में आदर तथा उपकार होने की वाञ्छा नहीं होती और स्थापना निक्षेप में आदर तथा उसमें अपना उपकार होने की वाञ्छा देखी जाती है। वहाँ पर तो कोई स्थापना ऐसी होती है जो बहुत काल तक रहती है तथा कोई ऐसी होती है जो केवल अल्प काल तक ही रहती है। उसमें नाम और स्थापना एक रूप नहीं है।

प्रश्न—नाम एवं स्थापना यह दोनों पृथक्-पृथक् हैं सो तो ज्ञात हुआ किन्तु वहां पर द्रव्य और भाव में एकपना की प्राप्ति होती है क्योंकि द्रव्य से तो भाव पृथक् नहीं तथा भाव से द्रव्य

पृथक् नहीं । अतः द्रव्य और भाव दोनों एक ही रूप हैं ?

उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है किन्तु इन दोनों के नाम पृथक्-पृथक् हैं उसमें द्रव्य और भाव के विषय के नाम से ही उन दोनों में भेद-रूप है ऐसा समझना ।

प्रश्न—इस पंचम काल में अरहन्तादिकों की अतदाकार रूप स्थापना करनी योग्य है या नहीं ?

उत्तर—हुण्डावसर्पिणी काल में अतदाकार रूप स्थापना करनी योग्य नहीं है । क्योंकि इस पंचम कालमें अन्य मत वाले देवों की अनेक विपरीत रूप स्थापना हुई है और वे अन्यमती अपने अनेक देवों की मूर्ति की अतदाकार रूप स्थापना करते हैं । वहां पर यह भी निश्चय नहीं है कि यह मूर्ति किसकी है और उनके अन्दर क्या गुण हैं । इसलिये इस पंचम काल में अरहन्त भगवान की अतदाकार रूप स्थापना करना योग्य नहीं है ।

भावार्थ—इस पंचम काल में हुण्डावसर्पिणीकाल के दोष से अन्य मत वाले सती, शीतला, चण्डी, मुण्डी, दुर्गाभवानी, आदि अनेक प्रकारकी अतदाकार रूप स्थापना करते हैं, उनके यह ज्ञान नहीं होता है कि यह मूर्ति किसकी है कौन है ? इससे ऐसी स्थापना करना योग्य नहीं है । इसमें अङ्गोपाङ्ग आदि आकार रूप विकार रूप पाया जाता है । इसलिये जहां उसको देखकर वीतराग मुद्रा की भावना उत्पन्न हो ऐसी अरहन्तादिक की तदाकार रूप स्थापना करना ही योग्य है । इसमें विपरीत अतदाकार रुप स्थापना इस पंचम काल में करना योग्य नहीं है । और जो कोई अतदाकार रूप स्थापना करे तो आगम में कहा है कि ऐसा समझकर करे तो वहां पत्थर मिट्टी आदि में अरहन्तादि के स्थापना की कल्पना करके ऐसा कहे कि हमारे अरहन्त भगवान नहीं हैं । क्योंकि

यदि उसको अरहन्त देव मानकर उसकी पूजा तथा ध्यान करने लग जाये तो वहां धर्म में व्यभिचारपना आयेगा एवं मार्ग भ्रष्ट हो जायेगा। इसलिये इस पंचम काल में एक तदाकार रूप स्थापना करने का ही अधिकार है, अतदाकार रूप नहीं। इस प्रकार वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने श्रावकाचार में कहा है। दूसरी अतदाकार रूप स्थापना को मना किया है। उसमें तो तदाकार रूप मुख्य स्थापना के विषय में भी काष्ठ आदि की स्थापना से संघ में अनेक भेद बढ़ गये हैं। तो वहां अतदाकार की क्या बात है अर्थात् वह इससे कई गुणा बढ़ा हुआ है। इसलिये अरहन्त भगवान की अतदाकार रूप स्थापना करना योग्य नहीं है। इस प्रकार समझना चाहिये।

प्रश्न—धातु पाषाण रूप अरहन्त भगवान की प्रतिमा को किस लिये पूजते हैं ?? क्योंकि अरहन्त भगवान तो मोक्ष गये हैं तथा वह सिद्ध क्षेत्र में स्थित हैं। उनकी धातु पाषाण के प्रतिबिंब में एक प्रदेश भी नहीं आता है अथवा वह अपनी पूजा चाहते नहीं तथा वह किसी का उपकार या अपकार करते ही नहीं। जो उनकी पूजा स्तवन तथा अभिषेक करते हैं उससे राग आदि भी नहीं करते हैं तथा जो उनकी निन्दा करते हैं उससे द्वेष भी नहीं करते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष रहित जो अरहन्त तथा सिद्ध भगमान हैं उनकी प्रतिमा की स्थापना करके फिर उस जड़ रूप अचेतन प्रतिमा को किस लिये पूजते हैं ? तथा अचेतन रूप जड़ प्रतिमा से फल की भी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये धातु पाषाण इत्यादि जड़ रूप अचेतन प्रतिमा में अरहन्त भगवान की स्थापना करना योग्य नहीं है।

समाधान—यह बात तो सत्य है जो अरहन्त भगवान सिद्ध अवस्था में स्थित हैं वहाँ उनका एक भी प्रदेश प्रतिमा में आता नहीं है तथा उनके द्वारा किसी का उपकार भी नहीं होता है तो भी धातु पाषाण की प्रतिमा में अरहन्त भगवान की स्थापना करना योग्य है। जो गृहस्थ श्रावक हैं उनका मन शुद्धात्म स्वरूप के अवलम्बन में तो प्रवृत्त नहीं होता है और निरालम्बी चित्त ठहरता नहीं। इस प्रकार इस परमात्म भाव का अवलम्बन होने के लिये वीतराग परिणाम जोड़ने के लिये धातु पाषाण रूप प्रतिमामें अरहन्त भगवानकी स्थापना की जाती है। इस प्रकार धातु पाषाण रूप अरहन्त भगवान की प्रतिमा को जो साक्षात अरहन्त भगवान ही हैं, ऐसा जानकर उसका ध्यान, स्तवन, पूजन आदि करते हैं। वहाँ उन अरहन्त भगवान के स्वरूप में आपके परिणाम भिड़ने से उस अवसर में समस्त संसार का संकल्प विकल्प छूटकर उन परमात्मा के भाव का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार उन परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होने से वहाँ उस सुख रूप ज्ञान सम्पत्ति में विघ्न करने वाला जो अन्तराय कर्म है उसका अनुभाग रूप जो कटुक रस है वह रुक जाता है। अथवा अपने वीतराग रूप भाव होता है। इस प्रकार वीतराग रूप भाव होने से असाता वेदनीय के पहले जो समस्त अशुभ रूप प्रकृति बांधी हुई हैं वे सत्ता में जो स्थित हैं उसका रस नष्ट होता है और जो पहली बान्धी हुई शुभ रूप पुण्य प्रकृति हैं उनमें रस बढ़ जाता है तथा वहां मन्द कषाय के प्रभाव से तीन शुभ आयु के विना अन्य समस्त कर्म प्रकृतियों की स्थिति घट जाती है। इस प्रकार जैन सिद्धान्त में केवली भगभान ने कहा है।

भावार्थ—सिद्धान्त में जिनदेव की ऐसी आज्ञा है कि जो मन्द

कषाय के प्रभाव से जीव के पहले बंधे हुए शुभ कर्ममें रस आ जाता है तथा अशुभ कर्म में रस सूख जाता है अथवा घट जाता है, स्थिति भी एक देव, एक मनुष्य तथा एक तिर्यंच—इस प्रकार तीन शुभ आयु विना अन्य समस्त कर्म प्रकृति की स्थिति घट जाती है। अथवा ऐसे ही उसमें उल्टी ही तीन कषाय के प्रभाव से कर्म की समस्त पाप रूप अशुभ प्रकृति में बदल (रस) जाता है। तथा पुण्य रूप प्रकृति में रस सूखकर घट जाता है। पुनः देव, मनुष्य, तिर्यंच इस प्रकार की तीन शुभ आयु के विना अन्य समस्त कर्म की स्थिति बदल जाती है। इसलिये भगवान् अरहन्त के प्रतिविम्ब में अनुराग करने से जीव की कषाय की मन्दता होती है। इस प्रकार अरहन्त देव की प्रतिमा को देखने से वहाँ अरहन्त भगवान के गुण में अनुराग करना जो है वह अरहन्त भक्ति है। इस प्रकार की अरहन्त भक्ति के प्रभाव से वहां दुःख होने का कारण जो पाप प्रकृति है उसमें रस सूखकर घट जाता है तथा सुख होने का कारण पुण्य प्रकृति है उसमें रस बढ़ जाता है। इस प्रकार जब इस जीवके पाप रूप प्रकृति का रस सूख जाता है, तब समस्त दुःख विनाश को प्राप्त होता है। तथा जब पुण्य रूप प्रकृति में रस बढ़ जाता है, तब स्वर्गादिक सुख की प्राप्ति तथा राज सम्पत्ति इत्यादि समस्त भोगरूप सामग्री स्वयमेव आप ही से आकर प्रकट होती है। सुख की प्राप्ति होने के लिये धातु पाषाण की स्थापना करके उसकी पूजा स्तवन अभिषेक करते हैं। यद्यपि भगवान् अरहन्त धातु पाषाण के प्रतिविम्ब में नहीं आते हैं और किसीका उपकार या अपकार भी भगवान् वीतराग करते नहीं है, तथापि उनका नाम तथा प्रतिविम्ब अपने शुभ परिणाम तथा वीतराग रूप ध्यान होने के लिये बाह्य निमित्त कारण है। कारण बिना कार्य ठीक

नहीं होता है। इस प्रकार का नियम बनलाया गया है। जब कार्य सिद्ध होगा तब वह कारण होगा इसलिये वीतराग रूप भाव को प्रकट करने के लिये भगवान अरहन्त देव की प्रतिमा बाह्य कारण है। इस प्रकार इसकी स्थापना अनादिकाल से चली आयी है। इससे अरहन्त भगवान की धातु पाषाण में उनकी प्रतिविम्ब की स्थापना करना योग्य है अथवा जो बहुत सुन्दर श्रृंगार सहित रूपवती स्त्री के अचेतन चित्र को देखकर उसमें राग भाव प्रकट होता है उसी तरह वीतराग प्रतिविम्ब को भी देखकर उसमें वीतराग भाव प्रकट होता है। अथवा संसार में जीव के जो राग द्वेष रूप परिणाम होता है वह समस्त अचेतन रूप पुद्गल द्रव्य के निमित्त से होता है। इसलिये उसमें वहाँ रत्न, स्वर्णरूप, महल, वर्ण बाग, नगर, ग्राम, पाषाण कमल, तथा मनुष्य तिर्यंच का शरीर तथा मनुष्य तिर्यंच के शुभाशुभ वचन तथा सुगन्ध दुर्गन्ध रस विरस इत्यादि समस्त अचेतन रूप पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। इसका चिन्तवन करना श्रवण करना तथा अवलोकन करना इत्यादि प्रकार पुद्गल द्रव्यके अनुभव करने से ही संसारी जीव के राग द्वेष रूप भी भाव पैदा होता है। इसलिये जिस प्रकार अचेतन रूप पुद्गल द्रव्य आत्मा के राग द्वेप के उत्पन्न होने में सहकारी कारण है उसी तरह अरहन्त भगवान की धातु पाषाणमय जड़ रूप अचेतन प्रतिमा भी परम शान्त मुद्रा रूप जो भव्य जीवके एक वीतराग बिना और कुछ उसके चाह नहीं है। जो भगवान के आगे जल चन्दन आदि अष्ट द्रव्य चढ़ाया जाता है, वह भगवान तो कुछ भक्षण नहीं करते हैं तथा उनकी लेने की इच्छा भी नहीं करते हैं। वह भगवान हमेशा वीतराग हैं। जब जैसे किसी पुरुष को महा मण्डलेश्वर राजा का समागम होता है तब उनके ऊपर रत्न, सुवर्ण, मोती, इत्यादि को

घूम-घूम कर क्षेपण करते हैं तथा उनकी आरती उतारते हैं तथा उनपर पुष्प क्षेपण करते हैं । यह सभी अपनी-अपनी भक्ति है । पर वहाँ राजा को इन सभी वस्तुओं से कोई प्रयोजन नहीं है । उसी प्रकार भक्ति के साथ यह जीव तीन लोक के नाथ तथा परम मंगल रूप जो अरहन्त भगवान हैं उनके प्रतिविम्व को देखकर जो अपने अन्दर उत्पन्न हुए आनन्द से वह निकट भव्य जीव भक्ति से जल चन्दन आदि अष्ट द्रव्य से अर्घ उतार कर भगवान के आगे क्षेपण करता है उससे भगवान को कोई प्रयोजन नहीं है । अथवा यहाँ भगवान के आगे अष्ट द्रव्य को इसी प्रयोजन से चढ़ाया जाता है । 'अथवा भव्य' जीव उनके सामने एकाग्र चित्त से प्रार्थना करता है कि इस संसार में अनादिकाल से जन्म-मरण करते हुए आकुलता की प्राप्ति होती है । अर्थात मन में दुःख होता है मैं इस जन्म-मरण के दुख को नाश करने के लिये चरण के निकट जल की धारा क्षेपण करता हूँ । जिससे फिर मेरे जन्म-मरण रूप दुःख की प्राप्ति न हो । पुनः हे भगवान इस स्त्री पर्यायको कभी न ग्रहण करूं । इस संसार के चतुंगति रूप संसार में अनेक इष्ट संयोग आताप को सहन कियो सो मैं अब उस संसार के आताप को नाश करने के लिये तुम्हारे निकट जल चन्दन को अर्चन करता हूं । इससे फिर मेरे चतुर्गति रूप संसार के ताप की प्राप्ति न हो । पुनः हे भगवान ! संसार में मुझे भ्रमण करते ने कहीं भी स्थिरता नहीं मिली । अब मैं उस संसार के भ्रमण को मि॰ के लिये आपके चरणों के निकट अक्षत का पुंज चढ़ाता हूं । इससे मुझे यपद मोक्ष की प्राप्ति हो । पुनः हे भगवान् ! इस कामदेव ने मेरे निज र रूप शीलरत्न को नष्ट करके मुझे कामरूप अग्नि से बहुत तपाया । प कामदेव को मेटने के लिये मैं आप के चरण में

पुष्प को चढ़ाता हूं, जिससे मेरे निज स्वभावरूप शील रत्न की प्राप्ति हो। हे भगवान्! मुझे क्षुधा वेदना ने बहुत ही दुःख दिया, अतः उसे मिटाने के लिये मैं आप के चरणों में नैवेद्य को चढ़ाता हूं, जिससे कि मेरा क्षुधा रोग मिट जाय। हे भगवान्! इस संसार में मुझे मोहरूपी अन्धकार ने अन्धा कर दिया है, जिससे मैं हिताहित विचार से रहित होकर अन्धा के समान बन गया हूँ। इसलिये अब मैं उस अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये आपके चरणों में दीपक चढ़ाता हूं, जिससे मैं पुनः इस मोहरूपी अन्धकार में न पड़ सकूं। हे भगवान्! इन अष्ट कर्मों के संयोग से मुझे बहुत दुःख प्राप्त हुआ। अतः अब मैं उस कर्म का नाश करने के लिये आप के चरण कमलों में अग्नि में धूप को खेता हूं, जिससे कि मेरे पूर्व कर्म नष्ट हो जायं और मुझे इन कर्मों का संयोग न हो। हे भगवन्! इस संसार रूपी फल से मुझे अत्यन्त पीड़ा प्राप्त हुई है। अतः अब मैं उस संसार-रूपी फल को नाश करने के लिये आपके चरणों में फल चढ़ाता हूं। इससे मोक्ष फल की मुझे प्राप्ति हो। इस प्रकार अष्ट द्रव्य से भव्य जीव अपनी भक्ति से पंचपरावर्तन-रूप संसार को जलांजलि देने के लिये भगवान् के चरणोंमें अर्घ चढ़ाते हैं। भगवान् की पूजा करने का यही प्रयोजन है। उसमें कोई और दूसरी कामना नहीं है। इस तरह भगवा[illegible] की पूजा करने-रूप जो भक्ति मार्ग है, वह अनादिकाल से चलता आया [illegible] यानी वह नवीन नहीं है। इस प्रकार यह गृहस्थ श्रावक का [illegible] है, अर्थात् यह क्रिया गृहस्थ श्रावक जबतक गृहस्थाश्रम में रहता है [illegible] उनके इस व्यवहार रत्नत्रय-रूप, पूजा तथा चार प्रकार के [illegible] आदि व्यवहार क्रिया को अपनी विषय-वासना को मिटाने के [illegible] राग की प्रवृत्ति करता है, और जो समस्त आरम्भ परिग्रह के [illegible] हों, अपने

आत्मिक रस में लीन हों, उनके लिये दर्शन, पूजन तथा शुभ कार्य में प्रवृत्ति करने की प्रधानता नहीं है। इससे वह आराध्य-आराधक-रूप भेद बुद्धि को छोड़ कर अपने आत्मानुभव में ही लीन रहते हैं। उनको भगवान् के प्रतिबिम्ब की पूजा-आराधना की जरूरत नहीं है। अतः आरम्भी श्रावकों को अरहन्त भगवान् की प्रतिमाकी स्थापना करना योग्य है। अथवा अरहन्त भगवान् के प्रतिबिम्ब की महिमा धवल नामक प्राकृत-रूप गाथा बन्ध सिद्धान्त में भूतवली नामक आचार्य ने ऐसा कहा है कि—जो एक हजार अन्य मतवाले मिथ्यादृष्टि जीवों की महिमा है, वह महिमा तो एक जैन-जातिवाले मिथ्यादृष्टि श्रावक की है, जितनी महिमा एक हजार मिथ्यादृष्टि श्रावकों की है, उतनी महिमा तो एक अव्रत सम्यग्दृष्टि पाक्षिक श्रावककी है, जितनी महिमा एक हजार अव्रत सम्यग्दृष्टियोंकी है, उतनी महिमा एक अणुव्रतधारी देशव्रती श्रावककी होती है, जितनी महिमा एक हजार देशव्रती श्रावकों की होती है, उतनी महिमा एक सकल संयमी मुनि की होती है, जितनी महिमा एक हजार मुनियोंकी होती है उतनी महिमा एक सामान्य केवली की होती है, जितनी महिमा एक हजार सामान्य केवलियों की होती है, उतनी महिमा समवशरण की लक्ष्मी सहित एक तीर्थंकर केवली भगवान् की होती है और जितनी महिमा एक हजार तीर्थंकर केवली भगवान् की होती है, उतनी महिमा एक जिन-प्रतिबिम्ब की होती है।

प्रश्न—एक हजार तीर्थंकर केवलियों के समान एक जिन-बिम्ब की महिमा कैसे होती है ?

उत्तर—जो तीर्थंकर भगवान् हैं, वे इस लोक में उत्कृष्टता से समवसरण की लक्ष्मी सहित आठ वर्ष कम एक करोड़ पूर्वकाल प्रमाण तक

रहते हैं, और वे इतने काल तक एक आर्य-खण्ड के वत्तीस हजार (३२०००) देशों में विहार किया करते हैं। इस आर्य-खण्ड के वत्तीस हजार देशों में उनके वचन को भव्य जीव सुन कर मुनिव्रत धारण करके मोक्ष को जाते हैं। ऐसे जितने काल तक भगवान् संसार में रहते हैं, उतने काल तक भव्य जीवों को वैराग्य उत्पन्न होता है, किन्तु जब भगवान् अपनी आयु पूर्ण करके मोक्ष में चले जाते हैं, तब उनके उपदेश बन्द हो जाते हैं। परन्तु जो अरहन्त भगवान् की प्रतिमा है, वह अकृत्रिम है और जो अकृत्रिम चैत्यालय है, उसमें अरहन्त भगवान् की प्रतिमा विराजमान है और ऐसी अरहन्त भगवान् की प्रतिमा का दर्शन करने से भव्य जीवों को निज स्वरूप की प्राप्ति होती है, जिससे कि भव्य जीव सदा मोक्ष को जाते हैं अथवा धातु-पाषाण से बनी हुई कृत्रिम-रूप जो प्रतिमा है, वह बहुत काल तक संसार में रहती है। इसलिये एक हजार तीर्थंकर केवली भगवान् के समान एक जिन-बिम्ब की महिमा होती है। अतः ऐसे जिन-बिम्ब का निमित्त मिलाने से मुनिगण भी अपने निज स्वरूप की प्राप्ति करने के लिये इस अरहन्त प्रतिमा का ध्यान करते हैं और उसको नमस्कार करते हैं। ऐसे जिन-बिम्ब की महिमा केवलज्ञानी भगवान्‌ने कही है। इसलिये वीतराग-रूप अरहन्त भगवान् के प्रतिबिम्ब की स्थापना करना योग्य है। इस प्रकार नाम स्थापना, द्रव्य तथा भाव रूप से चार निक्षेपों का विवेचन किया।

प्रश्न—जो सबसे पहले नो-आगम कहा, उसके पीछे स्थापना कही, उसके पीछे द्रव्य कहा तथा उसके पीछे भाव कहा—इस प्रकार इनको अनुक्रम से कहने का क्या प्रयोजन है? अथवा इस सूत्र के आदि में सबसे पहले द्रव्य का ही ग्रहण करना चाहिये

था, क्योंकि द्रव्य में ही नामादिक की प्रवृत्ति होती है तथा नाम की जो प्रवृत्ति कही है, उसका विषय द्रव्य होता है। इस कारण सूत्र के आदि में द्रव्य का ग्रहण करना ही योग्य है।

उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि लोक में व्यवहार की जो प्रवृत्ति है, वह समस्त ही प्रवृत्ति नामपूर्वक देखी जाती है। इसलिये इस सूत्र के आदि में नाम ग्रहण करना ही योग्य है, द्रव्य नहीं। अथवा यद्यपि द्रव्य के विषय में ही नाम की प्रवृत्ति होती है, तथापि वहाँ नाम के बिना लोकवाद नहीं चलता है, इसलिये द्रव्य से पहले नाम को ही ग्रहण करना-योग्य है, तथा लोक-व्यवहार में नाम न हो तो वहाँ सर्व वस्तु के व्यवहार का नाश होता है। इस लोक में स्तुति और निन्दाके जो वचन हैं, उनको सुन कर ही उनमें राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है। इसलिये सबसे पहले इस सूत्र के आदि में नाम को ही ग्रहण किया है, तथा नाम के विषय में ही स्थापना की उत्पत्ति होती है, क्योंकि नाम के बिना स्थापना नहीं होती है, इसलिये नामके पीछे स्थापना को ग्रहण किया है। पुनः स्थापना जो है, वह द्रव्य के विषय में ही होती है, क्योंकि द्रव्य के बिना स्थापना नहीं होती है, इसलिये स्थापना से पीछे लगने से ही द्रव्य का ग्रहण किया है। द्रव्य जो है, उसके विषय में ही भाव की प्राप्ति होती है, क्योंकि द्रव्य के बिना भाव नहीं होता है। इसलिये द्रव्य के पीछे लगते ही अन्त में, भाव का ग्रहण होता है। इस प्रकार क्रमानुसार कहने का मतलब यही है। अथवा यहाँ चार निक्षेपों को कहने का यही प्रयोजन है। जो लोक-व्यवहार में कोई नाम को भाव समझ लिया जाय तथा वहाँ स्थापना इन दोनों को भाव आदिक जाना जाय तो वहाँ विरोध आता है, इस कारण इस विरोध को मिटाने के लिये इन चार निक्षेपों का विधान कहा गया है।

इसमें नाम-स्थापना तथा द्रव्य इस प्रकार तीन निक्षेप तो द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं, तथा चौथा भाव निक्षेप जो है, वह पर्यायार्थिक नय का विषय है।

भावार्थ—एक द्रव्यार्थिक तथा एक पर्यायार्थिक इस प्रकार निश्चय व्यवहार-रूप मूल में नय दो प्रकार के हैं, उनमें प्रथम द्रव्यार्थिक नय से तो नाम स्थापना द्रव्य यह तीन निक्षेप कहे गये हैं। पुनः दूसरे नय की अपेक्षा से एक भाव निक्षेप होता है। इसलिये निश्चय तथा व्यवहार इस प्रकार इन दो नयों की अपेक्षा नाम स्थापना द्रव्य भाव इस प्रकार चार निक्षेप बतलाये हैं, सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि पदार्थ जो हैं, उनके ऊपर इन्हें लगा लेना चाहिये। अब आगे कोई प्रश्न करता है कि—इस प्रकार नाम निक्षेप के ज्ञानविधान के द्वारा आकार-रूप स्थापना किये हुये सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि पदार्थ जो हैं, उनका यथार्थ स्वरूप का अधिगम ज्ञान कैसे होता है? इस प्रकार का प्रश्न सुन कर आचार्य यहाँ पर निम्न सूत्र कहते हैं :—

सूत्र—प्रमाणनयैरधिगम :—॥६॥

सूत्र का भावार्थ—वस्तु का सर्व धर्म अधर्मरूप विषय का ग्रहण करना जो है, सो ही प्रमाण है—"नय" का अर्थ हैं प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये वस्तु का एक देश-रूप अर्थ को विषय करना। इसलिये प्रमाण और नय इन दोनों के द्वारा वस्तु को ग्रहण करना जो है, वही प्रमाण नय अधिगम है। अधिगम—अर्थात् प्रमाण नय के द्वारा सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि का जानपना जो होता है, वह प्रमाण नयैरधिगमः है।

भावार्थ—प्रमाण नय के द्वारा सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है। इसलिये नाम स्थापना द्रव्य भाव इस प्रकार के

चार निक्षेपों की विधि के द्वारा स्वीकार किये हुये जीवादि पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण से ,तथा एक द्रव्यार्थिक एक पर्यायार्थिक इस प्रकार के दो नय से ही होता है। प्रमाण तथा नय के लक्षण तथा भेद आगे कहेंगे। यहाँ प्रमाण दो प्रकार के हैं, एक परार्थ प्रमाण तथा दूसरा स्वार्थ प्रमाण जो स्वार्थ प्रमाणहै, वह ज्ञान स्वरूप है तथा परार्थ प्रमाण जो है, वह वचन-रूप है। उनमें एक श्रुत ज्ञान के विना अन्य चार ज्ञान तो स्वार्थ प्रमाण-रूप ही हैं और जो श्रुत प्रमाण है, वह ज्ञान-रूप भी है। इसलिये श्रुत-ज्ञान एक स्वार्थ एक परार्थ ऐसे दोनों को भेद-रूप कहा है। पुनः श्रुत-ज्ञान के जो भेद हैं, वह नय हैं इसलिये प्रमाण नय इन दोनों के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है।

प्रश्न—जो नय शब्द के तो अक्षर थोड़े हैं, तथा प्रमाण के अधिक हैं। इसलिये द्वन्द्व समासके द्वारा सूत्रमें पहले नय शब्दको कहना चाहिये, तब 'नय प्रमाणैरधिगम' इस प्रकार सूत्र बनाना चाहिए।

समाधान—यहाँ यह बात तो सत्य है कि—द्वन्द्व समास के द्वारा इस प्रकार ही सूत्र होना चाहिये। परन्तु उसमें भी जो पूज्य-रूप प्रधान हो तो वह पहले ही आता है। यहाँ यह प्रमाण पूज्य-रूप प्रधान है, क्योंकि जो जहाँ पर जिस वस्तु को प्रमाण से ग्रहण कर प्रकाश-रूप अर्थ किया हो, वहाँ उस वस्तु के विषय में ही नय की प्रवृत्ति होती है तथा जो प्रमाण से ग्रहण किया हुआ अर्थ नहीं है, तो उसमें नय की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये प्रमाण के पूज्य प्रधानपना है, अथवा जो वस्तु समस्त धर्म अधर्म को ग्रहण करता है, वह प्रमाण है। तथा जो वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है, वह नय है।

भावार्थ—वस्तु के समस्त विपयभूत धर्मों को ग्रहण करना ही प्रमाण है। तथा उस प्रमाण के अंश जो हैं, वह सर्व नय हैं। ऐसा ही प्राचीन सिद्धान्त में कहा गया है कि—सकल देश तो प्रमाण आधीन तथा विकल देश नय आधीन है। इसका अर्थ वहाँ समस्त उपदेश जो है, वह तो प्रमाण केआधीन है तथा विकल उपदेश जो है, वह नय के आधीन हैं। इस प्रकार से प्रमाणके पूज्यपने की प्राप्ति होती है। इसलिये इस सूत्रके आदि में सबसे पहले प्रमाण को ही ग्रहण किया गया है, इस कारण इसमें कोई दोष नहीं है, अथवा द्वन्द्व समास में ही जो पूज्य प्रधान हो वह ही पहले आता है। इसलिये—

प्रमाणनयैरधिगमः —

इस प्रकार से सूत्र को कहा है, सो योग्य है। इस प्रकार प्रमाण नय के द्वारा जो अधिगम कहा गया है, सो ज्ञानात्मक तथा शब्दात्मक भेद से दो प्रकार का है। उनमें पहला ज्ञानात्मक नाम का जो अधिगम है, वह मति, श्रुति, अवधि मनःपर्यय, केवल इस प्रकार के पाँच भेद-रूप है, इस विषय को तो आगे कहा जायगा। पुनः दूसरा शब्दात्मक नाम का जो अधिगम है, वह स्याद्वाद-रूप आगम को प्रमाण करके तथा उससे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य—इस प्रकार सात प्रकार के नय बतलाये हैं। क्योंकि वहाँ कोई शब्द तो विधि के विषय में ही प्रवर्तते हैं। कोई चतुष्टय-रूप द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से अस्तित्व-रूप ही हैं, तथा कोई शब्द निक्षेप की अपेक्षा से ही प्रवर्तता है। जिस प्रकार समस्त पर के चतुष्टय के द्वारा अथवा अपेक्षा से नास्तित्व स्वरूप ही है अथवा कोई शब्द विधि तथा निषेध इन दोनों की

अपेक्षासे प्रवर्तते हैं। इस प्रकारसे समस्त वस्तु अपने तथा परके चतुष्टय की अपेक्षासे अनुक्रमसे अस्ति नास्ति दो स्वरूपी हैं तथा कोई शब्द विधि निषेध इन दोनों रूप अवक्तव्य रुप में प्रवंतते हैं. जिस प्रकार समस्त वस्तु अपने तथा पर के चतुष्टय द्वारा एक काल अस्ति नास्ति रुप है परन्तु एक काल में वह दोनों एक साथ नहीं कहे जाते हैं इसलिये वह अवक्तव्य रूप ही है तथा कोई शब्द विधि रुप अनुक्रम से अवक्तव्य में ही प्रवर्तता है। इस प्रकार समस्त वस्तु अपनी चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व रुप है परन्तु एक काल में वह अस्तित्व रुप कहा नहीं जाता है। इसलिये वह अस्ति अवक्तव्य रूपस्वरूप ही है तथा कोई शब्द निपेध रूप तथा अनुक्रम से अवक्तव्य में ही प्रवर्तता है। इस प्रकार समस्त वस्तु के पर के चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति रूप भी है। परन्तु एक काल में वह नास्ति रूप कहा नहीं जाता है। इसलिये वह नास्ति अवक्तव्य रूप ही है तथा कोई शब्द विधि निषेध रूप अनुक्रम से अवक्तव्य में ही प्रवर्तता है इस प्रकार समस्त वस्तु अपने तथा पर के चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति तथा नास्ति रूप हैं। परन्तु एक काल में वह अस्ति नास्ति रुप कहा नहीं जाता है। इसलिए वह अस्ति नास्ति अवक्तव्य रुप ही है। इसलिये शब्द के वश से विधि-निपेध की अपेक्षासे एक वस्तु से स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति स्यात् अस्ति नास्ति तथा स्यात् अवक्तव्य स्यात् अस्ति अवक्तव्य स्यात् नास्ति अवक्तव्य स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य इस प्रकार के सात भंग हैं। इससे अधिक नहीं है।

भावार्थ—वस्तु जो है वह अपने चतुष्टय के द्वारा तथा अपेक्षा करके अस्ति स्वरूप ही है। जिस प्रकार घट जो है वह अपने द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव करके अस्ति रूप ही है, तथा वहां गुण पर्याय समुदाय रूप उस घट

में मिट्टी जो है वह तो घट का द्रव्य है—जो क्षेत्र है उसकी संकोच विस्तार रूप अवगाहन, उस घट का क्षेत्र है काल जो है वह उस घट के रूप पर्याय है वही उस घट का काल है। भाव जो है घट का गुण पर्याय रूप मिट्टी की अवस्था उस घट का भाव है इसी तरह अन्य समस्त अपने स्व चतुष्टय के रूप की अपेक्षा से अस्ति रूप ही है। इस प्रकार यह प्रथम भंग है। पुनः जो वस्तु है वह पर द्रव्य, पर क्षेत्र पर काल पर भाव की अपेक्षा से नास्तित्व रूप ही है। जिस प्रकार घट जो है वह पट तथा वस्त्र आदि पर द्रव्य के चतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व रूप ही है। क्योंकि वहाँ जो अपने स्वरूप का ग्रहण, पर के स्वरूप का त्याग करना है वही वस्तु का वस्तुपना है। तथा जो अपने विषय में भिन्न रूप जुदा परिणाम न हो तो वहाँ घट पट आदि समस्त वस्तु एक ही रूप हों इसलिये पर का नास्तिपना जो है वही अपने अस्तिपने को साधे हैं। इस प्रकार यह दूसरा भंग है। पुनः जो वस्तु है वह अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा से तो अस्ति रूप है तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा से वह वस्तु नास्ति रूप है। इसलिये समस्त वस्तु कथंचित अस्ति नास्ति दो रूप हैं इस प्रकार घट जो हैं वह अपने चतुष्टय से तथा उसकी अपेक्षासे अस्ति रूप हैं तथा पर के चतुष्टय से वही घट नास्ति रुप हैं। इसलिये कथंचित् घट तथा अघट इस प्रकार दो भेद रूप हैं। इसी प्रकार अन्य समस्त वस्तु अस्ति नास्ति दोनों रूप हैं। इस प्रकार तीसरा भंग है। पुनः समस्त वस्तु में स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से तो अस्ति पना तथा पर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्तिपना इस प्रकार अस्ति नास्ति रूप दो धर्म एक काल में पाये जाते हैं वह क्रमपूर्वक नहीं है। परन्तु वे दोनों धर्म एक काल में कहे नहीं जा सकते हैं। क्योंकि वहाँ वचन के

द्वारा पहले अस्ति कहा जायगा। उसके पश्चात् नास्ति आ जाता है। तथा जो पहले नास्ति कहा जायगा तो उसके पश्चात् अस्ति कहा जायगा, इस प्रकार अनुक्रम से ही कहा जाता है तथा वस्तु में अस्ति नास्ति यह दोनों धर्म युगपत् एक काल में पाये जाते हैं। इससे वस्तु जो है वह कथंचित् अवक्तव्य है, जिस प्रकार घट है वह अपने चतुष्टय की अपेक्षा करके तो अस्ति रूप है तथा पर के चतुष्टय की अपेक्षा से वही घट नास्ति रूप है। इस प्रकार अपने तथा पर के चतुष्टय की अपेक्षा से घट अस्ति, नास्ति, यह दो धर्म रूप है। परन्तु एक काल में वे दोनों धर्म कहे नहीं जा सकते। क्योंकि वहाँ अनेक धर्म को युगपत् कहने वाला इस प्रकार पद तथा वाक्य का तो अभाव ही है इसलिये वह घट अवक्तव्य है। अथवा जो पहले अस्ति रूप कहा जायेगा तो वहां नास्तिपने का अभाव उपस्थित होता है। तथा जो पहले नास्तिक रूप कहा जायेगा तो वहां अस्तिपने का अभाव पाया जायेगा। इसलिये स्यात् जो हैं कथंचित् वह घट अवक्तव्य है। इसी प्रकार इससे अन्य और भी समस्त वस्तु अवक्तव्य रूप हैं इस प्रकार यह चौथा भंग है। पुनः वस्तु जो है वह स्व चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति रूप है। परन्तु युगपत स्वपर की चतुष्टय की अपेक्षा से दोनों धर्म एक काल में नहीं कहे जाते। इसलिये स्व चतुष्टय तथा युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से वह कथं-चित् अस्ति अवक्तव्य है। जिस प्रकार घट है वह अपने स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से तो अस्ति रूप घट ही है। तथा स्व अर्थात् अपने तथा पर के चतुष्टय की अपेक्षा से वह घट अस्ति नास्ति दोनों धर्म रूप है। परन्तु वह दोनों धर्म एक काल में नहीं कहे जाते इसलिये वह कथंचित् घट भी है तथा अवक्तव्य है। इस प्रकार इससे और भी अन्य समस्त

वस्तु कथंचित् अस्ति अवक्तव्य रूप है । इस प्रकार पांचवा भंग है ।

जो वस्तु है वह पर चतुष्टय की अपेक्षा करके नास्ति रूप है परन्तु युगपत् स्वरूप स्व पर की अपेक्षा से अस्ति नास्ति रूप दोनों धर्म एक काल में कहे नहीं जाते । इस कारण पर चतुष्टय की तथा युगपत् की तथा स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से वह कथंचित् नास्ति अवक्तव्य है । घट जो है वह पर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति रूप अघट ही है । तथा स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से घट है । अस्ति नास्ति इस प्रकार दो धर्म रूप हैं । परन्तु वह दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जाते । इसलिये वह कथंचित् अघट भी है तथा अवक्तव्य भी । इस प्रकार इससे अन्य और भी समस्त वस्तु कथंचित् नास्ति अवक्तव्य-रूप है । इस प्रकार छट्ठा भंग वतलाया है । पुनः वस्तु जो है, वह अनुक्रम से स्व पर चतुष्टय की ही अपेक्षा से अस्ति नास्ति-रूप ही है, परन्तु युगपत् स्वरूप चतुष्टय तथा पर-रूप चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति नास्ति-रूप दोनों धर्म एक काल में नहीं कहे जाते हैं । इस कारण अनुक्रम से युगपत् स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षामे कथंचित् अस्ति नास्ति अवक्तव्य है । इस प्रकार जो घट है, वह स्व-पर चतुष्टयकी अपेक्षासे अनुक्रमसे दोनों रूप वतलाया जाता है, जिससे वहां स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से तो उसको घट ही कहा जाताहै तथा पर चतुष्टयकी अपेक्षासे उसको अघट भी कहा जाता है । इस प्रकार स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षा से, क्रम से घट भी, अघट भी इस प्रकार दो रूप हैं । परन्तु युगपत स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षा से दोनों धर्म एक काल में कहे नहीं जाते हैं । इससे वह कथंचित घट तथा अघट दोनों वतलाये गये हैं तथा अवक्तव्य हैं । इस प्रकार इसमें अन्य और भी समस्त वस्तु कथंचित् अस्ति नास्ति अवक्तव्य रूप है । इस प्रकार यह सातवाँ भंग है ।

इस प्रकार विधि निषेध के वशीभूत होकर एक वस्तु के सात भंग होते हैं। जिनका वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार अन्य कोई हीन आदिक-रूप है। यहाँ पर जो सात भंग कहे हैं; उसमें स्यात् अस्ति (१), स्यात् नास्ति (२), स्यात् अस्ति नास्ति (३)—इस प्रकार के आदिके तीन भंग तो वक्तव्य के भेद हैं। क्योंकि यह कहने में आते हैं, इसलिये इनको वक्तव्य कहा है तथा चौथा अवक्तव्य का स्यात् अवक्तव्य ऐसा एक भंग है। पुनः पाँचवाँ स्यात् अस्ति अवक्तव्य (१), तथा छटठां स्यात् नास्ति अवक्तव्य (२), तथा सातवाँ स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य (३)—इस प्रकार अन्त के जो तीन भेद बतलाये हैं, वे अवक्तव्य के संयोगी भंग हैं। क्योंकि कहने में आते हैं तथा अवक्तव्य-रूप भी है। इसलिये अन्त के तीन भंग अवक्तव्य के संयोगी कहलाते हैं।

इस प्रकार जो सात भग कहे गये हैं, वे सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि तत्त्वों के सम्बन्धी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के भेद से समझ लेना चाहिये। इस तरह ये सात वस्तु के धर्म हैं। इससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान और उसकी अर्थ क्रिया-रूप प्रवृत्ति निश्चित होती है। अतः यह सप्त-भगी जिनवाणी का स्वरूप है। यहाँ पर जो स्यात् पद है, वह अनेकान्त का द्योतक कथंचित् अर्थ में भी है। और एक वस्तु में अनेक धर्मों को कहने के लिये भी है, क्योंकि वहाँ जो मिथ्यादृष्टि वस्तु को सर्वथा एकान्त मानते हैं। उसमें अनेक प्रकार के दोप आते हैं। इसलिये यहाँ पर स्यात् पद कहने से एकान्त-रूप मिथ्यात्व का परिहार होता है। ऐसा स्यात् शब्द कथंचित् अर्थ का द्योतक है और वह अनेकान्त को प्रकट करता है। इसलिये अनेकान्त का प्रकाश करने के लिये यहाँ स्यात् शब्द का ग्रहण करना अत्यावश्यक है, क्योंकि सर्वथा एकान्तवादी का निराकरण कथंचित् होता है।

प्रश्न—जो अनेकान्त है, वह अनेकान्त ही है। सर्वथा वहां एकान्त पक्ष ही कहने में एकान्तपने का दोप आयेगा क्या?

उत्तर—यह वात तो सत्य ही है। जो अनेकान्त है, वह भी अनेकान्त ही है, क्योंकि प्रमाण-रूप वचन की अपेक्षा से तो वह अनेकान्त ही है, किन्तु नय वचन की अपेक्षा से वह अनेकान्त तथा एकान्त दोनों रूप है। इसलिये एकान्त भी सम्यक्त्व है और अनेकान्त भी सम्यक्त्व है। क्योंकि एकान्त भी दो प्रकार है। एक सम्यक्त्व एकान्त और दूसरा मिथ्यात्व एकान्त। वहाँ पर जो हेतु कहा है, उसमें किसी कारण विशेष प्रमाण की अपेक्षा रख कर निश्चय किया हुआ जो अर्थ है, उसके प्रयोजन के वशीभून होकर एक देश का जो ग्रहण करना है, वह सम्यक्त्व एकान्त है और जहाँ एक धर्म का निश्चय की अपेक्षा करके अन्य समस्त धर्मों का निराकरण रूप वचन का जो कहना है, वह मिथ्यात्व एकान्त है। इसलिये नय की अपेक्षा से एकान्त भी सम्यक्त्व है और अनेकान्त भी सम्यक्त्व है। ऐसे अनेकान्त में एकान्तपने का प्रसंग नहीं आता है अथवा वहां पर जो नय है, वह सम्यक्त्व एकान्त है तथा जो प्रमाण है, वह सम्यक्त्व अनेकांत है। क्योंकि नय की अपेक्षा से तो वह एकान्त है। वहां सम्यक्त्व-रूप की अपेक्षा उस नय का सम्यक्त्वपना है। इसलिये एकान्त भी सम्यक्त्व है। पुनः प्रमाण की अपेक्षा करके तो वह अनेकान्त है। वहां सम्यक्त्व स्वरूप की अपेक्षा से उस प्रमाण का सम्यक्त्वपना है। इसलिये वह अनेकान्त भी सम्यक्त्व है। जिससे एक वस्तु में नित्य-अनित्य आदिक अनेक विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं, तथापि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य है, अनित्य नहीं, किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य है, नित्य नहीं। इस प्रकार नय की अपेक्षा से वस्तु के एक धर्म को जो कहना है, वह सम्यक्त्व

एकान्त है और नय की अपेक्षा के बिना सर्वथा वस्तु को एकदेशपना जो कहना है, वह मिथ्यात्व एकान्त है। इस तरह भी अनेकान्त विषय में एकान्तपना होने का प्रसंग नहीं आता है और जो अनेकान्त सर्वथा अनेकान्त स्वरूपी हो जाय तो वहां एकान्त नहीं बनेगा और जो सर्वथा एकान्तपने का अभाव माना जाय तो उसमें वहाँ अनेकान्त स्वरूप प्रमाण का भी अभाव हो जाय तो समस्त पदार्थों का अभाव होता है। अतः एकान्त और अनेकान्त ये दोनों नय सम्यक प्रकार हैं।

भावार्थ—यहां एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक जो ये दो नय कहे गये हैं वे प्रमाण सापेक्ष रूप हैं। इसलिये नित्य-अनित्यादि अनेक धर्मों से सहित जो वस्तु है वह प्रमाण के विषय भाव को प्राप्त होती है। वहां जो नय है वह श्रुतज्ञान का अंश है, इससे दूसरा मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन चार ज्ञानों में भेद नहीं है। क्योंकि वचन के निमित्त से उत्पन्न हुआ जो श्रुतज्ञान के ही भेद है। इसलिए एक श्रुत-ज्ञान में ही नय कहा गया है। इस प्रकार दूसरे शब्दात्मक नामक अधिग मज का स्वरूप समझना।

आगे सातवें सूत्रमें शिष्य प्रश्न करता है कि—इस प्रकार प्रमाण नय की अपेक्षा से तो सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि पदार्थों के स्वरूप हैं उनको जान लिया, परन्तु यह नहीं जाना कि वहां क्या वस्तु है कौन है काहे को है, कौन विषय में है, वे काल कौन से हैं, कितने प्रकार वे हैं?

इन छः प्रश्नों के उत्तर में अधिगमज का उपाय दिखाने को आचार्य सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

अर्थ—निर्देश का अर्थ जो है वह वस्तु के स्वरूप को कहना है। स्वामित्व—जो वस्तु का अधिपति है। साधन—वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं। अधिकरण—जिसमें वस्तु की स्थापना करके जो वस्तु का अधिष्ठान रूप आधार है वह अधिकरण है। स्थिति—वस्तु में जो काल का प्रमाण करना है वह स्थिति है। विधान—जो वस्तु में भेद रूप करना है सो विधान है। इस प्रकार निर्देश, स्वामित्व, साधन अधिकरण स्थिति, विधान इन छः अनुयोगों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का अधिगम (जानकारी) जो है सो छः है। यहाँ पर अधिगम शब्द पहले सूत्र से अनुवर्तन किया गया है। इसलिये निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान ऐसे छः अनुयोगों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन तथा जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है।

प्रश्न—जो सबसे पहले निर्देश कहा उसके पीछे स्वामित्व कहा, पुनः साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान इस प्रकार क्रमरूप कहने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर—पहले वस्तु के स्वरूप का निर्देश करके धारण किया हुआ जो अर्थ है उसमें ही स्वामित्व आदि और भेद की कल्पना हुई है। इसलिये सबसे पहले सूत्र के आदि में निर्देश का ग्रहण किया गया है। पुनः वस्तु के नाम के विषय में ही स्वामित्वपने की कल्पना की गयी है। इसलिये निर्देश के पीछे लगते ही दूसरे स्वामित्व का ग्रहण होता है। पुनः स्वामित्व में ही उत्पत्ति का कारण होता है। इसलिये स्वामित्व के पीछे लाने से ही तीसरा साधन ग्रहण होता है। पुनः उत्पत्ति से ही आधार की कल्पना होती है। इसलिये साधन के पीछे लगते ही चौथा अधिकरण का ग्रहण होता है। पुनः आधार वस्तुमें ही स्थिति की कल्पना

होती है। इसलिये अधिकरण के पीछे लगते ही पांचवें स्थिति का ग्रहण होता है। पुनः स्थिति रूप वस्तु के पीछे लगते ही अन्तमें छठे विधानका ग्रहण होता है। इसलिये क्रमपूर्वक कहने का प्रयोजन यही है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का निर्देश क्या है ?

उत्तर—तत्वार्थ का जो श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन का निर्देश है। अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव ये चार प्रकार के भेद कहे गये हैं वे भी सम्यग्दर्शन के निर्देश हैं।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का स्वामी कौन है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन का स्वामी आत्मा है। अथवा उसका स्वामी वह स्वयमेव है। क्योंकि आत्मा के परिणाम का ही नाम सम्यग्दर्शन है। अतः सम्यग्दर्शन का स्वामी सम्यग्दर्शन ही कहा गया है। उसे चाहे आत्मा कहिये या सम्यग्दर्शन कहिये ये दोनों शब्द ही एकार्थवाची है। सामान्यरीति से तो सम्यग्दर्शन जीव को होता है, ऐसा कहा गया है। पुनः जब विशेष करके कहना हो तब गति के अनुवाद की अपेक्षा नरकगति में, समस्त पृथ्वी में नारकी जीव के पर्याप्त के तो औपशमिक, क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व हैं तथा पहली पृथ्वी में पर्याप्त, अपर्याप्त नारकी जीव के क्षायिक और क्षयोपशमिक हैं।

भावार्थ—पहली पृथ्वी में पर्याप्तक नारकी जीव रहते हैं। उन जीवों को उपशम, क्षायिक और क्षयोपशमिक ये तीनों सम्यक्त्व होते हैं और अपर्याप्त अवस्था में वहां उपशम के बिना एक क्षायिक और क्षयोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। इससे आगे द्वितीय आदि सातवीं पृथ्वी तक छः पृथ्वियों के नारकी जीवों के अपर्याप्तक दशा में सम्यक्त्व होता ही

नहीं और पर्याप्त के एक औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। इस प्रकार पहली नरकगति सम्बन्धी विवेचन किया गया।

अब दूसरी तिर्यञ्चगति को कहते हैं :—

तिर्यञ्चगति में तिर्यञ्च जीवोंके पर्याप्तक के तो तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं और अपर्याप्तक अवस्था में एक उपशम के बिना क्षायिक और क्षयोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। यहां पर इतनी विशेषता है कि अपर्याप्त अवस्था में भोगभूमि में तिर्यञ्च के भी सम्यक्त्व होता है, कर्म-भूमि में नहीं। क्योंकि सम्यक्त्वी जीव का नरकगति और तिर्यञ्चगति में गमन नहीं होता है, परन्तु जिस जीव ने पहली मिथ्यात्व अवस्था में नरक तथा तिर्यंन्च आयु का बन्ध किया हो और बाद में उस जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हो तो वह जीव मर कर पहले नरक में जाता है, आगे नहीं। इसी तरह तिर्यंचगति में भी वह जीव भोग-भूमिं का तिर्यंच ही होता है, कर्म-भूमिका नहीं। इसलिये जैसे—नरकगति में प्रथम नरक तक अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व कहा है। इसी तरह तिर्यंचगति में भी अपर्याप्त अवस्था में भोग-भूमि के तिर्यंच को भी सम्यक्त्व होता है, कर्म-भूमि के तिर्यंच को नहीं। कर्म-भूमि तिर्यंच को तो पर्याप्त अवस्था में भी एक औपशमिक और एक क्षायोपशमिक ऐसे दो सम्यक्त्व होते हैं। वहाँ पर क्षायिक नहीं है और तिर्यंचों को तो क्षायिक सम्यक्त्व है ही नहीं। उनके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व पर्याप्त अवस्थामें होते हैं, अपर्याप्त अवस्था में नहीं। मनुष्यगति में पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक के तो क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे दो सम्यक्त्व होते हैं और वहां तीसरा जो उपशम सम्यक्त्व है, वह पर्याप्तक अवस्था में ही होता है, अपर्याप्तक अवस्था में नहीं।

भावार्थ—मनुष्यगति में पर्याप्त अवस्था में तो तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। वहां अपर्याप्तक अवस्था में एक उपशम के विना क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं और मनुष्यिनी को तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं, पर्याप्तिनी के अपर्याप्तिनी के नहीं। वहां जो उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहा है, वह भाववेद की अपेक्षा से कहा है। द्रव्यवेद की अपेक्षा से नहीं। यदि इस विषय का स्पष्टीकरण चाहते हों तो, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक से समझ लेना।

देवगति—में वैमानिक देव के तो पर्याप्तक और अपर्याप्तक इन दोनों अवस्थाओं में तीनों सम्यक्त्व होते हैं, किन्तु वहां इतनी विशेषता है कि अपर्याप्तक अवस्था में उपशम सम्यक्त्व नहीं होता। द्वितीय उपशम सम्यक्त्व होता है। अतः वहां जो जीव पहले उपशम सम्यक्त्व से वेदक सम्यक्त्वी हो पुनः चारित्र मोहनीय का उपशम करके उपशम श्रेणी में चढ़े, वही द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी है। इसी तरह द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके विषय में वहां जो कोई जीव मरण करे तो वह जीव मर करके नियम से देवगति के विषय में भी वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होता है। इससे अन्य और कहीं नहीं जायगा। इस तरह देवगति में अपर्याप्त अवस्था का द्वितीय उपशम सम्यक्त्व का वर्णन किया गया।

भावार्थ—जो जीव चारित्रमोह का उपशम करके उपशम श्रेणी में मरण करे तो वहां उस जीव के देवगति की अपर्याप्त अवस्था में द्वितीय उपशम सम्यक्त्व होता है। इसलिये अपर्याप्त अवस्था में चारों गतियों के जीव को प्रथम उपशम सम्यक्त्व नहीं होता। पुनः भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी देव के और उनकी देवांगनाओं के तथा सोलह स्वर्गों के समस्त देवियों के क्षायिक सम्यक्त्व तो होता ही नहीं। इनको केवल पर्याप्त

अवस्था में ही एक उपशम और दूसरा क्षायोपशमिक कहा गया है। इसलिये इनके अपर्याप्त अवस्था में कोई भी सम्यक्त्व नहीं है। इस प्रकार पहली गतिमार्गणा सम्बन्धी चारों गतियों में सम्यग्दर्शन के स्वरूप का वर्णन किया गया। पुनः इन्द्रिय के अनुवाद की अपेक्षा से वहाँ एक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवको तो तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। इससे अन्य चार इन्द्रिय जीव के कोई सम्यक्त्व नहीं होता। पुनः काय के अनुवाद की अपेक्षा से एक त्रसकाय जीव को तीनों सम्यक्त्व होते हैं और पांच अन्य स्थावर कायिक जीवोंको कोई सम्यक्त्व नहीं होता। पुनः योगानुवाद की अपेक्षा से मन, वचन, कायरूप तीनों योगवालों को तीनों सम्यक्त्व होते हैं और योग रहित अयोग भगवान् के एक क्षायिक सम्यक्त्व ही है। पुनः वेद के अनुवाद की अपेक्षा इन तीनों वेद वालों को तीनों सम्यक्त्व होते हैं और वेद रहित वाले को एक क्षायोपशमिक के विना अन्य उपशम और क्षायिक ये दोनों सम्यक्त्व होते हैं। यहाँ भी द्वितीय उपशम सम्यक्त्व जानना। पुनः कषाय के अनुवाद की अपेक्षा क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चार कषायवाले को तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं और कषाय रहित वालेको एक उपशम और क्षायिक ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं। यहाँ भी उपशम में द्वितीय उपशम है। क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व चौथे गुण-स्थान से लेकर सात अप्रमत्तसंयत तक होता है। पुनः ज्ञानानुवाद की अपेक्षा से मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय इन चार ज्ञानवालों को तीनों सम्यक्त्व होते हैं। और केवल ज्ञानी को केवल एक क्षायिक सम्य-क्त्व ही होता है। पुनः संयमानुवाद की अपेक्षा से सामयिक, छेदोपस्था-पना वाले के उपशम और क्षयोपशम ये दो ही सम्यक्त्व होंगे और परिहार विशुद्धिवाले को क्षयोपशम और क्षायिक दो ही होंगे तथा सूक्ष्मसांपराय

और यथाख्यात चारित्र के उपशम और क्षायिक ये दो ही सम्यक्त्व होंगे। पर असंयत तथा संयत के तीनों ही सम्यक्त्व होंगे। दर्शनानुवाद की अपेक्षा से एक चक्षु, एक अचक्षु, तथा अवधि इन तीन दर्शन वाले को तीनों ही सम्यक्त्व होते है। चौथे केवल दर्शनवाले को एक क्षायिक सम्यक्त्व होता है। लेश्यानुवाद की अपेक्षा से छहों लेश्यावाले को तीनों सम्यक्त्व होते हैं। और लेश्या रहित वाले को एक क्षायिक सम्यक्त्य होता है और भव्यानुवाद की अपेक्षा वहाँ भव्यों को तीनों सम्यक्त्व होते हैं, किन्तु अभव्य को सम्यक्त्व होता ही नहीं। पुनः सम्यक्त्वानुवाद की अपेक्षा से जो सम्यग्दर्शन जहाँ है वहाँ तो वही जानना। संज्ञानुवाद की अपेक्षा से संज्ञी जीव को तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं, पर असंज्ञी के नहीं। तथा संज्ञी-असंज्ञी दोनों से रहित को एक क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। आहारनुवाद वाले की अपेक्षा से आहारक के तो तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं दूसरे अनाहारक में छद्मस्थ के तीनों ही सम्यक्त्व हैं। केवल समुद्घात रूप अनाहारक अवस्था में केवल भगवान् को एक क्षायिक ही होता है। इस प्रकार चौदह मार्गणा सम्बन्धी सम्यग्दर्शन का निरूरण किया।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का साधन क्या है और वह कैसे उत्पन्न होता है?

उत्तर—दर्शन मोह के उपशमादि होने से तथा वाह्य में उपदेशकादि के निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन का साधन दो प्रकार का है—एक अभ्यन्तर साधन और दूसरा वाह्य साधन। वहाँ अन्तरङ्ग तो दर्शन मोह का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम ये तीन कारण हैं। और दूसरे वाह्य कारण में प्रथम तो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को चारों गति में पर्याप्त अवस्था में जो भव्य हों वह और पंचेन्द्रिय सैनी

हो तथा मन्द कषाय-रूप परिणाम विशुद्ध हो तथा स्त्यान गृद्ध्यादि निद्रा रहित होने से जागता हो और भविष्य तथा वर्तमान काल में शुभ-रूप तीन लेश्याओं में से किसी एक लेश्या का धारक हो और पंचलब्धि के विषय में से एक करण लब्धि-रूप परिणाम हो ऐसे भव्य जीव को जो अर्द्ध पुद्गल परावर्तन नामक काल प्रमाण संसार शेष रहा हो तो वह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य होता है और जिसका संसार अधिक हो तो वह सम्यक्त्व ग्रहण नहीं कर सकता।

अभी तक हमने गोम्मटसार के अनुसार उपशम, क्षायिक तथा क्षयोपशम इन तीनों सम्यक्त्वों का वर्णन किया, किन्तु अब इन तीनों में से प्रथम उपशम सम्यक्त्व का वर्णन करते हैं:—

यह उपशम सम्यक्त्व जिसका अन्त नहीं है, ऐसे अनन्त मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व के आश्रय से जो प्रवृत्ति है, वह अनन्तानुबन्धी है। अथवा जिसका अन्त नहीं है, वह अनन्तानुबन्धी है।

भावार्थ—यहाँ अनन्त का नाम मिथ्यात्व है, अनुबन्धी नाम आश्रय का है। इसलिये जो कषाय मिथ्यात्व के आश्रयसे सहित हो वह अनन्तानुबन्धी कषाय है। अथवा जिस कषाय का कहीं अन्त न हो, वह अनन्तानुबन्धी कषाय है। ऐसे अनन्तानुबन्धी-रूप क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चार कषाय तथा मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति ये तीन मिथ्यात्व मिल कर कुल सात प्रकृति का सर्वथा उपशम होने से जो जीव को तत्वार्थ का श्रद्धान हो, वह उपशम सम्यक्त्व है।

भावार्थ—दर्शनमोहनीय-कर्म का जो भेद मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृति इन तीन मिथ्यात्व और चारित्रमोहनीय के भेद जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। ऐसी सात

प्रकृतियां सम्यक्त्व को घात करनेवाली हैं। इसलिये इनको सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी कहा है। ऐसी सात प्रकृतियों का उपशम होने से जीव को उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जैसे— निर्मली आदि वस्तु के संयोग से जल में जो कीचड़ रहता है, वह भी उपशम होने से निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार इन सात प्रकृतियों रूप कीचड़ नीचे दब जाने से आत्मा में निर्मलता आती है और इसी का नाम उपशम सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्व के दो भेद हैं—एक प्रथमोपशम और दूसरा द्वितीयोपशम। जहाँ पर अनादि तथा सादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व छूट कर उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सो तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व है और जो पहले उपशम सम्यक्त्वसे वेदक सम्यक्त्व हो और वेदक सम्यक्त्वसे पुनः दूसरी बार उपशम श्रेणी में हो सो जीव उपशम सम्यग्दृष्टि होता है और यही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है। इससे अन्य और कोई प्रकार द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं है।

भावार्थ—यहाँ पर कोई ऐसा जानेगा कि एक बार जीव के सम्यक्त्व होकर छूट जाय पीछे दूसरी बार पुनः सो ही जीव उपशम सम्यग्दृष्टि हो सा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है, पर ऐसा नहीं है। क्योंकि उपशम श्रेणी में ही जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व प्रकृति का पुनः दूसरी बार उपशम से उपशम सम्यग्दृष्टि हो ऐसा सकलसंयमी मुनि के ही द्वितीय उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अन्य संयमी तथा देशसंयमी को नहीं, ऐसा नियम है। और जो पहली बार सम्यक्त्व के छूटने के बाद पुनः दूसरी बार जो उपशम सम्यक्त्व हो सो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है, ऐसा मानिये तो वहाँ ऐसे ही दूसरी बार सम्यक्त्व छूट कर पुनः तीसरी बार जो उपशम सम्यक्त्व हो सो तृतीयोपशम सम्यक्त्व है। अथवा इसी प्रकार तीसरी बार सम्यक्त्व छूट कर पुनः चौथी बार जो उपशम सम्यक्त्व हो सो

चतुर्थोपशम सम्यक्त्व है तथा ऐसे ही पांचवीं छट्ठी, सातवीं, आठवीं आदि उपशम सम्यक्त्व के अनेक भेद हो जाते हैं। इसलिये जो एक बार सम्यक्त्व छूट कर पुनः दूसरी तथा तीसरी चौथी आदि बहुत बार उपशम सम्यक्त्व होता है वे समस्त प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही जानना। इसलिये आगम में उपशम सम्यक्त्व के दो ही भेद कहे हैं। एक प्रथमोपशम और दूसरा द्वितीयोपशम। ऐसे दो प्रकार के उपशम सम्यक्त्व हैं। इस प्रकार पहले उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप जानना।

आगे दूसरे क्षायिक सम्यक्त्व को कहते हैं:—

वहाँ दर्शन मोहनीय का भेद जो मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन मिथ्यात्व और चारित्र मोहनीय का भेद जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया तथा लोभ ये चार कषाय ऐसी सात प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से जो जीव के तत्वार्थ का श्रद्धान हो सो क्षायिक सम्यक्त्व है।

भावार्थ—जैसे—निर्मली आदि वस्तु के संयोग से जल निर्मल-रूप उज्ज्वल हो जाता है। पुनः उस जल को और दूसरे पात्र में डालिये तो वही जल कर्दम आदि मल के अभाव से अति निर्मल मालूम पड़ता है। उसी प्रकार यहाँ भी सम्यक्त्व की प्रतिपक्षी-रूप जो सात प्रकृतियों का स्वरूप कहा—उनका करणलब्धि-रूप परिणामों के बल से सर्वथा नाश कर जीव के तत्वार्थ का अति निर्मल श्रद्धान-रूप क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दूसरे क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप जानना।

आगे तीसरे क्षयोपशम सम्यक्त्व को कहते हैं:—

चारित्रमोह का भेद जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ-रूप चार तो कषाय और दर्शन मोहका भेद जो मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व

ये दो मिथ्यात्व ऐसे इन छः प्रकृतियों के उदय के अभाव रूप तो क्षय हो तथा इन छहों प्रकृतियों के सत्ता-रूप उपशम हो और एक सम्यक्त्व प्रकृति का जो उदय हो सो क्षयोपशम सम्यक्त्व है।

भावार्थ—जहां अनन्तानुबंधी कषाय की तो चौकड़ी और दर्शनमोह के त्रिक में एक मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व ऐसी छः प्रकृतियों के उदय के अभाव होने से तो वहां छह प्रकार जानना। पुनः जहां इन छहों प्रकृतियों की सत्ता में उपशम हो सो उपशम जानना। पुनः जहां दर्शन मोह के देश घाती स्पर्द्धक रूप एक सम्यक्त्व नामक प्रकृति का उदय हो सो तहां उदय जानना। ऐसी सात प्रकृतियों के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से ही अन्य सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय के क्षय उपशम होने से जीवके तत्त्वार्थ का श्रद्धान रूप क्षयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। वहां क्षयोपशम शब्द की निरुक्ति ऐसी है कि जो दर्शन मोह के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय के अभाव रूप है लक्षण जिसका ऐसा क्षय है। उस दर्शन मोह की सर्वघाती प्रकृतियों का वर्तमान काल के समय से ऊपर के जो उदय को नहीं प्राप्त हुए उनकी सत्ता अवस्था रूप है लक्षण जिसका ऐसा उपशम होता है। देशघाती स्पर्द्धकरूप जो सम्यक्त्व नाम प्रकृति कही गयी है उसके उदय होने से वहां जो जीवों के तत्त्वार्थ का श्रद्धान हो सो क्षयोपशम सम्यक्त्व है। ऐसा क्षयोपशम सम्यक्त्व का शब्दार्थ अथवा समस्त क्षयोपशम का ऐसा स्वरूप कहा है जो जहां अपने प्रतिपक्षी कर्म के देशघातिया रूप स्पर्द्धकों का तो उदय है और इससे अन्य सर्व घातिया स्पर्द्धकों के उदय के अभाव रूप है लक्षण जिसका ऐसा क्षय है। पुनः उसी सर्वघाती रूप स्पर्द्धकों के वहां वर्तमान काल के समय से ऊपर के निक्षेप जो उदय को प्राप्त नहीं हुए हैं उनका सत्तारूप उपशम हो सो क्षयोपशम है।

भावार्थ—सर्वत्र क्षयोपशम का ऐसा ही स्वरूप जानना। वहां जो अपने प्रतिपक्षी सर्वघाती रूप कर्म के उदय का तो अभाव रूप क्षय होता है। पुनः उसी सर्वघाती रूप कर्म का सत्ता में रहना उपशम होता है। पुनः देशघातीरूप कर्मके उदय से जीवके क्षयोपशम भाव की प्राप्ति होती है। इसलिये समस्त क्षयोपशम का एक ही अर्थ जानना। वहां इस क्षयोपशम सम्यक्त्व का दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व भी है। जिससे सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का अनुभव करके जीव के जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान होता है सो वेदक सम्यक्त्व है।

भावार्थ—यहाँ वेदक नाम तो अनुभव करने का है। और सम्यक्त्व नाम तत्त्वार्थ श्रद्धान का है। इसलिये सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का अनुभव करता हुआ भी जो जीव तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है सो वेदक सम्यक्त्वी है। इस प्रकार वेदक सम्यक्त्वी की निरुक्ति जानना। ऐसे क्षयोपशम और वेदक सम्यक्त्व में शब्द से भेद तो हैं, परन्तु इनमें अर्थ भेद नहीं है। इसलिये दोनों शब्द एकार्थवाची जानना। ऐसे तीसरे क्षयोपशम सम्यक्त्व के विषयमें दर्शन मोह के देशघाती स्पर्द्धक रूप सम्यक्त्व नामक प्रकृति के उदय से जीवके चल, मल, अगाढ़ रूप दोष तो है, परन्तु सो तत्त्वार्थके श्रद्धानको नष्ट नहीं करता है। इससे सम्यक्त्व प्रकृतिके तत्त्वार्थ श्रद्धान को नष्ट करने की सामर्थ्य का अभाव है। इसलिये इसके उदय में सम्यक्त्व बना रहता है। इसी कारण से उस सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती-पना है। ऐसी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का अनुभव करता हुआ जो जीव के तत्त्वार्थ का श्रद्धान रूप सम्यक्त्व होता है उसको वेदक सम्यक्त्वी कहते हैं।

भावार्थ—इस सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में तत्त्वार्थ के श्रद्धान का

बिगाड़ देने की सामर्थ्य तो नहीं है, परन्तु वेदक सम्यक्त्व के विषय में चल, मल, अगाढ़ रूप दोष लगता है। इसलिये सम्क्त्व प्रकृति का उदय तत्वार्थ श्रद्धान में मल उपजावने मात्र से ही व्याप्त रहता है। इसलिये इस सम्यक्त्व प्रकृति को देशघाती रूप कहा है। ऐसी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में चल, मल, अगाढ़ ऐसे इन तीन दोषो सहित जीव के क्षयोपशम रूप सम्यक्त्व होता है। उनमें प्रथम चल यानी जो नाना प्रकार से अपने ही विशेष आप्त, आगम तथा पदार्थ रूप श्रद्धान के भेद जो कहे हैं उनके विषय में ही जो चंचल रूप चलायमान हो सो चल है। जैसे अपने द्वारा बनवाये हुए जैन-मन्दिर में जो भगवान् की मूर्ति के सम्बन्ध में यह कल्पना करता है कि—यह मन्दिर हमारा है, इसमें मेरा देव है और जो दूसरा मन्दिर है, वह अन्य का बनवाया हुआ है। इस प्रकार पर के देव को मान कर उसमें जो भक्ति करता है, वह चल है। अरहन्त के मन्दिर आदि सभी समान रूप हैं। उसमें अपने-पराया का कुछ भी भेद नहीं है। क्योंकि जो अपना तथा अन्य का बनवाया हुआ मन्दिर तथा अरहन्त भगवान्में भेद मानता है, उसे चल मलिन दोष कहते हैं। जैसे—जलके अन्दर अनेक कल्लोल-रूपी तरंगोंकी पंक्तिमें जल तो एक ही है, किन्तु वह जल नाना भेद-रूप होकर चलते हैं। उसी तरह दर्शन मोहनीय-कर्म के भेद से जो सम्यक्त्व प्रकृति है, उसके उदय से अपने ही देव, शास्त्र, पदार्थ में श्रद्धान तो है, किन्तु वह श्रद्धान चंचलपना से मलिन होकर भ्रमर-रूप चेष्टा करता है।

भावार्थ—जैसे—तरंगों में अनेक प्रकार के चंचल-रूप होकर चलते हैं, परन्तु जल अन्य भाव को प्राप्त नहीं होता। यानी समस्त जल की तरंगों का समान ही प्रभाव रहता है, उसी तरह वेदक सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व

प्रकृति के उदय से अपने तथा अन्य के द्वारा बनवायी हुई अरहन्त भगवान् की मूर्ति तथा मन्दिर आदि के विषय में यह देव मेरा है तथा यह अन्य का है, ऐसी भेद-रूप कल्पना करता है, किन्तु इसको छोड़ कर अन्य देव आदि को नहीं पूजता। उसमें केवल चल दोष है, परन्तु श्रद्धान में किंचिद् मात्र भी दोष नहीं है। इस प्रकार चल मलिन दोष का स्वरूप जानना। पुनः जो मल है, वहाँ सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से निर्मल तत्त्व का श्रद्धान नहीं मिल सका। ऐसे वेदक सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में जो अतिचार-रूप शंकादि दोष हैं, वह मल है। इसका दृष्टान्त यह है कि जैसे—मलसे रहित शुद्ध सोना बाह्य अन्य वस्तुओंके संयोग से मलिन-रूप हुआ है। उसी तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्वी जीव का श्रद्धान मलिन होता है।

भावार्थ—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के श्रद्धान में सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से शंकादि मल-रूप अतिचार लगता है। इसलिये वह दोष है। इस प्रकार दूसरे मल दोष का स्वरूप जानना।

अब अगाढ़ का स्वरूप कहते हैं :—

अगाढ़ दोष जो सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से अपने ही आप्त, आगम, पदार्थ इन तीनों के श्रद्धान में स्थित हुए जीव को कंपायमान करे, उसे अगाढ़ कहते हैं। जैसे कि—जो जीव इस प्रकार तीव्र रुचि से रहित हो, वहां समस्त अरहन्त भगवान् की अनन्त शक्ति-रूप से समान-रूप गुण है, ऐसा जानते हुये भी इस पाप-कर्म को शान्त करने के लिये श्रीशान्तिनाथ भगवान् समर्थ हैं या समस्त विघ्नों को विनाश करने में श्रीपार्श्वनाथ भगवान् समर्थ हैं—इत्यादि अनेक प्रकार के श्रद्धान में शिथिलता होना

अगाढ़ नामक दोप है। जैसे वूढ़े के हाथ में लाठी शिथिल रहती है। उसी प्रकार यह वेदक सम्यक्त्व भी अगाढ़-रूप होता है।

आगे प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में जो पाँच लब्धियों का स्वरूप है, उसे कहते हैं :—

क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि प्रायोपगम लब्धि और करण लब्धि। इस प्रकार ये पाँच लब्धियाँ हैं। ये सम्यक्त्व की प्राप्ति होने में कारण हैं।

सवसे पहले क्षयोपशम लब्धि का वर्णन करते हैं :—

इसमें जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में अशुभ-रूप अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं। उनमें सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय का अभाव हो तथा इन सर्वघाती स्पर्द्धकों की सत्तामें उपशम हो और वाकी शेप—अशुभ प्रकृतियोंमें देशघाती स्पर्द्धकों के अनुक्रम से समय-समय में अनन्त-अनन्त गुणा घटता हुआ जो अनुभाग-रूप रस का उदय हो, वह क्षयोपशम लब्धि है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी समस्त शुभ-रूप प्रकृतियों में सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदय का अभाव होना क्षय है। पुनः इन्हीं सर्वघाती स्पर्द्धकों की सत्ता में रहना उपशम है। पुनः इन्हीं अशुम प्रकृतियों में देशघाती स्पर्द्धको का उदय होना तथा इसी तरह आठ कर्मों के क्षयोपशम होने से जीव को क्षयोपशम लब्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रथम क्षयोपशम लब्धि का स्वरूप है।

विशुद्धि लब्धि—पहले कही हुई क्षयोपशम लब्धिके प्रभावसे उत्पन्न हुये जीव के साता वेदनीय आदि शुभ-रूप पुण्य प्रकृतिके वन्ध का कारण-रूप विशुद्ध परिणाम होना दूसरी विशुद्धि लब्धि है।

भावार्थ—कर्म का क्षयोपशम करके जो धर्मानुराग शुभ परिणाम होवे हैं उससे जीव को विशुद्धि लब्धि प्राप्त होती है। ऐसी दूसरी विशुद्धि लब्धि का स्वरूप जानना।

देशना लब्धि—जहाँ छः द्रव्य तथा सात तत्त्व के उपदेश करनेवाले जो आचार्यादि हैं, उनके उपदेश को धारण करके जो मन में भाव शुद्ध होता है या देशना की प्राप्ति होती है, उसका नाम देशना लब्धि है।

भावार्थ—गुरु के उपदेश को तथा पदार्थ को ग्रहण करने से जीव को देशना लब्धि की प्राप्ति होती है। इसको देशना लब्धि कहते हैं।

प्रायोपगमन लब्धि—जहाँ पहली और तीसरी देशना लब्धि कही गई है उस लब्धि में जीव का जो शुभ परिणाम कहा गया है उसके प्रभाव से समय समय में विशुद्धता की वृद्धि से वहां एकआयु कर्म के बिना अन्य सात कर्म की स्थिति को अन्तः कोड़ा कोड़ी अर्थात् जहाँ कोड़ा कोड़ी से तो ऊपर और कोड़ा कोड़ी के नीचे हो वहां बीच के अनेक भेदरूप जो है वह अन्त कोड़ा कोड़ी है। ऐसी अन्त कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण करे वह चौथी प्रायोपगमन लब्धि है।

भावार्थ— जो पहले काल में उत्कृष्ट रूप कर्म की स्थिति बंधी थी उसके एक काँड घात करके छेदे। फिर उस काँडक घात के द्रव्य को वह अवशेष स्थिति में निक्षेप करे पुनः घातिकर्म का अनुभाग जो लता, दारू अस्थि तथा शैल इन चार भेद रूप में रस को लतारूप वेलि, दारू (लकड़ी) इन दो भेदरूप किया। और इससे हड्डी, पत्थर इन दो भेदरूप में नहीं किया अथवा इसी तरह अघाति कर्म में भी उसका अनुभाव अर्थात् नीम, काँजी, विष, हलाहल ऐसे चार प्रकार का जो रस कहा गया है उसको नीम, काँजी, रूप करे और विष हलाहल जो था उसको भक्षण करने से उस जीव

के प्राण का तत्काल नाश हो। ऐसा विष तथा हलाहल रूप नहीं रहा और जो पहले इनके अनुभाग बंध किया था उसको अनन्त का भाग देने से वहाँ बहुभागरूप शेष अनुभाग बंध का निक्षेप करे। गुरु के उपदेश से एक आयु-कर्म के बिना अन्य सात कर्म की स्थिति को घटाने से जीव को जो चौथी लब्धि प्राप्त होती है उसका नाम प्रायोपगमन लब्धि है।

करण लब्धि—जो पहले चौथे प्रायोपगमन लब्धि के विषय में जो परिणाम की विशुद्धता से सात कर्म की स्थिति को घटाने के लिये कहा था उसके प्रभाव से जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने में अधः, अपूर्व, अनिवृत्ति ऐसे तीन करणरूप परिणाम का जो होना है वह पाँचवीं लब्धि है।

भावार्थ—यहाँ करण का नाम कषाय की मन्दता होना जो है वह जीव का विशुद्ध परिणाम कहलाता है। इसलिये सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने में एक अधः, एक अपूर्व और एक अनिवृत्ति इस तरह तीन भेदरूप जीव को पाँचवीं करण लब्धि इन पांच लब्धियों के बिना जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है इससे सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने में ये पांच लब्धियाँ अन्तरंग के निमित्त कही गई हैं। उसमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य ये चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों कोही होती हैं। इनमें कुछ भी भेद नहीं है, परन्तु जो पांचवीं करण लब्धि कही गई है वह केवल भव्य कोही होती है, अभव्य को नहीं।

भावार्थ—पाँचवीं जो करण लब्धि है वह तो जिसके सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति अवश्य होनी होती है उसीके होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य जो चार लब्धियां हैं वे जिसके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है उसके तो अवश्य होती हैं, पर जिसके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है उसके भी हो जाती हैं। इसीलिये भगवान् के समवसरण में

अभव्य जीव भी जब जाते हैं तब उनके भी कषायों की मन्दता से परिणामों की विशुद्धता से चार लब्धियाँ होती हैं। अर्थात् एक करण लब्धि के बिना अन्य चार लब्धियाँ जो कही गई हैं वे भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के होती हैं।

अब उस पाँचवीं करण लब्धि के विशेष स्वरूप को कहते हैः- अधः, अपूर्व तथा अनिवृत्ति ऐसी जो तीन करण लब्धियाँ कहीं गई हैं उनमें जो प्रथम अधः प्रवृत्ति है वह कषायोंकी मन्दता होने से होती है। अतः उसको अधः प्रवृत्ति करण कहते हैं। इसलिये काल प्रमाण समय समय के प्रति विशुद्धता रूप जीव के जो परिणाम हो वह अधः प्रवृत्ति करण है। अथवो अधः अर्थात् यहाँ नीचे के स्थान में समान रूप है। अतीत अनागत तथा वर्तमान ऐसे तीनकाल सम्बन्धी अनेक जीव के असंख्यात लोक प्रमाण जो परिणाम है वह अधः प्रवृत्ति करण है।

भावार्थ—इस अधःकरण में नीचे परिणाम की संख्या तथा उसमें जो विशुद्धता कही गई है वह ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम से मिलता है। इसलिये इसको अधःकरण कहा है। वहाँ अधःप्रवृत्तिकरण के प्रभाव से गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन, अनुभाग खंडन ये चार अवस्थायें होती हैं। उसमें पृथमश्रेणी निर्जरा अर्थात् वहां जो पहले कर्मका बन्ध किया था ऐसी सत्ता में स्थिति कर्मरूप जो पुद्गल परमाणु है उसके परिणामों की विशुद्धता जो है उसमें समय समय में अनुक्रम से असंख्यात गुण निर्जरा होती है अतः उसे गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं। गुणसंक्रमण अर्थात् वहाँ जो पहले अशुभ कर्म का बन्ध किया था वह परिणाम की विशुद्धता से बदलकर अन्य प्रकार रूप करे तो उसे संक्रमण कहते हैं। स्थितिखंडन अर्थात् वहां जो पहले जितने प्रमाण

को लेकर कर्म की स्थितिको लेकर बन्ध हुआ था और बाद में उसमें घटते-घटते कर्म की स्थिति का बन्ध करे सो स्थिति खंडन है। अनुभागखंडन अर्थात् जो पहले असाता वेदनीय आदि से पापरूप अशुभ प्रकृति में विष हलाहल रूप बन्ध किया था। तत्पश्चात् परिणाम की विशुद्धता से समय-समय प्रति उसमें तो अनन्त गुण अनुक्रम से रस घटते घटते नीम, कांजीरूप दो स्थान को लेकर उसका अनुमान बन्ध हो तो वह विष हलाहल रूप नहीं करें। ऐसी साता वेदनीय को लेकर पुण्य रूप शुभ प्रकृति जो कही गई है उसका समय समय में अनन्तगुण रस बढ़ते बढ़ते अनुक्रम से गुड़, खंड, शर्करा तथा अमृत ऐसे चारभेदरूप स्थान को लेकर अनुभाग बन्ध किया है। उसको अनुभागखंडन कहते हैं।

भावार्थ—पहले जो कर्म का बन्ध किया था, उसके परिणाम की विशुद्धता से समय-समय में अनुक्रम से संख्यात गुण निर्जरा होना पहली गुण-श्रेणी निर्जरा नाम आवश्यक है, पर जो पहले कर्म का बन्ध किया था उसको पलट कर अनुक्रम से अन्य प्रकृति-रूप करे यह दूसरा गुण-संक्रमण है। पुनः जो पहले कर्म का बन्ध किया था, ऐसी सत्ता में स्थित जो कर्म-प्रकृति है, उसकी स्थिति को घटाना तीसरा स्थिति खण्डन है। पुनः जो पहले बन्ध किया था ऐसी सत्ता में स्थित अशुभ-रूप जो कर्म-प्रकृति है, उनके अनुभाग को जो घटाना है, वह चौथा अनुभाग खण्डन है। ऐसे अधः प्रवर्तन करण में ये चार आवश्यक होते हैं। अथवा स्थिति-बन्धापसरण अर्थात् वहां जो पहले जिस प्रमाण को लेकर कर्म की स्थिति का बन्ध हुआ था और पीछे उस प्रमाण से घटते-घटते स्थिति बन्ध करे। ऐसे कर्म की स्थिति को घटाने-रूप भाव को स्थितिबन्धापसरण कहते हैं। सो अधः प्रवर्तन करण का प्रथम समय से लेकर दूसरे गुणसंक्रमण नाम

आवश्यक पूर्ण होने के काल तक रहता है। वह यद्यपि चौथी प्रायोपगमन लब्धि से ही स्थिति बन्धापसरण के विधान का प्रारम्भ होता है, तथापि उस प्रायोग्य लब्धि के विषय में सम्यक्त्व होने का कोई नियम नहीं है। वहां सम्यक्त्व हो भी और नहीं भी हो, ऐसा वहां पर अनवस्थितपना है। इसलिये उसमें इसका ग्रहण नहीं किया गया। और इस करण लब्धि में नियम से सम्यक्त्व होता है। अतः करण को ग्रहण किया गया है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त काल प्रमाण पूर्व अधः प्रवर्त्तन करण का स्वरूप जानना।

आगे दूसरे अपूर्वकरण को कहते हैं :—

जहाँ अपूर्व-रूप करण है, अर्थात् करण का अर्थ जीव के विशुद्ध-रूप परिणाम में जो अपूर्व परिणाम हो उसका नाम अपूर्वकरण है।

भावार्थ—पहले अधः प्रवर्त्तनकरण का अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल व्यतीत हो गया, पीछे दूसरा अपूर्वकरण हुआ। वहां अधः प्रवर्त्तनकरणके परिणामसे अपूर्वकरण के परिणाम असंख्यातलोक गुना है। वह नाना जीव की अपेक्षा से है। एक जीव की अपेक्षा एक समय में एक ही परिणाम होता है। क्योंकि एक जीव की अपेक्षा जितने इस अपूर्वकरण में अन्तर्मुहूर्त्त कालके समय हैं, उतने ही परिणाम हैं। इसलिये दूसरे अपूर्वकरण में एक जीके एक समय में एक ही परिणाम है। अथवा इसी तरह पहले अधःप्रवर्त्तकरण में भी एक जीव के एक समय में एक ही परिणाम होता है। और नाना जीव की अपेक्षा से एक ही जीव में एक समय में अनेक परिणाम होते हैं। क्योंकि जितने अधः प्रवर्त्तनकरण में अन्तर्मुहूर्त्त काल के समय हैं, उतने ही परिणाम हैं। इसलिये पहले अधःकरण में एक ही जीव के एक समयमें परिणाम होता है। वहाँ पर नाना जीव की अपेक्षा से असंख्यातक

प्रमाण परिणाम कहे हैं। तथा जैसे—गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन, अनुभागखण्डन ये चार आवश्यक कहे गये हैं इसी तरह यहाँ भी ये चारों आवश्यक कहे गये हैं। परन्तु यहाँ पर इतनी विशेषता है कि जो पहले अधःकरण परिणाम किसी जीव को मिला है। यहाँ इस अपूर्वकरण परिणाम किसी अन्य जीव से मिला नहीं। क्योंकि वहाँ प्रथम समय की उत्कृष्टता-रूप जो विशुद्धता कही गई है, उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धता भी अनन्तगुनी होती है। इसलिये इसको अपूर्वकरण कहा गया है। वहाँ इस अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर उसके अन्त समय तक अपने जघन्य से अपने उत्कृष्ट और पूर्ण समय के उत्कृष्ट से उत्तर समय के जघन्य ऐसे अनुक्रम से जीव के परिणाम की अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। यहाँ पर अनुत्कृष्टपना नहीं है। क्योंकि इस अपूर्वकरण संबंधी प्रथम समय से लगा कर जहाँ जिस काल तक सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, का पूर्ण काल हो, वहाँ उस काल तक गुणसंक्रमण करके मिथ्यात्व के द्रव्य को सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय-रूप परिणमता है। इसलिये यहाँ स्थितिबन्धापसरण का काल और स्थितिकाण्डक उत्कृष्टकाल ऐसे इन दोनों का काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण समान-रूप है। अथवा वहाँ जो कोई इस अपूर्वकरण के प्रथम समय में शुभ-अशुभ-रूप कर्म-प्रकृति का अनुभाग सत्व जो स्थिति है, वह उसके अन्त समय में शुभ-रूप प्रशस्त प्रकृति का अनन्त गुणा बढ़ता है और अशुभ-रूप पाप प्रकृति में अनन्त गुणा घटता है। ऐसे अनुक्रम से अनुभाग-बन्ध का सत्व होता है।

भावार्थ—यहाँ समय-समय में अनन्तगुणी विशुद्धता होने से जो अपूर्वकरण के प्रथम समय में अशुभ पाप प्रकृति का जो अनुभाग है, उसके उत्तम रस में स्थित है, वह कण्डोत्कर्ण का माहात्म्य से उसके अनन्तवें

भाग प्रमाण अनुभाग-बन्ध के अनन्त समयमें होता है। ऐसे अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण दूसरे अपूर्वकरण का स्वरूप समझना।

आगे तीसरे अनिवृत्ति करण को कहते हैं:—जहां नहीं है निवृत्ति यानी विशेषपना जिस जीव में वह अनिवृत्ति है। ऐसी जो अनिवृत्तिकरण है अर्थात् जो जीव के परिणाम में है वह अनिवृत्ति करण है अथवा जिस करण में नाना जीवकी अपेक्षा भी एक समय में एक सदृश ही परिणाम हो वह अनिवृत्तिकरण जो भिन्न रूप जुदो दूसरा परिणाम न हो वह अनिवृत्तिकरण है।

भावार्थ—दूसरे अपूर्व करण का अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल व्यतीत होने के बाद तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। वहां अपूर्व करण के परिणाम से अनिवृत्तिकरण के परिणाम असंख्यात लोक गुने हैं। वह नाना जीव की अपेक्षा से है। एक जीव की अपेक्षा एक समय में एक ही परिणाम होता है क्योंकि एक जीव की अपेक्षा तो जहां जितना इस अनिवृत्तिकरण में अन्तर्मुहूर्त्त काल के समय कहे हैं वहां उतने ही परिणाम हैं इसलिये तीसरे अनिवृत्तिकरण में भी एक जीवके एक ही समय में एक ही परिणाम होता है। पुनः जैसे दूसरे अपूर्व करण में एक समय के परिणाम दूसरे समय में किसी जीव में मिले नहीं। वहां उनका अपूर्वपना है, परन्तु उसी प्रकार से यहां नहीं है, जिससे अनिवृत्तिकरण के एक समय में तथा त्रिकालवर्ती नाना जीवों के परिणाम समान रूप होते हैं।

भावार्थ—इस अनिवृत्तिकरण में एक जीव की अपेक्षा और नाना जीव की अपेक्षा भी एक समय में एक सदृश परिणाम होता है। जिससे यहां प्रथम समय से लेकर समय-समय प्रति अनन्तगुने विशुद्धता जो कही गयी है उसमें त्रिकालवर्ती नाना जीव के परिणाम में भेद नहीं है।

इसलिये यहां अनेक जीव के परिणाम मिले हैं। अथवा जैसे गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, स्थिति खण्डन, अनुभागखण्डन ये चारों आवश्यक दूसरे अपूर्व करण में कहे गये हैं। इसलिये उसी प्रकार यहां भी चार आवश्यक हैं। परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि जो जैसी स्थिति का अनुभाग खण्डनादि का विधान जैसे वहां कहा गया है वैसे यहाँ स्थिति खण्डनादिक का प्रारम्भ और ही प्रमाण के अनुसार है। क्योंकि वहाँ जो अपूर्व करण में कर्म की स्थिति, अनुभाग का खण्डन आदिक किया था सो यहां इस अनिवृत्ति करण के अन्त समय में अनन्तानुबंधी चौकड़ी और दर्शनमोहके त्रिक ऐसी इनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग प्रदेशरूप से उसका समस्त उदय होने के आयोग रूप उपशम होने से जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त करे वह उपशम सम्यग्दृष्टि है। वहां प्रथम समय में स्थित होता हुआ जो मिथ्यात्व का द्रव्य है उसको द्वितीय समय में स्थिति खण्डन तथा अनुभागकांड खण्डन का घात किये विना ही वहाँ पहली गुणश्रेणी तथा दूसरे गुणसंक्रमण इन दोनों के प्रभाव से उस मिथ्यात्व के द्रव्य की एक मिथ्यात्व, एक सम्यग्मिथ्यात्व तथा एक सम्यग्मोहनीय मिथ्यात्व ऐसे तीन भेदरूप करता है।

भावार्थ— अनादिकाल का दर्शन मोहनीय कर्म का जो रूप हो रहा था, वह कारण के प्रभाव से तीन प्रकार का होता है। इसलिये इस तीसरे अनिवृत्ति करणके अन्त समय में सात प्रकृतियों का उपशम होने से अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके पहले उपशम सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार पाँचवीं करण लब्धि के विषय में अधः, अपूर्व तथा अनवृत्ति यह जो तीन करण कहे हैं उनमें सबसे अल्प अन्तर्मुहूर्त प्रमाणको तीसरे अनिवृत्ति करणको काल है। और इससे संख्यात विना दूसरे अपूर्वकरण का काल

है। तथा इससे भी संख्यात गुना पहले अधः प्रवृत्ति करण का काल है। किन्तु वह भी अन्तर्मुहूर्त नहीं है। इसलिये अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं। इसलिये अन्तर्मुहूर्त के विषय में ही संख्यात गुणा काल कहा है। वहाँ इस करण लब्धि के प्रभाव से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी और दर्शन मोह का त्रिक इन सात प्रकृतियों के उपशम होनेसे पहले उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। ऐसी उपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करके वहां अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होनेके पश्चात् नियम से दर्शन मोहनीय नामक कर्म की जो तीन प्रकृतियां कही गई हैं उनमें से तो किसी एक कर्म का उदय होता है। और जो सम्यक्त्व मोहनीय नामक कर्मका उदय हो तो उपशम सम्यक्त्व छूटकर वेदक सम्यक्त्वी होता है, तथा जो सम्यग्मिथ्यात्व नामक कर्म का उदय हो तो वह जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक मिश्र गुण स्थानी होता है। और जो मिथ्यात्व नामक प्रकृति का उदय हो तो वह जीव विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यादृष्टि होता है। अथवा अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी में से जो कोई अथवा किसी एक कषाय का उदय हो जाये तो वह जीव सम्यक्त्व से छूटकर जहां जघन्य एक समय उत्कृष्ट छः आवली प्रमाण सासादन हो तो पुनः नियम से मिथ्यादृष्टि होता है। इस प्रकार अनादि तथा सादि मिथ्यादृष्टि जीव के चारों गतियों में उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तथा उसके पीछे नियम से ये चार मार्ग हैं। जिस जीव ने अनादि काल से कभी सम्यक्त्व का ग्रहण नहीं किया वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसके आदि सहित मिथ्यात्व है, वह सादि मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ—जिस जीव ने पहले तो सम्यक्त्व को ग्रहण किया तथा पीछे उससे छूटकर विपरीत श्रद्धानी हुआ वह जीव सादि मिथ्यादृष्टि है।

उसमें अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के पहले उपशम सम्यक्त्व ही उत्पन्न होता है। यानी अन्य वेदक तथा क्षायिक नहीं होता। क्योंकि अनादि मिथ्या-दृष्टि जीव के जो दर्शन मोहनीय नामक कर्म है उसकी प्रवृत्ति सत्ता में एक मिथ्यात्व रूप ही हो रही थी। सो उसके करण लब्धि के प्रभाव से मिथ्या-त्व के द्रव्य को एक मिथ्यात्व, एक सम्यग्मिथ्यात्व तथा एक सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इस प्रकार तीन भेद रूप बतलाया है। अतः अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के पहले उपशम सम्यक्त्व कहा गया है। पुनः दूसरे सादि मिथ्या-दृष्टि जीव के पहले उपशम सम्यक्त्व भी होता है। इसलिये इसकी सत्ता में वह मिथ्यात्व का भेद रूप कहा है। वहां अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी और दर्शन मोहनीय के त्रिक में एक मिथ्यात्व तथा एक सम्य-ग्मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियों के उदय अभावरूप क्षय से पुनः उसकी सत्ता में उपशम से एक सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होनेसे क्षयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अतः सादिमिथ्यादृष्टि जीव के पहले वेदक सम्यक्त्व भी होता है। परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि जो क्षायिक सम्यक्त्व कहा गया है सो अनादि तथा सादि मिथ्यादृष्टिके विषयमें किसी जीवके पहले नहीं होता। अतः यह क्षायिक सम्यक्त्व एक मनुष्य पर्याय के विषयमें भी पहली वेदक सम्यक्त्व सहित जीवके केवली तथा श्रुतकेवली के निकट ही उपस्थित होनेपर होता है इसलिये अनादि तथा सादि मिथ्यादृष्टि जीव के पहले क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता।

भावार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व के पहले वेदक सम्यक्त्व होता है इस प्रकार नियम है।

आगे गोम्मटसार के अनुसार क्षायिक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने के विशेष कारण को कहते हैं। :—

:. मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय, एवं सम्यक्त्व मोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी कषाय की चार चौकड़ी इस प्रकार इन सात प्रकृति का पांचवी करण लब्धि रूप परिणाम के बल से नाश होने के बाद तत्वार्थ का अत्यन्त निर्मल श्रद्धान होना क्षायिक सम्यक्त्व है, वह सम्यक्त्व अपने प्रतिपक्षी कर्म का नाश कर आत्मानुगुण को प्रकट हुआ है। इसलिये यह क्षायिक सम्यक्त्व का निमित्त है तथा स्थिर है। पुनः इसमें समय समय पर गुण श्रेणी निर्जरा होती है। इसलिये यह कर्म क्षय होने का हेतु निमित कारण है। क्योंकि अन्य उपशम तथा वेदक सम्यक्त्व के समान यह क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है इसका नाश भी नहीं होता है। इसलिये इसको नित्य कहा है। इस क्षायिक सम्यक्त्वके प्रभावसे उसी भव में अथवा पहले नरक तथा देवआयु का बन्ध हुआ हो तो तीसरे भव में वा पहले तिर्यञ्च तथा मनुष्य आयु का बन्ध हुआ हो तो चौथे भव में सिद्ध पद को प्राप्त होता है। यह नियम है कि चौथे भव को उल्लंघन नहीं करेगा इसलिये इसको कर्म क्षय का कारण बतलाया है।

भावार्थ—क्षायिक सम्यक्त्वी जीव उसी भव में मोक्ष जाते हैं, तथाजो सम्यक्त्व होने के पहले मिथ्यात्व अवस्था में नरक तथा देव आयु का बन्ध हुआ हो तो वह जीव तीसरे भवमें अथवा जो क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण करने के बाद आयु का बन्ध हुआ हो तो भी तीसरे ही भव में नियम से मोक्ष जाते हैं तथा जो सम्यक्त्व होने के पहले मिथ्यात्व दशा में किसी जीव ने तिर्यंच तथा मनुष्य आयु का बन्ध किया हो तो वह जीव चौथे भव में सिद्ध पद को प्राप्त होता है तथा वह चौथे भव का उल्लंघन नहीं कर सकता। क्योंकि वहाँ पहले तिर्यंच आयु का बन्ध हो, चुका था इससे वह जीव

दूसरे भव ही में भोग-भूमि का तिर्यंच होगा। भोग-भूमि से तो फिर तीसरे भव में देव होगा तथा देव से चौथे भव में वही जीव मनुष्य होकर मोक्ष चला जायगा। इसी तरह पहले यदि किसी जीव ने मनुष्य आयु का बन्ध किया हो, तो वह जीव दूसरे भव में तो भोग-भूमि का मनुष्य हो जावेगा। तथा भोग-भूमि से फिर तीसरे भव में मनुष्य पर्याय धारण कर मोक्ष चला जायेगा। इसलिये क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव को चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करने का नियम है। अथवा यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सादि अक्षय अनन्त है। वहां सादि अर्थात् जो आदि से सहित हो, वह सादि है। अक्षय अर्थात् जिसका कभी भी विनाश न हो ऐसे अविनाशी-रूप जो हैं, वह अक्षय हैं। अनन्त-अर्थात्—जिसका कहीं भी अन्त न हो, वह अनन्त है। वह क्षायिक सम्यक्त्व आदि सहित अविनाशी अन्त रहित है। इसलिये इसको सादि अक्षय अनन्त भी कहा है। यह अक्षय अनन्त किस प्रकार है? यह क्षायिक सम्यक्त्व वहां श्रद्धान से दृष्टि होने के कारण जो कुत्सित अर्थात् खोटे दुर्नय मिथ्यात्व-रूप वचन का सुनना तथा कुत्सित हेतु जो मिथ्यात्व को पुष्टि करनेवाले इस प्रकार के अनेक खोटे दृष्टान्त इत्यादि भी होते हैं। तथा जो इन्द्रिय भयभीत-कारी इस प्रकार के विकार-रूप अनेक भेष से तथा ग्लानि के कारण इस प्रकार की ग्लानि-रूप वस्तु से उत्पन्न हुआ जुगुप्सादि को क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं करता।

भावार्थ—ज्यादा क्या कहें कि— इस सम्यग्दृष्टि जीव को समस्त तीन लोक के जीव आकर चलायमान करते हैं। पर किसी के द्वारा यह चलायमान नहीं होता, किसीमें इनको चलायमान करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार जो क्षायिक सम्यक्त्व कहा है, उसका प्रारम्भ तो कर्म-भूमि में

उत्पन्न हुये मनुष्य को ही केवली अथवा श्रुत-केवली के पादमूल में होता है तथा उसका अथवा उनकी प्रतिष्ठा चारों दिशाओं में होती है, क्योंकि केवली श्रुत-केवली के विना अन्य और कोई नहीं जाने। केवली श्रुत-केवली के पादमूल के विना इनके परिणामों विशुद्धि कहीं नहीं हो सकती है। इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति केवली अथवा श्रुत-केवली के निकट ही होती है, अन्य किसी भी स्थान में नहीं।

भावार्थ—वहां दर्शन मोहनीय-कर्म का क्षय होने से अथवा इसका जो विधान है, उसका प्रारम्भ तो केवली अथवा श्रुत-केवली के निकट ही होता है। यह कर्म-भूमि मनुष्य ही करते हैं। इससे अन्य भोग-भूमियां मनुष्य या देव या नारकी या तिर्यंच—इस प्रकार तीन गति के जो समस्त जीव हैं, वे नहीं करते हैं अथवा कर्म-भूमि मनुष्य के सम्बन्धी भी कोई एक मनुष्य जो वेदक सम्यग्दृष्टि हो वह चौथे असंयत, पांचवें संयता संयत, छट्ठे प्रमत्त संयत, सातवें अप्रमत्त संयत—इस प्रकार के चार गुण-स्थानों में से कोई एक गुणस्थान में स्थित मनुष्य ही क्षायिक सम्यक्त्व प्रारम्भ करता है। इस प्रकार दर्शन मोहका निष्ठापक जीव कहा है। सो वह समस्त चारों गति में होता है। इससे जहां चारों आयु में किसी पर भव का आयु बन्ध किया हो तो वहां उस वद्धमान आयु की जीव के तीनों सम्यक्त्व उत्पन्न होते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु अणुव्रत तथा महाव्रत, जिसके उन चारों आयुमें से एक देवआयु का बन्ध हुआ हो तो उस जीव के होता है। तथा जो पहले तिर्यन्च मनुष्य, देव इनको आयु के बन्ध मिथ्यात्व में हो गया हो तो पीछे अणुव्रत महाव्रत नहीं होता है इस प्रकार नियम है। इसलिये क्षायक सम्यक्का निष्टाप्रद चारों गति में होता है।

भावार्थ—जहाँ अधः प्रवृत्त करण का प्रथम समय से लेकर मिथ्यात्व तथा मिश्र-मोहनीय के द्रव्य को मिथ्यात्व प्रकृति-रूप होकर संक्रमण करे तो वहां अन्तर्मुहूर्त्त काल तक दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ होता है। उस प्रारम्भ के पीछे (काल) बढ़ते समय से लेकर सम्यक्त्व की पूर्णता का ग्रहण होने के एक समय पहले बीच के काल में निष्ठापक होता है। उसमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ-रूप कषाय की चौकड़ी एक मिथ्यात्व मोहनीय, एक सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय, एक सम्यक् प्रकृति मोहनीय—इस प्रकार की सात प्रकृति की क्षपणा के प्रारम्भ को किस प्रकार करते हैं ? तो वहाँ पहले के बतलाये गये तीन करण हैं। उनके विधान से अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी के उदयकाल में स्थित निषेक जो है, उनको नाश कर और उदयावली के माय रहने से तथा जो निषेक कहे हैं, उनका विसंयोजन करके फिर उसके बाद अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में समस्त अनन्तानुबन्धी के द्रव्य के द्वादश कषाय और नव नो कषाय-रूप परिणमन करता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी का विसंयोजन होता है। यहाँ भी विसंयोजन में गुण श्रेणी निर्जरा, गुण-संक्रमण, स्थिति-खण्डन, अनुभाग-खण्डन—यह चार तथा कर्म का नाश करने के लिये स्थिति-खण्डन घात करने आदि की बहुत-सी विधियाँ होती हैं। इस प्रकार प्रथम अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन होने के बाद वहाँ अन्तर्मुहूर्त्त काल में विश्राम करके अन्य और कोई क्रिया नहीं करे। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त काल प्रमाण विश्राम करने के बाद फिर तीन कर्म के बलसे वहां तीसरे अनिवृत्तिकरण के काल में एक मिथ्यात्व एक सम्यक् मिथ्यात्व, एक सम्यक्त्व मोहनीय—इस प्रकार दर्शन मोह की यह तीन प्रकृति जो कहीं हैं, उनको अनुक्रम से

नष्ट करते हैं। इसमें जब एक सम्यक्त्व मोहनीय के बिना अन्य छह प्रकृति का घात आदि हो चुके तो वह जीव कृतकृत्य वेदक सम्यग्‌ दृष्टि उपनाम को प्राप्त होता है। इसलिये दर्शन मोह की क्षपणा का आरम्भ के पीछे तथा क्षायिक सम्यक्‌दृष्टि की प्राप्ति होनेके एक समय पहले ऐसा उसका बीच का अन्तर्मुहूर्त्त काल का जो प्रमाण है, वह निष्ठापक कहलाता है। वह जहाँ सम्यक्त्व का आरम्भ किया था,वहीं उसका निष्ठापक होता है। अथवा पहली आयु के बन्ध से वह निष्ठापक चारों गतियों में होता है। परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि जो नरक आयु का बन्ध करचुकाहो तो पहले के घर्मा नाम नरक में ही जाता है। इसके आगे द्वितीय आदि छः नरकों में नहीं जाता है। तथा जो पहले तिर्यंच आदि गतियों का बन्ध किया हो तो वह जीव भोग-भूमि का ही तिर्यंच होगा, कर्म-भूमि का नहीं हो सकता। तथा जो पहले मनुष्य आयु का बन्ध किया हो तो वह जीव भी भोग-भूमि का ही मनुष्य होगा, कर्म-भूमि का नहीं तथा पहले जो देव आयु का बन्ध किया हो तो वह जीव वैमानिक देव होगा। इसके अतिरिक्त भवनत्रिक आदि में नहीं जायेगा।

भावार्थ—जिस जीव ने पहले मिथ्यात्व अवस्था में नरक तिर्यंच मनुष्य तथा देव इस प्रकार इन चारों आयु में से किसी एक आयु का बन्ध किया है। पीछे वेदक सम्यक्त्व को ग्रहण करके पुनः कोई जीव क्षायिक सम्यक्त्व के आरम्भ में अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी एक मिथ्यात्व तथा एक सम्यक्त्व मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियों की सत्ता में मूल सहित नाश करके कृतकृत्य वेदक सम्यक्‌दृष्टि होता है। वह अपनी आयु के क्षय से मरण करके पहले नरक, पुनः भोगभूमि के तिर्यंच तथा मनुष्य गति में एवं देवों में भवनवासी (१), व्यन्तर (२), ज्योतिषि (३) तथा वैमानिक (४)

यह चार प्रकार के जो देव बतलाये हैं, उनमें चौथे कल्पवासी तथा कल्पातीत-रूप देवों के विषय में ऐसी चारों गतियों कृतकृत्य वेदक सम्यक्दृष्टि जाय तो वहां सातवीं सम्यक्त्व मोहनीय नामक प्रकृति का नाश करके क्षायिक सम्यक्त्वकी पूर्णता करता है। ऐसा क्षायिक सम्यक्त्व का निष्ठापक चारों गतियों में होता है। उनमें भी चौथे अव्रत सम्यक्दृष्टि गुणस्थानवाला जीव तो चारों गतियों में जाता है। तथा इससे ऊपरवाले गुणस्थानवर्ती जो जीव हैं, वे केवल एक देवगति में ही जाते हैं, अन्य तीन गति में नहीं। इससे वहाँ जो पहले मिथ्यात्व दशा में जिस जीव के नरक, तिर्यंच तथा मनुष्य इन तीन आयु में से किसी एक आयु का बन्ध हुआ हो तो उस जीव को पुनः चौथे गुणस्थान से आगे चढ़ने की शक्ति नहीं होती, ऐसा नियम है। अतः चौथे अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव तो चारों गतियों में क्षायिक सम्यक्त्व का निष्ठापक होता है। तथा पाँचवें, छट्ठे तथा सातवें—इन तीनं गुणस्थानवर्ती जीव के एक देवगति में ही क्षायिक सम्यक्त्व का निष्ठापन होता है, अन्य तीन गतियों में नहीं। इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व का वर्णन गोमट्टसार जी में सम्यक्त्वमार्गणा नामक १७ वें अधिकारमें किया गया है। इस प्रकार क्षयोपशम (१), विशुद्धि (२), देशना (३), प्रायोग्य (४), करण (५)—इन पाँच लब्धियों के प्रभाव से जीव के उपशम (१), वेदक, (२), क्षायिक (३)—इन तीनों सम्यक्त्वों की प्राप्ति होती है। इसलिये यहाँ सम्यक्त्व होने के अन्तरंग कारण में ये पाँच लब्धियाँ कही गई हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन के अन्तरंग कारण का स्वरूप जानना।

आगे सम्यक्त्व होने का बाह्य कारण को कहते हैं :—

वहां बाह्य नरक गति में तो नारकी जीवों के सातों ही पृथ्वियों में पर्याप्तकोके भी सम्यक्त्व उपजता है, वहभी अन्तर्मुहूर्त्त पीछे ही उपजता है, अन्तर्मुहूर्त्त पहले नहीं। उनमें तीसरी पृथ्वी में तो किसी जीव के जाति स्मरण (१), किसी के धर्म श्रवण (२), किसी जीव के दुःख की वेदना का अनुभव (३), ऐसे तीन कारणों से वहाँ सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इससे आगे तीसरी पृथ्वी से नीचे चौथी (१), पाँचवीं (२), छट्ठी (३), सातवीं (४)—ऐसी चार पृथ्वी में वहां धर्म श्रवण विना एक जाति स्मरण (१), एक वेदना का अनुभव (२), ऐसे दो ही कारण से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। पुनः दूसरी तिर्यंच गति में तिर्यंच जीवों के पर्याप्त अवस्था में भी सात आठ दिन के उपरान्त नवमें दिन ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यानी नवमें दिन से पहले सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न होता, ऐसा नियम है। वहाँ ढाई द्वीप और दो समुद्रों के विषय में तो एक जाति स्मरण, एक धर्म श्रवण तथा एक जिन-विम्ब का दर्शन ऐसे तीन कारणों से सम्यक्त्व होता है। इससे आगे और समस्त द्वीप समुन्द्रों में तिर्यंच जीव जो कहे गये हैं उनके जिन-विम्ब का दर्शन विना एक जाति स्मरण, एक धर्म श्रवण ऐसे दो ही कारणों से सम्यक्त उत्पन्न होता है। पुनः तीसरी मनुष्यगति में पर्याप्त अवस्था में भी वहां भोग-भूमियों के तो जन्म से लेकर उनचासवें दिन ही सम्यक्त्व को उपजाने की शक्ति होती है, इससे पहले नहीं। और कर्म-भूमियों में मनुष्यों के जन्म से लेकर आठ-वर्ष की स्थिति के उपरान्त लगते ही नवमें वर्ष में ही सम्यक्त्व उपजाने की योग्यता होती है, इससे पहले नहीं। उनमें भोग-भूमियों के विषय में तो एक जाति-स्मरण और एक धर्म श्रवण ये दो ही कारण हैं और कर्म-भूमिमें किसी जीवके तो जाति-स्मरण

किसी जीवके धर्म श्रवण और किसी जीवके जिन-विम्ब का दर्शन ऐसे तीन कारणोंसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। पुनः चौथी देवगति में देवों के पर्याप्त अवस्था में भी उपजने से अन्तर्मुहूर्त्त पीछे ही सम्यक्त्व उपजने की योग्यता होती है। वहाँ भवनवासी से लेकर बारहवें सहस्रार नामक स्वर्ग से देवों के तो एक जाति-स्मरण, एक धर्म श्रवण और एक तीर्थंकर भगवान् के पंचकल्याणक आदि महिमा का देखना तथा एक देव ऋद्धि का देखना ऐसा चार कारणों से सम्यक्त्व होता है। पुनः तेरहवें आनत (१), चौदहवें प्राणत (२), पन्द्रहवें आरण (३) और सोलहवें अच्युत (४)—इन चारों स्वर्गों में एक देव ऋद्धि बिना अन्य जाति-स्मरण (१), धर्म-श्रवण (२), कल्याण की महिमा (३)—ऐसे तीन कारण से सम्यक्त्व होता है। पुनः सोलहवें स्वर्गसे ऊपर नवग्रैवेयकोंके विषयमें देवऋद्धि (१), कल्याणककी महिमा (२) के बिना इससे अन्य वहाँ एक जाति-स्मरण (१) और धर्म-श्रवण (२) इन दो ही कारणों से सम्यक्त्व होता है। पुनः नवग्रैवेयक से ऊपर नव अनुदिश पंच अनुत्तर ऐसे चौदह विमान निवासी देवोंके यह कल्पना ही नहीं होती, क्योंकि पहले ही भव का सम्यक्त्वी जीव वहाँ उत्पन्न होता है। इसलिये यहाँ नवीन सम्यक्त्व नहीं होता है। इस प्रकार एक अन्तरंग और एक वहिरंग ऐसे दो भेद-रूप सम्यग्दर्शन के तीसरे साधन का वर्णन किया गया।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का अधिकरण क्या है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन का अधिकरण भी आत्मा ही है। अथवा एक रज्जू चौड़ी और चौदह रज्जू ऊँची ऐसी तीन लोक के बीच में जो त्रस नाली कही गई है, उसमें ही सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये त्रस नाली भी सम्यग्दर्शन का अधिकरण है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन का अधिकरण एक अन्तरंग और दूसरा वहिरंग ऐसे दो प्रकार है। वहाँ सम्यग्दर्शन का अन्तरंग का आधार तो आत्मा ही है और उसका वाह्य आधार त्रस नाली प्रमाण क्षेत्र है। ऐसे सम्यग्दर्शन के चौथे अधिकरण का स्वरूप जानना।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन की स्थिति कितनी है ?

उत्तर—जो पहली उपशम सम्यक्त्व की जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति है। पुनः दूसरी क्षायिक सम्यक्त्व की संसारी जीव के जघन्य स्थिति से तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तैंतिस सागर अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व अधिक है। और मुक्त जीव के सादि अनन्तकाल है।

भावार्थ—कोई निकट भव्य संसारी जीव अन्तर्मुहूर्त्त में क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके फिर उसी अन्तर्मुहूर्त्त में क्षपक श्रेणी चढ़ कर केवलज्ञानी होकर आयु का क्षय करके मोक्ष में चला जाता है। ऐसी जघन्यपना से क्षायिक सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त्त स्थिति होती है। पुनः उत्कृष्ट से वहां मनुष्य के जो करोड़ पूर्व की आयु कही गई है उसमें आठ वर्ष की अवस्था में अन्तर्मुहूर्त्त में क्षायिक सम्यक्त्वी होकर वह अपनी एक करोड़ पूर्व प्रमाण आयु को पूर्ण करके पुनः दूसरे भव के सर्वार्थसिद्धि में तैंतिस सागर की उत्कृष्ट आयु पाकर वहाँ से चय कर फिर तीसरे भव में मनुष्य पर्याय में एक करोड़ पूर्व की उत्कृष्ट आयु पाकर केवलज्ञानी होकर मोक्ष को चला जाता है। इसलिये तैंतिस सागर दो करोड़ पूर्व अन्तर्मुहूर्त्त अधिक आठ वर्ष कम प्रमाण क्षायिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति कही है। और मुक्त जीव के क्षायिक सम्यक्त्व का आदि तो होता है, परन्तु उसका कभी अन्त नहीं होता। इसलिये मुक्त जीव का सादि अनन्तकाल

है। ऐसी दूसरी क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति कही। पुनः तीसरी क्षयोपशम सम्यक्त्व की जघन्य से तो अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति है और उत्कृष्ट से ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है सो इस प्रकार है :—

वहाँ बत्तिस सागर की आयु तो एक सर्वार्थसिद्धि के बिना अन्य चार विजयादि तथा नौ अनुदिश इन तेरह विमानोंमें पायी जाती है। फिर दो-दो सागर की आयु पहले तथा दूसरे स्वर्ग में पायी जाती है। पुनः बत्तिस सागर की आयु विजयादि तेरह विमान में पायी जाती है। ऐसे छयासठ सागर हैं। अथवा यहां मनुष्य की एक करोड़ पूर्व प्रमाण जो उत्कृष्ट आयु कही गई है। उसमें आठ वर्ष की अवस्था में अन्तर्मुहूर्त्त में क्षयोपशम सम्यक्त्वी होकर अपनी आयु पूर्ण करके पुनः दूसरे भव में पहले युगल में दो सागरके मध्यम आयु को प्राप्त कर वह वहां से चय कर फिर तीसरे भव में, मनुष्य पर्याय में एक करोड़ पूर्व की उत्कृष्ट आयु पाकर वह अपनी आयु पूर्ण करके फिर चौथे भव के शुक्र नामक स्वर्ग में सोलह सागर की उत्कृष्ट आयु पाकर वह पुनः वहां से चय कर पांचवें भव में मनुष्य पर्याय पाकर उसमें एक कोड़ाकोड़ी पूर्व आयु को पाकर अपना आयु पूर्ण करके पुनः छठवें भवमें ग्यारहवें सहस्रार नामक स्वर्ग में अठारह सागर की उत्कृष्ट आयु प्राप्त कर फिर वहां से चयकर सातवें भवमें मनुष्य पर्याय में एक करोड़ पूर्व की उत्कृष्ट आयु पाकर वह अपनी आयु को पूर्ण करके पुनः आठवें भवमें आठवीं ग्रैवेयक में तीस सागर की उत्कृष्ट आयु पाकर फिर वहां से चयकर नव में, भवमें, एक कोड़ा कोड़ी पूर्व की उत्कृष्ट आयुको पाकर वह अपनी आयुके अन्त होने से अन्तर्मुहूर्त्त के पहले क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर केवलज्ञानी होकर पुनः मोक्ष चला जाता है। इस प्रकार यहां अन्तर्मुहूर्त के पहले क्षयोपशम सम्यक्त्व के उत्पन्न होने का

काल कहा। इसी तरह अन्तर्मुहूर्त में क्षायिक सम्यक्त्व होता है सो घटा लेना। ऐसे क्षयोपशम सम्यक्त्व की छ्यासठ सागर पाँच करोड़ पूर्व अधिक में आठ वर्ष कम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। ऐसे सम्यग्दर्शन के पांचवीं स्थिति के स्वरूप का निरूपण किया गया।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन सामान्यदृष्टि से तो एक ही है, किन्तु विशेष रूप से एक निसर्गज, और दूसरा अधिगमज दो प्रकार है तथा एक उपशम, दूसरा क्षायिक और तीसरा क्षयोपशम भेद से तीन प्रकार का है। ऐसे शब्दसे सम्यग्दर्शन के तो संख्यात भेद हैं और अर्थ के भेद से असंख्यात तथा अनन्त भेद हैं। वह श्रद्धान करने वाले जीव की अपेक्षा से तथा श्रद्धान करने योग्य वस्तु के भेदसे होता है। ऐसे सम्यग्दर्शन के छठे विधान का स्वरूप कहा गया। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के निर्देशादि स्वरूप का वर्णन किया।

आगे सम्यग्दर्शन के निर्देश आदि को कहते हैं :—वहाँ जो जीवादि तत्वों का प्रकाश करना है वह ज्ञान है। इसलिये उस ज्ञानका निर्देश है। अथवा उसके मति, श्रुत आदि जो नाम कहा गया है वह ज्ञान का निर्देश है। ऐसे ज्ञान के निर्देश का स्वरूप जानना। पुनः वह ज्ञान आत्मा को होता है। इसलिये ज्ञान का स्वामी भी आत्मा ही है अथवा अपने आकार का ज्ञान आप ही स्वामी है। ऐसे ज्ञान के स्वामी का स्वरूप जानना। पुनः ज्ञानावरणादि कर्मका क्षयोपशम आदि जो होना है वह ज्ञान का साधन है अथवा अपने निज स्वरूप को प्रकट करने की शक्ति ज्ञानमें ही है। इसलिये ज्ञान का साधन भी ज्ञान ही है। ऐसे ज्ञान के साधन का स्वरूप कहा। पुनः ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। इससे

ज्ञान का आधार आत्मा होता है इसलिये ज्ञान का अधिकरण भी आत्मा ही है। ऐसे ज्ञानके अधिकरण का स्वरूप जानना। पुनः ज्ञान की स्थिति दो प्रकार की है—एक क्षयोपशमिक और एक क्षायिक। उसमें मति श्रुत, अवधि तथा मनः पर्यय ये चार ज्ञान तो क्षयोपशमिक हैं और वह आदि-अन्त सहित है। जिससे वहाँ मति, श्रुत ज्ञान तो एक वस्तुके विषय में अन्तर्मुहूर्त्त तक रहते है और उसके बाद नियम से अन्य और वस्तु की जानकारी होती है। इसलिये अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही इनका काल है। अथवा सन्सार की अपेक्षा से अभव्य जीवके तो आदि अनन्त भी मति श्रुति ज्ञान का काल है और अभव्य के अनादि-सान्त काल प्रमाण मति, श्रुत ज्ञान की स्थिति है। तीसरे अवधिज्ञानका तैतिस सागर आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व अधिक काल है। चौथे मनः पर्यय काल की आठ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व प्रमाण काल है। पुनः पांचवें केवल ज्ञान को क्षायिक कहा है उसकी स्थिति सादि-अनन्त है। क्योंकि केवल ज्ञान की आदि तो है, परन्तु उसका कभी भी अन्त नहीं होता है। इसलिये क्षायिक ज्ञान सादि अनन्त है। ऐसे ज्ञान का स्वरूप जानना। पुनः विधान से सामान्य रूपसें तो ज्ञान एक ही है और विशेष रूपसे वही ज्ञान एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष ऐसे दो प्रकार का है और एक द्रव्य और एक गुण ? एक पर्याय रूप विषय के भेद से वही ज्ञान तीन प्रकार का है। नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव रूप निक्षेप के भेद से वही ज्ञान पांच प्रकार का है। इसी प्रकार ज्ञेयाकार रूप परिणति के भेद से संख्यात तथा असंख्यात तथा अनन्तभेद रूप ज्ञान है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के निर्देश आदि का स्वरूप जानना।

आगे सम्यक्चारित्र के निर्देश को कहते हैं—वहां नवीन कर्मों

के ग्रहण होने के अभाव जो है वह चारित्र है। इसलिये यहां चारित्र तो निर्देश है। ऐसे चारित्र के निर्देश का स्वरूप जानना। पुनः चारित्र आत्मा को होता है। इसलिये चारित्र का स्वामी भी आत्मा ही है। अथवा अपने निज स्वरूप चारित्र का आपही स्वामी है। इस प्रकार चारित्र स्वामित्वका स्वरूप जानना। पुनः चारित्रका साधन चारित्र मोहनीय कर्मका उपशमादिक है। क्योंकि चारित्र की उत्पत्ति, चारित्र मोहका उपशमादि होने से ही होती है। इसलिये चारित्र मोहका उपशम आदि ही चारित्र का साधन है। अथवा आत्मा के निज शक्तिका जो प्रगट होना है वह चारित्र का साधन है। इसलिये चारित्र का साधन भी आत्मा ही है। इस प्रकार चारित्र के साधन का स्वरूप जानना। पुनः चारित्र का अधिकरणआत्मा है। इसलिये यहां चारित्र का अधिकार भी आत्मा में ही है। इसलिये चारित्र का अधिकरण भी आत्मा ही है। इस प्रकार चारित्र के अधिकरण को स्वरूप कहा। पुनः चारित्र की स्थिति दो प्रकार है—एक जघन्य और एक उत्कृष्ट। उसमें जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट स्थिति आठवर्ष कम एक करोड़ पूर्व प्रमाण है। अथवा उपशम चारित्र की जघन्य एवं उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति है। तथा दूसरे क्षयोपशम चारित्र की स्थिति तो जघन्य प्रमाण से अन्तर्मुहूर्त की है तथा उत्कृष्ट प्रमाण से ८ वर्ष कम १ करोड़ पूर्व वर्ष की है। तीसरे क्षायिक चारित्र की स्थिति सादि अनन्तकाल प्रमाण है। क्योंकि क्षायिक चारित्र का आदि तो है किन्तु उसका कभी अन्त नहीं होता। इसलिये क्षायिक चारित्र की सादि अनन्तकाल प्रमाण स्थिति बतलाई है। इस प्रकार चारित्र की स्थिति का स्वरूप समझना चाहिये। यद्यपि सामान्य विधान से चारित्र १ है किन्तु विशेष पने की अपेक्षा से

वह एक आभ्यन्तर तथा दूसरा वाह्य त्याग रूप भेद से दो प्रकार का है। पुनः एक औपशमिक तथा दूसरा क्षायोपशमिक तीसरा क्षायिक भेद से तीन प्रकार का है। १- नाम, २- स्थापना, ३- द्रव्य ४- भाव रूप निक्षेप भेद से चारित्र चार प्रकार का है, सामायिक ॥१॥ छेदोपस्थापना ॥२॥ परिहार विशुद्धि ॥३॥ सूक्ष्म साम्पराय ॥४॥ यथाख्यात ॥ ५ ॥ भेद से वही चारित्र ५ प्रकार का है। इस प्रकार जीव के परिणामों के भेद से संख्यात असंख्यात तथा अनन्त भेद रूप चारित्र है। ऐसे चारित्र के विधान के स्वरूप को समझना चाहिये। इस प्रकार सम्यक चारित्र के निर्देश आदिकों के स्वरूप आदि का वर्णन किया।

आगे सप्त तत्वों के विषय में निर्देश आदिकों का वर्णन करते हैं

उनमें सबसे पहले जीव तत्व का निरूपण करते हैं आगे कहने में आनेवाले उपशम आदि जिसकी पर्याय हैं वह जीव हैं। ऐसे पर्यायार्थिक नय के उपदेश से जीवका स्वरूप कथन है तथा द्रव्यार्थिक नय के उपदेश से जीव का नाम जो कहना है सो ही जीव है। इस प्रकार पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक दोनों अर्थों को ग्रहण करने वाला प्रमाण रूप जीव द्रव्य का जो कहना है सो तो जीव का निर्देश है। पुनः जीव का स्वामी जीव है क्योंकि आत्मा अपने परिणामों का स्वामी स्वयमेव ही होता है, इसलिये जीव का स्वामी भी जीव है इस प्रकार जीव के स्वामी का स्वरूप जानना। पुनः जीव का साधन भी जीव है क्योंकि वहाँ जीवत्व आदि परिणामिक भाव रूप जो साधन हैं वे निज स्वभाव में सदाकाल प्राप्त होते हैं इसलिये निश्चय से जीव का साधन जीव है। और व्यवहार नय की अपेक्षा से औपशमिक आदिक जो भाव हैं वे जीवका साधन हैं। परन्तु वे औपशमिक आदि भाव भी जीवके ही परिणाम हैं इसलिये व्यवहार नय की अपेक्षा से

भी जीव का साधन जीव है। अथवा शुक्र, अर्थात वीर्य-या शोणित, या खून तथा अनुपान आदि वाह्य सामग्री जो है वे भी व्यवहार नय से जीव का साधन है इस प्रकार जीवका स्वरूप समझना, पुनः जीव का अधिकरण भी दो प्रकार का है एक निश्चय तथा दूसरा व्यवहार। निश्चय नय के द्वारा आत्मा के असंख्यात प्रदेश में जीव का आधार होता है, इसलिये जीव का अधिकरण भी जीव ही है। तथा व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा नामकरण की अपेक्षा से जीव पुद्गल शरीर की रचना जो है उसमें जीव का आधार होता है इसलिये जीवका अधिकरण भी शरीर ही है, इस प्रकार जीव के अधिकरण का स्वरूप समझना। पुनः जीव की स्थिति एक द्रव्य रूप तथा एक पर्याय रूप- दो प्रकार की समझना चाहिये। यहाँ द्रव्य की अपेक्षा से जीव की अनादि अनन्तकाल प्रमाण स्थिति हैं। इसलिये जीव द्रव्य समस्त तीन कालमें अपने चैतन्य स्वभाव ज्ञान दर्शनरूप उपयोग मय असंख्यात प्रदेश से कभी च्युत नहीं होता है। इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे जीवकी अनादि अनन्तकाल प्रमाण स्थिति कही गई है। और पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा से एक श्वास के १८ वें भाग से लेकर ३० सागर प्रमाण अनेक भेद रूप जीव की स्थिति है, इस प्रकार जीव तथा स्थिति का स्वरूप जानना चाहिये, पुनः जीव काविधान निश्चय नय से १ प्रकार का है। इसलिये जीव के भेद नहीं हैं। तथा व्यवहार नय की अपेक्षा से वही जीव द्रव्य एक संसारी ॥ १ ॥ मुक्त ॥ २ ॥ दो प्रकार का है। अथवा एक त्रस दूसरा स्थावर। इस प्रकार संसारी जीव में दो भेद हैं; पुनः एक स्थावर, विकलत्रय, पंचेन्द्रिय भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। अथवा द्रव्य, गुण, पर्याय भेद से भी जीव तीन प्रकार का है। पुनः नरक, तिर्यन्च, मनुष्य तथा देव इन चारों गतियों के भेद से वही जीव

चार प्रकार का है। अथवा एक नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इस प्रकार चार प्रकार के भेद से जीव चार प्रकार का है। पुनः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, इस प्रकार जीव पाँच प्रकारके हैं। वे इस प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति। ये पाँच स्थावर तथा एक त्रस ये कुल मिलकर छह प्रकार के जीव हैं। पुनः पांच स्थावर एक विकलत्रय, एक पंचेन्द्रिय ऐसे सात प्रकार के जीव हैं। पुनः पांच स्थावर एक विकलत्रय एक सैनी पचेन्द्रिय और एक असैनी पंचेन्द्रिय, ऐसे आठ प्रकार हैं। पुनः पांच स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय ऐसे नौ प्रकार हैं। पुनः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय ऐसे दश प्रकार के जीव हैं। पुनः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, ये पांच सूक्ष्म और पाँच ही वादर ये दश स्थावर, एक त्रस, ऐस ग्यारह प्रकार के जीव हैं। पुनः सूक्ष्म वादर रूप १० प्रकार के स्थावर एक विकलत्रय, एक पंचेन्द्रिय इस प्रकार वारह प्रकार के जीव हैं। पुनः पृथ्वी, जल अग्नि वायु, वनस्पति ये पाँच सूक्ष्म वादर के भेद से दश स्थावर ओर एक विकलत्रय, एक सेनी पचेन्द्रिय तथा एक असंनी पचेन्द्रिय ऐसे तेरह प्रकार के हैं। पुनः एक सूक्ष्म एकेन्द्रिय, एक वादर एकेन्द्रिय, एक दो इन्द्रिय, एक तोन इंन्द्रिय, एक चतुरिन्द्रिय, एक सैनी पचेन्द्रिय, एक असैनी पचेन्द्रिय, ये सात तो पर्याप्त और सात ही अपर्याप्त लेने से चौदह जीव समास होते हैं। ऐसे चौदह प्रकार के समस्त संसारी जीव हैं। तथा एक सूक्ष्मपृथ्वी, एक सूक्ष्मजल, एक सूक्ष्म अग्नि, एक सूक्ष्म वायु एक सूक्ष्म नित्य निगोदिया एक सूक्ष्म इतर निगोदिया, एक वादर पृथ्वी, एक वादर जल, एक वादर अग्नि, एक वादर वायु, एक वादर नित्य निगोदिया, एक वादर इतर निगोदिया

एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक, एक अप्रतिष्ठित प्रत्येक, ऐसे चौदह भेदरूप एकेन्द्रिय के हैं। पुनः एक दो इंद्रिय, एक तीनइन्द्रिय, एक चतुरिन्द्रिय एक सैनी पंचेन्द्रिय और एक असैनी पंचेन्द्रिय इस प्रकार उन्नीस प्रकार के समस्त संसारी जीव हैं। इसलिये इसे उन्नीस जीव-समास कहा गया है। तथा एक पृथ्वी एक जल, एक अग्नि, एक वायु, साधारण वनस्पति में एक नित्य निगोद तथा एक इतर निगोद। वहाँ जिस जीव ने कभी निगोद को छोड़कर व्यवहारराशि को नहीं पाया वह तो नित्य निगोदियां जीव है। और जो जीव निगोद में से निकल कर व्यवहार राशि में आकर पुनः निगोद में जाय, वह इतर निगोदिया जीव है। ये छः तो सूक्ष्म और छः बादर-रूप हैं। इसलिये छः पुद्गल के बारह भेद होते हैं और दूसरी प्रत्येक वनस्पति में एक सप्रतिष्ठित और एक अप्रतिष्ठित ये दो भेद हैं। ऐसे एकेन्द्रिय जीव के सात पुद्गल-रूप चौदह भेद कहे गये हैं। उनको एक पर्याप्त, एक अपर्याप्त, एक लब्ध्य पर्याप्त—इन तीनों से गुणा करने पर एकेन्द्रिय जीव के समस्त बयालिस भेद होते हैं। पुनः दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय—ऐसे तीन भेद-रूप जो विकलत्रय कहा है—उनको भी एक पर्याप्त, एक अपर्याप्त और एक लब्ध्य पर्याप्तक—इन तीन से गुणाकार करने से नौ भेद विकलत्रय जीव के होते हैं। इसलिये एकेन्द्रिय, तथा विकलत्रय जीव के समस्त इक्यावन (५१) भेद कहे गये हैं। पुनः एक सैनी एक असैनी ऐसे दो प्रकार जो पंचेन्द्रिय जीव के दो भेद कहे गये हैं, उनको भी एक पर्याप्त, एक अपर्याप्त तथा एक लब्ध्य पर्याप्तक इन तीन भेदों से गुणाकार करें तो पंचेन्द्रिय जीव के छः भेद हो गये। ये सब मिल कर सत्तावन जीव-समास होते हैं। ऐसे सत्तावन प्रकार के जीव हैं। अथवा गोम्मटसार में जीव-समास नामक

दूसरे अधिकार में जीव के अट्ठानवें तथा चार सौ छः (४०६) जो भेद कहे हैं—वह इस प्रकार है कि—उनमें जो प्रथम अट्ठानवे जीव समास कहा गया है। उनमें एक सूक्ष्म पृथ्वी, एक सूक्ष्म जल, एक सूक्ष्म अग्नि, एक सूक्ष्म वायु, एक सूक्ष्म नित्य निगोद, एक सूक्ष्म इतर निगोद, एक बादर जल, एक बादर वायु, एक बादर नित्य निगोद, एक बादर इतर निगोद, एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, एक अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय—ये सत्रह हुये। इन सत्रहों को एक पर्याप्त, एक अपर्याप्त, एक लब्ध्य पर्याप्त—इन तीनसे गुणा करें तो इक्यानवे (९१) भेद एकेन्द्रिय और विकलत्रय के हुये। पुनः पंचेन्द्रिय के जो सैंतालिस भेद शेष हैं। उसमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच में तो एक जलचर, एक थलचर, एक नभचर—इस प्रकार कर्म-भूमियां पंचेन्द्रिय तिर्यंच ये तीन प्रकार हैं। उनमें जो प्रथम जलचर कहा है, वहां जो जल में गगनादि क्रिया करे वह जलचर है। पृथ्वी के ऊपर गमन करनेवाले थलचर हैं, जो आकाशमें उड़ने-रूप क्रिया करे सो नभचर है। इस प्रकार जो तीन भेद कहे गये, वे संज्ञी और असंज्ञी भेदसे छः प्रकारके हैं। वे छहों गर्भज और संमूर्च्छन होते हैं। वहां गर्भज के विषय में तो एक पर्याप्त, और एक अपर्याप्त ये दो ही भेद हैं। इसलिये गर्भज के विषय में लब्धि अपर्याप्त-रूप जीव नहीं होते। अतः गर्भज के बारह भेद कहे हैं। पुनः दूसरे संमूर्च्छन के विषय में एक पर्याप्तक, एक अपर्याप्तक तथा एक लब्धि अपर्याप्तक ये तीन भेद हैं। इसलिये संमूर्च्छन के अठारह भेद हुये। इस प्रकार कर्म-भूमियां पंचेन्द्रिय तिर्यंच के कुल तीस भेद हैं। पुनः भोगभूमि में एक पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच ही होता है। इससे अन्य विकलत्रय, सम्मूर्च्छन तथा असैनी जीव नहीं होते। और पंचेन्द्रिय में भी एक थलचर और एक नभचर ये

दो भेद ही होते हैं। वहां पर जलचर नहीं हैं। एक पर्याप्त तथा दूसरा अपर्याप्त। इसलिये भोगभूमि तिर्यंच के चार भेद हुये। इस प्रकार कर्म-भूमियां और भोग-भूमियों के दोनों मिल कर पंचेन्द्रिय तिर्यंच के कुल चौंतिस (३४) भेद होते हैं।

आगे दूसरे अजीव तत्व के निर्देश आदि का वर्णन करते हैं :—

चेतना लक्षण से रहित को अजीव कहते हैं। अथवा निश्चय नय से पर्याय रहित दश प्राण-रूप पुद्‌गल द्रव्य अजीव है। और व्यवहार नय की अपेक्षा से पर्याय सहित दश प्राण-रूप जो पुद्‌गल द्रव्य है, वह अजीव है। इस प्रकार अजीव के निर्देश का स्वरूप है। पुनः अजीव का स्वामी अजीव ही है। क्योंकि समस्त वस्तु अपने निज स्वभाव में लीन हैं। अतः अजीव का स्वामी अजीव ही है। अथवा भोक्तापने से अजीव का स्वामी भी अजीव ही है। क्योंकि पुद्‌गल द्रव्य जीव के भोगने में आते हैं। इसलिये अजीव का स्वामी जीव है।

भावार्थ - निश्चय से तो अजीव का स्वामी अजीव ही है और व्यव-हार नय से अजीव का स्वामी जीव है। ऐसे अजीव के स्वामी का स्वरूप समझना। पुनः अजीव का साधन अजीव है। क्योंकि पुद्‌गल द्रव्य के स्कन्ध जो हैं उनकी उत्पत्ति परमाणु आदि भेद से होती हैं। वहां भेद की दृष्टिसे पुद्‌गल स्कन्ध के भिन्न-भिन्न परमाणु होते हैं और संघात से उनके ऊपर परमाणु का पुनः स्कन्ध बन जाता है। इसलिये अजीव का साधन अजीव ही है। तथा अणु स्कन्ध रूप पुद्‌गल द्रव्य के भेद आदि जिनके निमित्त हैं वे कालादिक द्रव्य हैं। इसलिए धर्म, अधर्म; काल, द्रव्य आकाश द्रव्य की गति स्थिति, वर्तना अवगाहन रूप गुण का जो साधन है वह अगुरु लघु गुण है। इसलिये उसमें भी अजीव का साधन अजीव ही

है। अथवा व्यवहार नय की अपेक्षा से गति स्थिति आदि की धर्मादिक द्रव्यमें जो प्रवृत्ति कही गयी है वह जीव तथा पुद्गल के निमित्त से होती है। इसलिये अजीव का साधन जीव भी है।

सारांश यह है कि—निश्चय और व्यवहार ये दो प्रकार अजीव के साधन हैं उसमें निश्चय नय से तो अजीव का साधन अजीव ही है और व्यवहार नय की अपेक्षा से अजीव का साधन जीव भी है। इस प्रकार अजीव के साधन का स्वरूप जानना चाहिए। पुनः अजीव का अधिकरण अजीव ही है। क्योंकि समस्त द्रव्य अपने निजी स्वरूप में ही अवस्थित है। इसलिए अजीव का आधार भी अजीव ही है। इस प्रकार यह अजीव के अधिकरण का स्वरूप बतलाया गया। पुनः अजीव की स्थिति एक द्रव्य और एक पर्याय के दो भेदरूप हैं। इनमें द्रव्य की अपेक्षा से अनादि निधन काल प्रमाण है। और पर्याय की अपेक्षा से एक समय आदि असंख्यात पुद्गल परिवर्तन काल है। उसमें अनेक भेद है। इस प्रकार अजीव की स्थिति का स्वरूप समझना। पुनः अजीव का विधान। एक धर्म, एक अधर्म, एक काल, एक आकाश, एक पुद्गल ऐसे पाँच प्रकार के अजीव हैं। उसमें धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन तो एक-एक द्रव्य हैं और कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। पुनः पुद्गल द्रव्य परमाणु की अपेक्षा से तो एक भेद है, किन्तु स्कन्ध की अपेक्षा से संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भेद हैं। इस प्रकार अजीव के विधान का वर्णन किया गया।

आगे तीसरे आस्रव तत्व के निर्देशको कहते हैं—मन, वचन तथा कायकी क्रिया के द्वारा आत्मा के प्रदेशोमें हलनचलन होना आस्रव है। इस प्रकार आस्रव का निर्देश स्वरूप है। पुनः आस्रव का स्वामी जीव है। क्योंकि शुभाशुभ कर्म का आना जीवमें होता है। इसलिए आस्रव का

स्वामी जीव ही है। अथवा आस्रव का स्वामी कर्म है। क्योंकि आस्रवरूप जीव के जो कर्म आते हैं वे पुद्गलमय हैं। इसलिये आस्रव का स्वामी कर्म भी है। इस प्रकार आस्रव के स्वामित्व का स्वरूप है। पुनः आस्रव का साधन आस्रव है। क्योंकि शुद्ध जीव के आस्रव का अभाव है, इसलिये आस्रव का साधन आस्रव ही है। अथवा आस्रव का साधन कर्म है। क्योंकि कर्म के उदय से ही आस्रव की प्रवृत्ति होती है। इसलिये आस्रव का साधन कर्म भी है। ऐसे आस्रव का स्वरूप जानना। पुनः आस्रव का अधिकरण जीव है। क्योंकि आत्मा के विषय में ही आस्रव का फल होता है। इसलिए आस्रव का अधिकरण जीव भी है। अथवा आस्रव का अधिकरण कर्म भी है। क्योंकि कर्मकृत शरीर के विषय में ही कर्मरूप आस्रव का फल भोगता है। इसलिये आस्रव का अधिकरण कर्म भी है। इस प्रकार आस्रव के अधिकरण का स्वरूप जानना। पुनः आस्रव की स्थिति एक मन, एक वचन तथा एक काय ऐसे तीन प्रकार है। उनमें मन, वचन कृत आस्रव की स्थिति जघन्य से तो एक समय की है और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण है। पुनः काय-कृत आस्रव की स्थिति जघन्य से तो अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट से अनन्तकाल है। उसमें असंख्यात पुद्गल परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार यह आस्रव की स्थिति का स्वरूप है। पुनः आस्रव का विधान वहां सामान्य रूप से तो एक प्रकार है और विशेषपने से वही आस्रव एक द्रव्य, एक भाव ऐसे दो प्रकार का है। पुनः एक मन, एक वचन तथा एक काय ऐसे तीन प्रकार का आस्रव है तथा एक मिथ्यात्व, एक अविरत, एक योग, एक कषाय ऐसे चार आस्रवकी जातियां हैं। अथवा पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत पन्द्रह योग और पचीस कषाय ऐसे सत्तावन प्रकार के आस्रव हैं। तथा एक

समरम्भ, एक समारम्भ, एक आरम्भ इस प्रकार जो तीन भेद कहे गये हैं वे मन, वचन तथा काय इन तीनों से गुणाकार करने से नौ भेद होते हैं। पुनः इस नौ भेद को कृत, कारित अनुमोदन इन तीन से गुणा करने से सत्ताईस भेद हुये। इन सत्ताईस को क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चार कषायों से गुणाकार करने से कुल एकसौ आठ भेद हुये। ये १०८ प्रकार के आस्रव जीव के नित्य प्रति होते रहते हैं। इसका अभाव होने के लिये एकसौ आठ ही दाने की माला नित्य प्रति जपने का विधान कहा है। इस प्रकार एकसौ आठ प्रकार के आस्रव कहे हैं। तथा उस एकसौ आठ भेद को एक अनन्तानुबन्धी, एक अप्रत्याख्यान, एक प्रत्याख्यान, एक संज्वलन इन चार कषायों से गुणा करने पर चारसौ बत्तिस भेद होते हैं। अथवा जीव के परिणाम की अपेक्षा से संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रकार के आस्रव हैं। क्योंकि एक एक जीव के असंख्यात असंख्यात प्रमाण कषाय के स्थान कहे गये हैं। इसलिये आस्रव के कारण तथा उसके फल की अपेक्षा से संख्यात तथा असंख्यात एवं अनन्त भेदरूप जीवके आस्रव होते हैं। इस प्रकार आस्रव का स्वरूप निरूपण किया गया।

आगे बन्ध के निर्देश का स्वरूप कहते हैं:—बन्ध का स्वामी जीव है। उसमें जो पुण्य-पाप रूप बन्ध का फल कहा गया है वह जीव को ही होना है। इसलिये बन्ध का स्वामी जीव है अथवा कर्म भी है। क्योंकि कर्मरूप पुद्गल परमाणु का ही द्रव्य बन्ध होता है। इसलिये बन्ध का स्वामी कर्म भी है। इस प्रकार यह बन्ध के स्वामी का स्वरूप है। और बन्ध का साधन कर्म भी है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अव्रत, योग, कषाय प्रमाद रूप परिणाम कर्मरूप पुद्गल है इससे ही बन्ध की उत्पत्ति होती है। इसलिये बन्ध का साधन कर्म है। और जीव भी बन्ध का साधन है

क्योंकि मिथ्यादर्शन तो आदि रूप परिणाम आत्मा को ही होता है। इस' लिये बन्ध का साधन जीव भी हैं।

भावार्थ—पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, पन्द्रह योग, पच्चीस कषाय, और पन्द्रह प्रमोद ये बहत्तर (७२) भेद बन्ध होने के कारण होते हैं। इस प्रकार यह बन्ध के साधन का स्वरूप है। पुनः बन्ध का अधिकरण कर्म है। क्योंकि कर्मरूप पुद्गल द्रव्य में ही बन्ध का अवस्थितपना हैं। इसलिये बन्ध का अधिकरण कर्म है अथवा बन्ध का अधिकरण जीव है। क्योंकि मिथ्यादर्शनादि कारण से आत्मा ही बन्ध का आधार होता हैं। इसलिये बन्ध का अधिकरण जीव भीं है।

विवेचन—इसका सार यह है कि एक निश्चय और दूसरा व्यवहार ये दो प्रकार के बन्ध के आधार हैं। निश्चय दृष्टि से तो बन्ध के आधार कर्म हैं, पर व्यवहार नय से बन्ध का आधार जीव है। इस प्रकार यह बन्ध के अधिकरण का स्वरुप समझना चाहिये। पुनः बन्ध की स्थिति एक जघन्य और एक उत्कृष्ट ऐसे दो प्रकार की है। इसमें वेदनीय कर्म की तो जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त प्रमाण चौवीस घड़ी की है और नाम, गोत्र, इन दो कर्मों की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त प्रमाण सोलह घड़ी की है। पुनः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयु, अन्तराय इन पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। इस प्रकार जघन्य स्थिति को बतलाया। पुनः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कौड़ाकोड़ी सागर की है। पुनः मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है। नाम और गोत्र इन दो कर्मों की स्थिति बीस कोड़ाकोडी सागर की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैतिस सागर की है। इस प्रकार आठ कर्म की उत्कृष्ट

स्थितिका स्वरूप समझना। अथवा अभव्य जीवके बन्ध की सन्तान रूप पर्याय की अपेक्षा से कर्म बन्ध की स्थिति अनादि निधन है। और जो अनन्तकाल से भी सिद्ध नहीं हुये हैं और न होगे ऐसे भी कितने भव्य जीव भी अनादि निधन हैं। जिससे सन्तान की अपेक्षा से कर्मबन्ध की सन्तति अनादि काल से चली आई हैं और आगामी अनन्तकाल तक रहेगी इसलिये अभव्य तथा दूर भव्य जीवको अनादि निधन काल प्रमाण बन्ध की स्थिति कही गई है और ज्ञानावरणादि कर्म के उत्पाद व नाश की अपेक्षासे सादि सनिधन कहा है। वह आदि और अंत सहित है। इसप्रकार बन्ध की स्थिति का स्वरूप समझना। पुनः बन्ध का विधान जो कहा है वह समान्य की अपेक्षा से तो एक हैं और विशेप से वही बन्ध द्रव्य, भाव के भेद से दो प्रकार का है। एक शुभ बन्ध और दूसरा अशुभ बन्ध। शुभ और अशुभ इन दोनों रूप मिश्रबन्ध ऐसे बन्ध के तीन भेद हैं। पुनः प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश भेद से चार प्रकार के बन्ध हैं। पुनः एक मिथ्यादर्शन, अव्रत, योग, कषाय तथा प्रमाद इन पांच बन्ध होने के हेतु से बन्ध पाँच प्रकार के हैं। पुनः नाम, स्थापना, द्रव्य. क्षेत्र काल और भाव ये छह प्रकार के बन्ध हैं। पुनः नाम, स्थापना, द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव, भव ऐसे सात प्रकार के बन्ध हैं। पुनः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म के आठ मूल प्रकृति के भेदसे आठ प्रकार का बन्ध है। यह उत्तर प्रकृति के भेद से एक सौ अड़तालिस प्रकार का बन्ध है।

इस प्रकार कर्म के हेतु और फल के भेद से संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भेदरूप बन्ध है। इस प्रकार बन्ध का विधान है।

आगे पांचवें संवर तत्व के निर्देश को कहते हैं :—आस्रव का निरोध करना संवर है। अर्थात नवीन कर्मके आने वाले मार्गको रोकना संवर है। ऐसा संवर का निर्देश स्वरूप है। संवर का स्वामी जीव है। क्योंकि संवर रूप परिणाम आत्मा को ही होता है। इसलिये संवर का स्वामी जीव है। तथा संवर का स्वामी कर्म भी है। क्योंकि आसूवरूप कर्म को रोकने से जीव को द्रव्य संवर होता है। इसलिये संवर का स्वामी कर्म भी है। इस प्रकार संवर के स्वामित्व का स्वरूप समझना। पुनः संवर का साधन आत्मा है। जिससे गुप्ति, समिति, धर्मादि रूप परिणाम आत्मा को ही होता है। इसलिये संवर का साधन जीव भी है।

भावार्थ—तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशधर्म, बारह भावना, और बाईस परिषहों को जीतना तथा पाँच चारित्र ऐसे समस्त सतावन भेद संवर के निमित्त कारण हैं। इनसे जीव को संवर की प्राप्ति होती है। इस प्रकार संवर के साधन को जानना। पुनः संवर का अधिकरण आत्मा है। क्योंकि संवर का आधार भी आत्मा होता है। इसलिये संवर का अधिकरण भी जीव है। पुनः संवर की स्थिति एक जघन्य और एक उत्कृष्ट ऐसे दो प्रकार की है। वहाँ जघन्य से ना संवर की अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण स्थिति है और उत्कृष्ट से कुछ कम एक कोड़ा-कोड़ी काल प्रमाण संवर की स्थिति है। पुनः संवर का विधान कहते हैं। सामान्य रीति से संवर एक है, पर विशेष रीति से वही एक द्रव्य और एक भाव ऐसे दो प्रकार है। पुनः तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषह पाँच चारित्र ऐसे सत्तावन प्रकार के संवर हैं। और इस प्रकार संख्यात अथवा जीव के परिणाम की अपेक्षा से असंख्यात तथा अनन्त भेद रूप संवर हैं। इस प्रकार संवर के ध्यान का स्वरूप बतलाया।

आगे छठे निर्जरा तत्वके निर्देश को कहते हैं :—एक देश कर्म का क्षय होना निर्जरा है। पुनः निर्जरा का स्वामी जीव है। क्योंकि कर्म की निर्जरा आत्मा को ही होती है। इसलिये निर्जरा का स्वामी जीव है। तथा कर्म भी है। क्योंकि कर्म रूप पुद्गल परमाणु की ही द्रव्य निर्जरा होती है। इसलिये निर्जरा का स्वामी कर्म भी है।

भावार्थ—द्रव्य निर्जरा कर्म की है और भाव निर्जरा आत्मा की है। इसलिये द्रव्य निर्जराका स्वामी तो कर्म है और भाव निर्जराका स्वामी आत्मा है। इस प्रकार यह निर्जरा के स्वामित्व का स्वरूप जानना। पुनः निर्जराका साधन तप है। क्योंकि तप से ही कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिये निर्जरा होनेका कारण तप है। तथा जो कर्म का उदय है उससे समस्त संसारी जीवों के स्वयमेव ही सविपाक निर्जरा होती है। इसलिये निर्जरा होनेका कारण कर्म का उदय भी है। यह निर्जराका साधन रूप समझना। पुनः निर्जरा का अधिकरण आत्मा है। क्योंकि आत्मा के द्वारा ही कर्मका आधारपना है। इसलिये निर्जरा का अधिकरण भी आत्मा ही है। इस प्रकार निर्जरा के अधिकरण का स्वरूप है। पुनः यहां निर्जरा की स्थिति एक जघन्य और दूसरी उत्कृष्ट भेद से दो प्रकार की है। वहाँ जघन्य की अपेक्षा से तो निर्जरा की स्थिति एक समय है। और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण है। यह ध्यान की अपेक्षा से है। इसलिये परिपूर्ण ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है। वहाँ जघन्य से तो एक समय में ही समस्त कर्मों की निर्जरा होती है और उत्कृष्टता से अन्तर्मुहूर्त काल में समस्त कर्मों का क्षय करते हैं। इसलिये जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण निर्जरा की स्थिति कही गयी है। इस प्रकार निर्जरा की स्थितिका स्वरूप बतलाया। पुनः निर्जरा का विधान सामान्य रीति से तो एक ही

है, किन्तु विशेषता से वही निर्जरा एक द्रव्य और एक भाव-भेदसे दो प्रकार की है। और यह सविपाक तथा अविपाक रूप भेद से भी दो प्रकार की निर्जरा है। अथवा ज्ञानावरणादि आठ कर्मके अभाव से आठ प्रकार की भी निर्जरा है। तथा यह एक सौ अड़तालिस उत्तर प्रकृति के भेद से एक सौ अड़तालिस प्रकार भी है। इस प्रकार कर्म के क्षय होने की अपेक्षा से जीव को निर्जरा होती है। ऐसा निर्जरा विधान का स्वरूप जानना।

आगे सातवें मोक्षतत्व के निर्देश को कहते हैं:—समस्त कर्मों का पूर्णतया अभाव होना मोक्ष है। ऐसा मोक्ष के निर्देश का स्वरूप है। मोक्ष का स्वरूप तो जीव ही है। क्यों कि मोक्ष जीवको ही होता है। अतः मोक्ष का स्वामी जीव है। ऐसे मोक्ष के स्वामी का स्वरूप जानना। पुनः मोक्ष का साधन रत्नत्रय है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप आत्मा का परिणाम होने से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ऐसे तीन भेद रूप रत्नत्रय ही मोक्ष की प्राप्ति होने के उपाय हैं। यही मोक्ष के साधन का स्वरूप है। पुनः मोक्ष का अधिकरण जीव है। क्योंकि परमात्मरूप शुद्ध जीव में ही मोक्ष का आधारपना है। इसलिये मोक्षका अधिकरण भी जीव ही है। इस प्रकार मोक्षके अधिकरण का स्वरूप है। पुनः मोक्ष की स्थिति सादिअनिधन है।

भावार्थ—मोक्ष का आदि तो है, किन्तु उसका अन्त कभी नहीं होता। इसलिये मोक्ष की स्थिति सादि अनिधन है। इस प्रकार मोक्ष की स्थिति का स्वरूप कहा गया। पुनः मोक्षका विधान सामान्य रीति से तो एक प्रकार, विशेष रीति से एक द्रव्य और एक भाव की दृष्टि से दो प्रकार है। इस प्रकार मोक्ष विधान का स्वरूप कहा गया। इस प्रकार से निर्देश

स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, इन छः प्रकार के अनुयोगों से सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय तथा जीवादि सप्त तत्वों की यथार्थ जानकारी होती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि सप्त तत्वों के निर्देश के स्वरूप को जानना। यहाँ जो निर्देश शब्द कहा गया है वह श्रुत प्रमाण के विशेष से है। क्योंकि एक शब्दात्मक और दूसरा ज्ञानात्मक ऐसा दो प्रकार का श्रुतज्ञान कहा है। उसी तरह एक शब्दात्मक तथा दूसरा ज्ञानात्मक ऐसे दो भेदरूप निर्देशादिक हैं। इनसे सम्यग्दर्शनादिक तथा जीवादि सप्त तत्वों का अधिगम होता है। इसलिये ये निर्देशादिक भी श्रुतज्ञान के विशेष जानना। यहाँ कोई अन्यवादी प्रश्न करता है कि वस्तु का स्वरूप तो अवक्तव्य है। वह वचन गोचर तो नहीं है। इसलिये वह किसका निर्देश करेगा ?

समाधान—इस प्रकार का आपका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि तू कहेगा कि मेरा यह कहना सत्य है तो वहाँ इसी प्रकार वस्तु का कहना भी सत्य है और जो तू यदि ऐसा कहेगा कि मेरा कहना असत्य है तो तू असत्य क्यों कहता है ? अर्थात् तुम्हारे असत्यको कौन स्वीकार करेगा। तुम्हारे ऐसे कहने से ही वक्तव्यपना आता है। पर यदि कोई ऐसा कहे कि आज मेरा मौनव्रत है यानी मैं मौनव्रती हूं तो वहां ऐसा कहनेवाले पुरुष के काहे का मौनव्रत ? क्योंकि मौनव्रती तो उसको कहते हैं जो बोले नहीं। इसलिये एकान्त से वस्तु के स्वरूप को अवक्तव्य कहना अयुक्त है। ऐसे वस्तु के स्वरूप का निर्देश करना योग्य है।

प्रश्न—किसी वस्तु का सम्बन्ध किसी से नहीं है। इसलिये कोई किसी का स्वामी नहीं है। अतः समस्त वस्तुयें अपने-अपने स्वभाव में तिष्ठती हैं। इसलिये स्वामित्व का कहना अयुक्त है।

उत्तर—तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि व्यवहार नयकी अपेक्षा से समस्त वस्तुयें सम्बन्ध रूप हैं। इसलिये वस्तुका स्वामीपना प्रमाण से सिद्ध होता है। और जो वस्तुके विषय में स्वामीपनेका सम्बन्ध नहीं मानोगे तो सभी व्यवहारका लोप हो जायगा। अतः वस्तु को स्वामित्वपना मानना योग्य है।

प्रश्न—किसी वस्तु का कोई साधन नहीं है ?

उत्तर– यह तेरा कहना युक्त है। क्योंकि कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है। जैसे स्त्री-पुरुष के संयोग रूप कारण से ही सन्तान की उत्पत्ति होती है तथा बादलरूप कारण के होनेसे ही जल की वृष्टि होती है उसी प्रकार समस्त वस्तु के कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है। और जो साधन को नहीं माना जायगा तो मोक्ष आदिक उपाय रूप सभी व्यवहार का लोप हो जायगा। इसलिये साधन प्रमाण से सिद्ध होता है।

भावार्थ—अपने इष्टदेव का साधन समस्त जीव करते हैं। इसी तरह वस्तु के साधन को भी मानते हैं।

प्रश्न—यहां कोई अन्यवादी वस्तु के आधार का अभाव कहता है।

उत्तर—तुम्हारा यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि आधार आधेय भाव द्रव्यके विषय में प्रत्यक्ष रूप ही देखते हैं। इसलिये द्रव्यगुण के विषय में आधारपना प्रमाण सिद्ध है। इस प्रकार वस्तु के आधार को मानना भी योग्य है।

प्रश्न—यहां पर कोई अन्यवादी वस्तु की स्थिति को नहीं मानता यानी वह वस्तु को सर्वथा क्षणस्थायी मानता है इसलिये आचार्य उनका समाधान करते हैं।

समाधान—तुम्हारा यह कहना अयुक्त है। क्योंकि वस्तु की स्थिति प्रत्यक्ष रूपमें देखी जाती है। इसलिये स्थिति भी प्रमाण सिद्ध है और जो वस्तु को सर्वथा क्षणभंगुर ही मानोगे तो वहाँ पूर्वापर काल का जोड़ रूप सर्व व्यवहार का लोप हो जायगा। इसलिये वस्तु स्थिति को मानना योग्य है।

प्रश्न—पुनः यहां कोई अन्यवादी वस्तुके विधान का अभाव मानता है। वह समस्त वस्तुओं को सर्वथा एक रूप ही मानता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि :—

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि संसार में अनेक प्रकार की वस्तुयें हैं। इसलिये विधान भी प्रमाण सिद्ध है। यदि वस्तुको सर्वथा एक प्रकार माना जाय तो वहाँ प्रत्यक्ष में अनेक प्रकार की वस्तुएं दीखती हैं। इसलिये उसका लोप कैसे माना जायगा? और यदि प्रत्यक्ष को भी असत्य माने तो वहां शून्यता का प्रसंग आयेगा। इस प्रकार वस्तुके विधान को मानना भी योग्य है। इसलिये निर्देश आदि छः अनुयोग से सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक पदार्थों का अधिगम करना युक्त है, ऐसा जानना। इस प्रकार सातवें सूत्रमें सम्यग्दर्शन तथा जीवादि सप्त तत्वों के सम्बन्धी निर्देश आदि छः अनुयोगों का वर्णन किया। आगे आठवें सूत्र में शिष्य पूछता है कि जो इन निर्देशादिक से तथा जीवादि पदार्थों का जो अधिगम होता है उसका यही उपाय है या कोई अन्य उपाय भी है? उसके उत्तर में सूत्र कहते हैं।

सूत्र — सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थ—सत् का अर्थ वस्तु के अस्तित्वपना को कहना है। संख्या का अर्थ वस्तु के भेद की गणना करना है। क्षेत्र का अर्थ वतमान काल में

वस्तु के रहने के स्थान को कहना है। स्पर्श जो वस्तु का अतीत, अनागत तथा वर्तमान तीनों कालों में अन्य दूसरी वस्तु से मिलाप होने रूप विचरने का जो क्षेत्र है वह स्पर्श है। काल-वस्तु की स्थिति रूप काल के प्रमाण को कहना काल है। अन्तर-जो वस्तु अपनी एक पर्याय को छोड़कर अन्य दूसरी पर्याय में जाय तो वहां उस पर्याय को पूरी करके पुनः अपनी पहली पर्याय में आवे तो उसके बीच में जितना विरहकाल हो वह अन्तर है। भाव—जो वस्तु के परिणाम को कहना है सो भाव है। अल्पबहुत्व—जो वस्तु के विषय में परस्पर भेद की अपेक्षा करके थोड़ा बहुतपने को कहना है वह अल्प बहुत्व है। च का अर्थ जो पहले छठे सूत्र में अधिगम शब्द कहा है उसका यहां भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इसलिये सत् १, संख्या २, क्षेत्र ३, स्पर्श ४, काल ५, अन्तर, ६, भाव ७, तथा अल्प बहुत्व इन आठ अनुयोगों से भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है वह च शब्द से जानना चाहिए।

भावार्थ—यहां पर च कार से अधिगम शब्द का ग्रहण किया है। इसलिये जैसे वस्तु का निर्देशादिक से अधिगम होना है उसी तरह सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शन कालान्तरभावाल्प बहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी वस्तु का अधिगम समझना चाहिये।

प्रश्न— पहले सूत्र में निर्देश ग्रहण किया गया है और उसमें सत्पना सिद्ध किया गया है। पुनःविधानसे संख्याकी प्राप्ति हुई और उसके बाद अधिकरण के ग्रहण से क्षेत्र की सिद्धि हुई, क्योंकि जो वहां वस्तु का आधार है उसका वह क्षेत्र है। इसलिये अधिकरण को कहने से क्षेत्र का ग्रहण होता है। पुनः क्षेत्र के ग्रहण से स्पर्श का ग्रहण अवश्य होता है। वह जैसे घटरूप क्षेत्र में जल स्थिति

है वहां नियम से जल के घट का स्पर्श होता है। इसी प्रकार क्षेत्र के कहने से भी स्पर्शन का ग्रहण होता है। इसलिये अधिकरण को कहने से ही क्षेत्र और स्पर्शन इन दोनों का ही ग्रहण हुआ। पुनः स्थिति के कहने से काल का भी ग्रहण हुआ और अन्तर का ग्रहण भी वस्तु की स्थिति में गर्भित है। पुन. भावका कथन पहले नामादि चार निक्षेप में कहा ही है ओर इसी प्रकार अल्प-बहुत्व का ग्रहण भी विधान में गर्भित है।

भावार्थ—सत् ग्रहण निर्देश में सिद्ध हुआ। संख्या तथा अल्प-बहुत्व इन दोनों का विधान में प्राप्त हुआ पुनः अधिकरण के कहने से क्षेत्र-स्पर्शन इन दोनों का ज्ञान होता है। पुनः स्थिति में काल और अन्तर इन दोनों का ग्रहण हुआ। पुनः भाव का ग्रहण तो पहले चारों निक्षेपों में हो गया है। तो पुनः इनका ग्रहण इस सूत्र में किसलिये किया गया?

समाधान—यह बात तो सत्य है। क्योंकि पहले सूत्र से इनका अर्थ सिद्ध हुआ है। किन्तु तत्त्वार्थ के उपदेश को भेदरूप से दिया है। वह शिष्य के आशय की अपेक्षा से है, क्योंकि वहां कोई शिष्य तो संक्षेप रुचिवाला है और कोई विस्तार से रुचिवाला है। कोई शिष्य ऐसा है कि वह अधिक कहने से समझता है और कोई ऐसा है कि थोड़ा कहने से समझ लेता हैं और कोई मध्यम वर्गवाला है जो कि न तो अधिक विस्तार वाला है और न अल्प वाला ही है। वह वस्तु को मध्यम क्रम कहने से ही समझ लेता है। और सत्पुरुषों के वस्तु को कहने का जो प्रयोजन है सो सभी प्राणियोंके उपकार के लिये है। इस लिये केवली भगवान् ने वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने के लिये अधिगम का स्वरूप भिन्न भिन्न रूप से कहा है और यदि ऐसा न कहा

जाय तो वहां प्रमाण नय से ही वस्तु के अधिगम की सिद्धि होती है। तो अन्य निर्देशादिक का कहना भी निष्प्रयोजन हुआ। इसलिये वस्तु के स्वरूप को भेदरूप में कहना ही योग्य है। अथवा कोई अन्यवादी वस्तु का सर्वथा अभाव ही मानता है। वह इस प्रकार कहता है कि समस्त संसार अविद्याकार भासा है। संसार कोई वस्तु नहीं यानी शून्य है। इस शका का समाधान करने के लिये आचार्य कहते हैं कि—यह सम्पूर्ण जगत सत् रूप है। इसका अस्तित्व सदा विद्यमान रहता है।

भावार्थ—जगत् की समस्त वस्तुयें सदाकाल सत्रूप हैं, ऐसा कहने से नास्तिकवादी तथा शून्यवादी का निराकरण हुआ। अब संख्याभेद की गिनती को कहते हैं।

यहाँ पर जो कोई अन्यवादी वस्तु को सर्वदा अभेद रूप ही मानते हैं उनका निषेध भेद की गणना से होता है। उसके बाद क्षेत्र आकाश के प्रदेश को कहते हैं। उसको इसलिये कहा कि वहां कोई अन्यवादी वस्तु सम्बन्धी प्रदेश नहीं मानते। उसका निषेध क्षेत्र के कहने से जानना चाहिये। पुनः स्पर्शन वस्तु के त्रिकाल गोचर निवास को कहा है। वहाँ जो कोई अन्यवादी वस्तु को सर्वथा क्रिया रहित मानता है उनका निराकरण स्पर्शन कहने से होता है क्यों कि अन्य दूसरी वस्तु का मिलाप होने रूप स्पर्शन करते ही वस्तु में क्रिया की सिद्धि होती है। वहां एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश, और काल ऐसे चार द्रव्य तो जहां स्थित हैं उसी जगह स्पर्शन होता है और एक जीव तथा दूसरे पुद्गल ये दो द्रव्य जो शेष हैं वे अन्य जगह में भी गमन करते हैं। इसलिये जीव तथा पुद्गल द्रव्य का समस्त तीन लोक में स्पर्श होता है। इस प्रकार स्पर्शन के कहने से अक्रियवादी का निषेध होता है, ऐसा जानना। पुनः काल वस्तु की

स्थिति को कहा है। वहां कोई अन्यवादी वस्तुका भी प्रलय होना मानता है। उनका निषेध काल नियम के कहने से होता है। क्योंकि वहां जो वस्तु अपने जिस परिणाम को छोड़कर अन्य दूसरे परिणमन रूप हो और पुनः वही वस्तु उस पहले परिणाम को ग्रहण करे तो उसके बीचमें जितने काल लगे वे सब विरह काल कहलाते हैं। इसलिये वस्तु क्षणस्थायी रूप नहीं है। इस प्रकार अन्तर कहने से क्षणिकवादी का निषेध हुआ। पुनः भाववस्तुके परिणामको कहते हैं। वहाँ जो कोई अन्यवादी वस्तुके परिणाम को नहीं मानते उनका निराकरण भाव कहने से होता है। पुनः अल्प बहुत्व वस्तु में परस्पर एक दो की अपेक्षा करके कम ज्यादा को कहते हैं। वहां जो कोई अन्यवादी समस्त वस्तुओं को एक ही मानता है अथवा कोई अनेक मानता है उसका निषेध अल्प बहुत्व कहने पर नियम से होता है। इस तरह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये फिर से इस पृथक् सूत्र में आठ अनुयोगों को ग्रहण किया है।

प्रश्न—सबसे पहले तो तुमने सत् कहा। तत्पश्चात् संख्या, फिर क्षेत्र, पुनः स्पर्शन, पुनः काल, पुनः अन्तर, तत्पश्चात् भाव और उसके अन्तमें अल्प बहुत्व कहा तो इस क्रम से कहने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—समस्त वस्तुओं का मूल अस्तित्व है। क्योंकि जगतमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जो अपने अस्तित्व को त्यागे। इस प्रकार से सर्व वस्तु सत् रूप है। इसलिये सबसे पहले इस सूत्र को आदि में सत् शब्द का ग्रहण किया गया है। पुनः सत् रूप विद्यमान वस्तु में ही संख्यात तथा असंख्यात तथा अनन्तभेद रूप पदार्थ की गणना होती है। इसलिये सत्के पीछे संख्या का ग्रहण किया गया। पुनः संख्या रूप वस्तुके सम्बन्ध से ही

उसके रहने योग्य स्थान में क्षेत्र का भेद होता है। इसलिये संख्या के पीछे लगते ही क्षेत्रका ग्रहण होता है। और क्षेत्र के सम्बन्ध से अन्य वस्तु का मिलाप रूप स्पर्शन होता है। इसलिये क्षेत्र के पीछे लगते ही स्पर्शन का ग्रहण किया है। पुनः अन्य वस्तु का मिलाप होने से उसमें काल की भी स्थिति होती है। इसलिये स्पर्शन के पीछे ही काल का ग्रहण किया गया है पुनः वस्तु में काल की स्थिति होनेसे ही उसके बीच में अन्तराल काल है। इसलिये कालके पीछे अन्तराल का ग्रहण किया गया है। पुनः काल तथा अन्तर में ही वस्तु के स्वभाव का परिणमन होता है। इसलिये अन्तर के पीछे भाव का ग्रहण किया गया है। तत्पश्चात् परिणाम रूप वस्तु में ही परस्पर एक दो तीन की अपेक्षा करके उसमें थोड़ा-बहुतपना होता है। इसलिये भाव के पीछे अन्तमें अल्प-बहुत्व का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस अनुक्रम के कहने का प्रयोजन है। इसलिये इन आठ अनुयोग द्वारा तत्वार्थ के उपदेश को भेदरूप से कहना युक्त है। यहां जीव द्रव्यको आश्रव करके उसको सत् आदि आठ अनुयोगों द्वारा निरूपण किया है। वहां जो जीव है वह चौदह गुणस्थान में अवस्थित है।

भावार्थ—चतुर्गति रूप संसारी जीव को कहा है और समस्त जीव चौदह गुणस्थानों में स्थित हैं। इसलिये सबसे पहले उन चौदह गुणस्थानों के नामों को बतलाते हैं:—मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, इसका दूसरा नाम मिश्र भी है। असंयत सम्यग्दृष्टि, देश व्रत इसका दूसरा नाम मिश्र भी है और संयत भी है। प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्त मोह, क्षीणमोह, सयोग केवली, अयोग केवली ऐसे चौदह गुणस्थान हैं। इनको जीवसमास भी कहते हैं और इसका निरूपण करने के लिये चौदह मार्गणा भी कही गयी है।

चौदह मार्गणाओ के नाम और उनका स्वरूप :-

१—गति, २—इन्द्रिय, ३—काल, ४—योग, ५—वेद, ६—कषाय, ७—ज्ञान, ८—संयम, ९—दर्शन, १०—लेश्या, ११—भव्य, १२—सम्यक्त्व, १३—संज्ञी, तथा १४—आहारक-ये चौदह प्रकार की मार्गणायें हैं। इनमें से पहली गति मार्गणा का निरूपण करते हैं :—

१ गति—यह नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव के भेद से चार प्रकार की है।

२ इन्द्रिय—यह एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेद से पांच प्रकार की हैं।

३ कायमार्गणा—पृथ्वी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायु-कायिक तथा वनस्पति कायिक भेद से यह पाँच प्रकार की हैं।

४ योगमार्गणा—१—सत्यमन; २—असत्यमन, ३—उभयमन, ४—अनुभयमन, ये चार मनोयोग के भेद हैं और १—सत्यवचन, २—असत्यवचन, ३—उभयवचन, ४—अनुभयवचन, ये चार वचन योग के भेद हैं। और १—औदारिक, २—औदारिकमिश्र, ३—वैक्रियिक, ४—वैक्रियिक मिश्र, ५—आहारक, ६—आहारक मिश्र, ७-कार्माण-ये काय योग के सात भेद हैं। ये सब मिलकर पन्द्रह प्रकार के योग हैं।

५ वेदमार्गणा—१—स्त्री वेद, २—पुरुष वेद, ३—नपुंसक वेद, ये तीन वेद के भेद हैं।

६ कषायमार्गणा—१—अनन्तानुबन्धी क्रोध, २—अनन्तानुबन्धी मान, ३—अनन्तानुबन्धी माया, ४—अनन्तानुबन्धी लोभ, ५—अप्रत्या-ख्यान, क्रोध, ६—अप्रत्याख्यान मान, ७—अप्रत्याख्यान माया, ८—अप्रत्याख्यान लोभ, ९—प्रत्याख्यान क्रोध, १०—प्रत्याख्यान मान,

११—प्रत्याख्यान माया; १२—प्रत्याख्यान लोभ, १३—संज्वलन क्रोध, १४—संज्वलन मान, १५—संज्वलन माया, १६—संज्वलन लोभ, १७—हास्य, १८—रति, १९—अरति, २०—शोक, २१—भय, २२—जुगुप्सा, २३—स्त्री वेद, २४—पुरुष वेद, २५—नपुँसक वेद, इस प्रकार पच्चीस वेद हैं।

७ ज्ञानमार्गणा—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि इस प्रकार ज्ञानमार्गणा के आठ भेद हैं।

८ संयममार्गणा—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयतासंयत, असंयत ये सात भेद हैं।

९ दर्शनमार्गणा—चक्षु, अचक्षु, अवधि केवल इस प्रकार के चार भेद हैं।

१० लेश्यामार्गणा—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल भेद से छः प्रकार है।

११ भव्यमार्गणा—यह भव्य और अभव्य भेद से दो प्रकार की है।

१२ सम्यक्त्वमार्गणा—१-मिथ्यात्व, २-सासादन, ३-सम्यक्त्व मिथ्यात्व, ४-उपशम, ५-वेदक, ६-क्षायिक, इस प्रकार इसके छह भेद हैं।

१३ संज्ञामार्गणा—१-संज्ञी, २-असंज्ञी भेद से दो प्रकार की है।

१४ आहारमार्गणा—आहारक, और अनाहारक भेद से यह दो प्रकार की है। इस प्रकार चौदह मार्गणाओं के भेद कहे गये।

आगे गोम्मटसार के अनुसार चौदह गुणस्थान तथा चौदह मार्गणा का शब्दार्थ सहित विशेष रूपसे विवेचन करते हैं:—

उसमेंसे सबसे पहले गुणस्थान का अर्थ सहित विवेचन करेंगे। उसमें

जो मिथ्यात्व है वह असत्यरूप है। जिनकी असत्यदृष्टि या असत्य श्रद्धान है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। अर्थात् जिनकी दृष्टि विपरीत श्रद्धान रूप है उन्हें मिथ्यात्वी कहते हैं। असत्य का अर्थ झूठी वस्तु का श्रद्धान करना मिथ्यादृष्टि है। सासादन का अर्थ आसादन। जो विराधना से सहित विचरण करे वह सासादन सम्यग्दृष्टि है। अथवा जो जीव सम्यक्त्व की विराधना सहित प्रवर्तन करे वह सासादन है। ऐसी सासादन रूप जिसकी दृष्टि है उसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

प्रश्न—*फिर इनको सम्यग्दृष्टि क्यों कहा ?*

उत्तर—यह जीव पहले सम्यग्दृष्टि हुआ था। इस न्यायके अनुसार इनको सम्यग्दृष्टि कहा। इसलिये जो जीव सम्यक्त्व की विराधनासे सहित हो वह सासादन सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—यहाँ आसादन नाम विराधना का है और सम्यग्दृष्टि नाम सच्चे श्रद्धान का है। इसलिये जो जीव सम्यक्त्व की विराधना करके जब मिथ्यात्व की अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ हो तब वह जीव सासादन नाम को प्राप्त किया। पुनः सम्यक्त्व अर्थात् सत्यार्थ, मिथ्यात्व अर्थात् असत्यार्थ ऐसी तत्वातत्व इन दोनोंका मिलन रूप श्रद्धान जिसके हो वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि है।

अर्थात्—यहाँ सम्यक्त्व नाम तो चेतना का है। मिथ्यात्व नाम झूठे तथा अतत्व का है। दृष्टि नाम श्रद्धान का है। इसलिये जिनके तत्व तथा अतत्व इन दोनों का मिश्र श्रद्धान न हो वह जीव सम्यग्दृष्टि है। यहाँ सम्यक्त्व व मिथ्यात्व इन दोनों का मिश्र भाव है। इसलिये इसका नाम मिश्र ही है। पुनः असंयत शब्द जो है वह जिसमें संयम नहीं है उसको कहता है। सम्यक्त्व शब्द जो है वह समीचीन दृष्टि को

कहता है तथा तत्त्वार्थ का श्रद्धान या रुचि जिसके है वह असंयत सम्यग्दृष्टि है। अथवा जो व्रत रहित सम्यग्दृष्टि हो उसको अव्रत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

विशेषार्थ—यहां असंयत नाम तो अव्रत का है। सम्यक्नाम भले प्रकार सच्चे वस्तु का है। दृष्टि नाम श्रद्धान का है। इसलिये जिसके व्रत नहीं है और भले प्रकार तत्व श्रद्धान है वह जीव अव्रत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। देश का अर्थ थोड़ा, एक देशव्रत—जिसके एक देश संयम धारण होता है उसको देशसंयम देशव्रती कहते हैं। क्योंकि वहांपर संयम तथा असंयम दोनों होते हैं। इसलिये इसको संयमासंयम भी कहते हैं। अथवा यहां पर जो विरत पद है ऊपर के समस्त गुणस्थानवर्ती जीव के होता है। इसलिये इसके ऊपर शेष नव गुण स्थान जो है वे समस्त संयमी ही जानने चाहिये। सारांश यह है कि देश नाम तो थोड़ी की है तथा विरत नाम तो संयम का है। इसलिये जिनके एक देश व्रत होता है वह जीव देशव्रती कहलाता है। पुनः प्रमत्त संयत जो कहा है उसमें संयमी होते हुए भी उसको प्रमत्त संयत कहते है।

भावार्थ—यहां प्रमत्त नाम तो प्रमाद का है तथा संयत नाम संयमी का है। इसलिये जो जीव प्रमाद से सहित संयमी हो वह जीव प्रमत्त संयत कहलाता है। पुनः अप्रमत्त जो शब्द है वह जिसके प्रमाद नहीं है उस संयमी को अप्रमत्त संयत कहते हैं। यहां अप्रमत्त नाम जो है यह प्रमाद रहित का है तथा संयत नाम संयत का है। इसलिये जो प्रमाद रहित है तथा ध्यान में लीन है तथा संयमी है वह जीव अप्रमत्त संयत वाला है।

अपूर्व करण—अपूर्व-अर्थात् जिनके परिणाम अपूर्व है तथा अपूर्व

परिणाम में रत हैं वह अपूर्व करण है। यहां अपूर्व नाम तो नवीन का ही है तथा करण जो है वह जीवके विशुद्ध रूप परिणाम का है। इसलिये जिस जीव के समय-समय प्रति ऐसे अपूर्व रूप परिणाम हो तो तथा कभी भी पहले समय में नहीं हुए वह जीव अपूर्व करण कहलाता है।

अनिवृत्ति करण—यहां जो सबसे पहले 'अ' शब्द आया है उसका अर्थ है कि पूर्व में कभी भी नहीं पाया है। इस प्रकार की वृत्ति जो है वह विशेषण है। इस प्रकार की जो वृत्ति जिस जीवके अन्दर है उस जीव को अनिवृत्ति करण कहते हैं। इस प्रकार की जिसमें अनिवृत्ति है उसको करण कहते हैं। अर्थात जिनका परिणाम अत्यन्त आत्म स्वरूप में लीन है उसको अनिवृत्ति करण कहते हैं। अथवा जहां नाना जीव की अपेक्षा से भी एक समयमें एक सदृश परिणाम हो उसको निवृत्ति करण कहते हैं। कभी भी उनके परिणाम में भिन्न रूप न हो वह अनिवृत्ति करण है।

भावार्थ—यहां अ शब्द तो अभाव का है निवृत्ति नाम विशेषण रूप भिन्नता का है, करण नाम जीव के परिणाम का है, इसलिये विशेषण से रहित अनेक जीव की समानता रूप एक सदृशपरिणाम हो वह जीव अनिवृत्ति करण नाम को पाता है।

सूक्ष्म साम्पराय—सूक्ष्म शब्द जो है वह अति मन्द रूप अर्थका वाचक है। तथा साम्पराय शब्द कषाय का वाचक है। वह सूक्ष्म साम्पराय कहलाता हैं।

यहां सूक्ष्म नाम तो अति अल्प पन का तथा साम्पराय नाम कषाय का बोधक है। इसलिये जिसके अति अल्प कषाय हो वह जीव सूक्ष्म साम्पराय नाम वाला कहलाता है।

उपशान्त मोह :—उपशान्त का अर्थ है कि जिनके उपशम भाव

हुआ--अर्थात जिनका मोहनीय कर्म का उपशम हुआ है। वह उपशम मोह कहलाता है। अथवा उपशान्त जिनके कषाय का उपशम हो गया है वह उपशान्त मोह हैं।

भावार्थ—उपशम नाम जो है वह उपशम होने का है। तथा जो मोह नाम है वह मोहनीय कर्म का बोधक है। इसलिये जिसके समस्त योहनीय कर्म को उपशम हो गया है वह जीव उपशान्त मोह वाला कह-लाता है।

क्षीणमोह—क्षीण का अर्थ है मोह का क्षय हो जाना जिसका मोह क्षीण हो गया है-- उसको क्षीण मोह कहा जाता है। यहां पर क्षीण का अर्थ क्षय लिया जाता है। तथा मोह नाम मोहनीय कर्मका है। जिसने समस्त मोहनीय कर्म का नाश कर दिया है वह क्षीण मोहनीय कर्म वाला कहलाता है। संयोगी-योग सहित जो है उसको सयोग कहते हैं--अर्थात जिन्होने अपनी इन्द्रियों से रहित तथा असहाय रूप अतीन्द्रिय ज्ञान जिनको हो गया है वह सयोगी केवली है-- अर्थात जिसने चार घातिया कर्मों को जीत लिया है वह जिन है अर्थात जो केवल ज्ञान को प्राप्त हुआ है वह केवली जिन है। इसलिये केवली जिन या योग से सहित होने के कारण इनको सयोग केवली कहते हैं। यह 'स' जो पड़ा है-- वह सहित पने का वाचक है-- तथा योग नाम जो है मन वचन काय की क्रिया रूप आत्मा के प्रदेशो की चंचलता का है। तथा केवल नाम जो है वह क्षायिक ज्ञान का है इसलिये मन वचन काय क्रिया से जो सहित हो उसको सयोग और केवल ज्ञान होनेसे केवली है।

अयोग केवली—जो योग रहित है और केवली है वह अयोग केवली

कहलाता है। अथवा जिन्होंने चार घातिया और चार अघातिया इन आठ कर्मों को जीत लिया है वह अयोग केवली है।

भावार्थ—केवलीजिन योग से रहित हो वह अयोग केवली है, इसलिये यहाँ योग नाम मन वचन काय की क्रिया से आत्मा के चंचल होने को कहते हैं तथा केवल नाम तो क्षायक का है। इसलिये जो योग रूप मन वचन काय की क्रिया से रहित केवल ज्ञानी है वह जीव अयोग केवली कहलाता है। इस प्रकार चौदह गुण स्थानों का स्वरूप समझना चाहिये।

अब आगे मिथ्या गुण स्थान का स्वरूप निम्न प्रकार बतलाते हैं—यहां दर्शन मोहनीय कर्म के भेद से जो मिथ्यात्व नाम प्रकृति जो कही है-उसके उदय से जीवके अतत्व श्रद्धान रूप लक्षण जो हैं वह मिथ्यादृष्टि मिथ्यागुण स्थान कहलाता है। इसके पांच भेद हैं:—

१. एकान्त मिथ्यात्व
२. विपरीति मिथ्यात्व,
३. विनय मिथ्यात्व,
४. संशय मिथ्यात्व,
५. अज्ञान मिथ्यात्व.

इस प्रकार पाँच प्रकारके मिथ्यात्व हैं। उसमें प्रथम एकान्त मिथ्यात्व जो कहा है उस मिथ्यादृष्टि जीव के अन्दर पदार्थ को असत्य रूप श्रद्धान करता है तथा असत्य रूप को मानता है अथवा सर्वथा एक को ही मानता है या अनेक ही। इस प्रकार दूसरे प्रतिपक्षी भाव की अपेक्षा से रहित वस्तुको सर्वथा एकान्त रूपजो ग्रहण करता है वह एकान्त मिथ्यात्वी है।

विपरीति मिथ्यात्व—विपरीति जिनका दृष्टि हो वह विपरीति-

मिथ्यादृष्टि है। अहिंसादि समीचीन धर्मके फलसे स्वर्गादिकके सुखकी प्राप्ति होना जो कहा है उसको न मान कर वह हिंसादि पाप रूप यज्ञादि के द्वारा फल की प्राप्ति मानना तथा अनेक जीवों के वलि आदि देनेसे जीवको स्वर्ग-मोक्ष या पाप-पुण्य की वृति मानना यह विपरीति मिथ्यात्व है, अथवा जो जीव के प्रमाण रूप से सिद्ध हुआ जो मोक्ष मार्ग का निराकरण किया हुआ को अभाव मानते हैं तथा वादी प्रतिवादी के द्वारा कभी खंडन न किया जाय इस प्रकार शास्त्र का प्रतिपादित मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का जो समर्थन किया है उसका अभाव मानना तथा अपने माने हुये विपरीति धर्म के अनुसार नास्तिक वचन को आस्तिक वचन कहकर स्त्री को घर में मोक्ष मानना बिना संयम के मोक्ष मानना तथा विना अर्जिका क्षुल्लिका आदि के विना मोक्ष मानना। स्त्रीपर्याय से मोक्ष मानना इत्यादि मनो-कल्पित विपरीति मार्ग को अपने मत के द्वारा वस्तु का एकान्त रूप ही श्रद्धान करना आदि जो है वह विपरीति मिथ्यात्व कहलाता है।

विनय मिथ्यात्व—जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अपेक्षा से रहित कुगुरू की पूजा करना उनको नमस्कार करना जो है--उनको पूज्य मानना— उनको सर्वज्ञ मानना—उनको महान तपस्वी मानना—वस्त्र सहित गुरू को सद्गुरू मानना—उनको पूजना—उनको दिया हुआ दान स्वर्ग मोक्ष का कारण मानना—या उसको ही अवतारी मानना—तथा उसी भेष को मोक्ष प्राप्ति का उपाय मानना—उनका श्रद्धान करना ये सब विनय मिथ्यात्व है।

संशय मिथ्यात्व—जो प्रत्यक्ष ग्रहण किया हुआ अर्थ है उसमें भी देशान्तर तथा कालान्तर में व्यभिचार पना जो अन्यथा भाव हो जिससे अनेक मत की अपेक्षा से व परस्पर विरोध जो आगम प्रमाण की श्रद्धान

उनके मनमें न हो वह संसय मिथ्यादृष्टि। है इसलिये ऐसे जिनके अन्दर संसय रूप तत्व है वह विनय मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उनके मन में हमेशा इस प्रकार की शंका रहती है कि यह मोक्ष है या नहीं यह शास्त्र किसी ने लिखा है या नहीं—यह उपदेश भगवान की है या नहीं —यह किसने देखा है—इसका प्रमाण क्या—इसका शासन परम्परासे चलता-चला आरहा है या नहीं—इस प्रकार उनके मनमें इसके निर्णय करने की शक्ति का अभाव होने के कारण मन में जो इस प्रकार का संशय रहता है उसके कारण भगवानके कहे हुये आगम में श्रद्धान न रखकर हमेशा संशय ही बना रहता है—उसको संशय मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

अज्ञान मिथ्यात्व—यहां पर पृथ्वी आदि जो ज्ञानावरणादि कर्म के तीव्र उदय से युक्त जो उपयोग लक्षण वाला एकेन्द्रिय जीव जो है उसमें अजीवपनेका श्रद्धान करना जो है वह अज्ञान मिथ्यात्व है।

जो दूसरे प्रतिपक्षी भाव की अपेक्षा से रहित वस्तु को सर्वथा एक प्रकार ही मानना वह एकान्त मिथ्यात्व है। पुनः जो वस्तु के स्वभाव को सर्वथा विपरीत अर्थात् उल्टा ही मानना वह दूसरा विपरीत मिथ्यात्व है। पुनः जो रत्नत्रय धर्म से रहित केवल एक विनय से सर्वथा मोक्ष की प्राप्ति मानना वह तीसरा विनय मिथ्यात्व है। तथा जो वस्तु को सदा संशय रूप ही मानना वह चौथा संशय मिथ्यात्व है। या किसी वस्तु के विषय में सर्वथा किसी विशेष वस्तु के रूप का अभाव मानना इत्यादि पांच प्रकार के मिथ्यात्व बतलाया है।

सूक्ष्म भेद के आश्रय से उस मिथ्यात्व के असंख्यात लोक प्रमाणभेद है इसलिये वहां संख्यात आदिक व्यवहार की अप्राप्ति है। इस प्रकार स्थूलपण

से मिथ्यात्व के पांच भेद बतलाये गये हैं। इस प्रकार पांचों मिथ्यात्व अतत्व श्रद्धान रूप हैं इसलिये उसको मिथ्यात्व कहा है।

भावार्थ—यहां उदय में आया जो मिथ्यात्व है उसको वेद कहते हैं। अर्थात उसका—अनुभव करते हुये जो जीव विपरीत दर्शन अर्थात अतत्व श्रद्धान से युक्त होता है। इसलिये तत्व के प्रति श्रद्धान हीन होता है। जो केवल अतत्व को जहाँ ग्रहण नहीं करता है वह अनेकान्त रूप धर्म है—या जो वस्तु का स्वभाव है उसको भी धर्म कहते है। अथवा रत्नत्रय रूप जो मोक्ष मार्ग का कारण कहा है। वह धर्म उनको नहीं रुचता हैं, जिस प्रकार पित्त ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को मीठा दूध आदि नहीं रुचता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव को यह सच्चा धर्म रुचिकर नहीं होता है। इसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव को अरहन्तादि के द्वारा कहा हुआ उपदेश तथा आगम पदार्थादि पर श्रद्धान नही करता है, क्योंकि उनके उत्कृष्ट प्रवचन का नेता अर्थात प्रवचन करने वाला भगवान अरहन्त देव है। तथा उत्कृष्ट अरहंत का जो प्रवचन है, वही परमागम है। या जो प्रमाण से निरूपण किया हुआ जो प्रवचन वही पदार्थ है इसलिये इस प्रकार प्रवचन शब्द की निरुक्ति है इसी प्रवचनशब्दका आप्त आगम पदार्थ इस प्रकार के तीन अर्थ बनाये हैं। इन तीनों पर मिथ्यादृष्टि जीव का श्रद्धान नहीं होता है। वह मिथ्यादृष्टि जीव भगवान वीतराग के बतलाये गये तत्व के प्रति असत्य भावना होने के कारण वह आप्तआगम के विरुद्ध जो कुदेव आदि के द्वारा कहे गये उपदेश को अथवा अनुपदेश को या उस पर श्रद्धान करके उन्हीं की उपासना करता है—और यथार्थ—तत्व को झूठा मानता है कदाचित वह मिथ्यादृष्टि जीव घट पट काष्ट—पाषाण जल मिट्टी इत्यादि वस्तु का ज्ञान होने से उसमें यथार्थ श्रद्धान भी करता

हैं परन्तु उन पर यथार्थ श्रद्धान होने पर भी उसको अज्ञानी कहा है। क्योंकि जिन वचन में उसके श्रद्धान का अभाव है। इसलिये जिन बचन के श्रद्धान के विना अन्य घट पट आदि श्रद्धान करने पर श्रद्धान भी वह सम्यदृष्टि नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीव के बाह्य घट पट आदि वस्तु में भी एक कारण विपर्याय, दूसरा भेदाभेद विपर्याय, तीसरा स्वरूप विपर्याय, इस प्रकार ३ विपर्यायता उत्पन्न होती है। उनमें से पहले कारण विपर्याय को बतलाते हैं।

वहाँ पर समस्त वस्तु अनादि निधन रूप ही हैं। उसका कर्त्ता ईश्वर ही को मानना यह मिथ्यापना है। अथवा अजीव से जीव की उत्पत्ति मानना वह कारण विपर्याय है।

भेदाभेद विपर्याय को निम्न प्रकार बतलाते हैं:—

जो समस्त वस्तु के कार्य से कारण भिन्न ही है, अथवा अभिन्न ही है इस प्रकार वस्तु के स्वभाव में भेदाभेद की कल्पना करना वह भेद विपर्याय है।

स्वरूप विपर्याय—जो समस्त पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, यह चार गुण बतलाये हैं—उसमें से पृथ्वी तथा वनस्पति में चार गुण हैं। पुनः जल में एक गन्ध के विना स्पर्श रस वर्ण इस प्रकार के तीन वर्ण हैं। अग्नि में रस के बिना—स्पर्श—गन्ध इस प्रकार दो गुण पाये हैं। वायु में एक स्पर्श गुण को बतलाया है। इत्यादिक वस्तु के स्वरूप को विपरीति रूप मानना जो हैं वह स्वरूप विपर्याय है। इन सबका मूल कारण एक मिथ्यात्व कर्म का उदय है ऐसा समझना चाहिये। इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव को बाह्य घट पट आदि वस्तु का भी यथार्थ श्रद्धान नहीं

होते हैं—इस प्रकार जैन सिद्धान्त में मिथ्यादृष्टि जीवका स्वरूप बतलाया ।

भावार्थ—मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव को यथार्थ तत्वार्थ का श्रद्धान नहीं होता हैं । वहां अतत्व को तत्व मानकर सत्यार्थ देव आगम पदार्थ - इन तीनको न मानना— अर्थात् इन तीनपर श्रद्धान न करना कुदेव में देव बुद्धि करना—कुगुरू में गुरू की बुद्धि करना कि आगम में सु आगम की बुद्धि करना—अर्थात असत्यार्थ देव गुरू, तथा शास्त्र में सत्यार्थ देव, गुरूका शास्त्रका कल्पना करना। देहादि पर द्रव्य में ही अपनी आत्मा मानना या जाति, कुल, रूप इत्यादिमें अपनी आत्मा आत्म बुद्धिकी कल्पना करना इस प्रकार के मिथ्यात्व कर्म के उदय का अनुभव करने वाले जीव विपरीत श्रद्धानी होते हैं । ऐसे जीव को अनेकान्त धर्म नहीं रुचता है । क्योंकि वह पर वस्तुमें अहंकार ममकार आदि सहित होने के कारण उनको यथार्थ धर्म में रुचि नहीं रहता है—जिस प्रकार पित्त ज्वर के धारक पुरुष को मधुर रस जिसप्रकार कडवा प्रतीत होता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुषको जिन धर्म नहीं रुचता है— कदाचित् वह जीव धर्म का श्रवण भी करे तो भी वह पित्त ज्वर वाले जीव दूध को पीकर बादमें उल्टी कर देता है—या जसे सर्प को दूध पिलाने से वह जहर को उगल देता है उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि जीव धर्म का श्रवण करने पर भी वह अधर्म को ही उगलता है । तथा उस धर्मायतन से अत्यन्त वैर करता है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव का लक्षण है । इसलिये इस मिथ्यागुण स्थान का काल अनन्त है अथवा इसका काल अनादि सान्त भी है । तथा सादि सान्त भी है । इस प्रकार मिथ्या गुण स्थान का स्वरूप जानना ।

आगे सासादन गुण स्थानका स्वरूप बतलाते हैं ।

इस गुणस्थानमें प्रथम सम्यक्त्व के काल में जघन्य एक समय उत्कृष्ट ६ आवली शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी ४ कषायों में से कोई एक का उदय होने से वह सम्यक्त्व नष्ट हो, उस जीवको सासादन गुण स्थान वाला कहते हैं। इसी प्रकार महाधवल सिद्धान्त कषाय प्राभृत में यति वृषभाचार्य ने भी कहा है कि—

जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के काल में भी सासादन गुण स्थान की प्राप्ति होती है। वहां मिथ्यासे छूटकर चौथे से लेकर सात गुण स्थान में जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह तो प्रथमोपशमक सम्यक्त्व है। पुनः उपशम श्रेणीमें पहिले क्षायोपशमिक सम्यक्त्व छूटकर वहां पुनः जो उपशम सम्यक्त्व हो वह द्वितीयोपशमसम्यक्त्व है। इस प्रकार द्वितीयोपशमसम्यक्त्व में किसी जीवको किसी एक अनन्तानुबन्धी कषायका उदय हो जाय तो वह जीव सम्यक्त्व रूपी पर्वत के शिखरसे गिरकर मिथ्यात्व रूपी भूमि के सन्मुख हुआ उस जीवको जितना अन्तराल में एक समय आदि ६ आवली तक जो काल लगे वह जीव सासादन नाम गुण स्थान वाला कहलाता है। इसलिये द्वितीयोपशमक सम्यक्त्व में भी सासादन गुण स्थान की प्राप्ति है—इस प्रकार समझना चाहिये।

भावार्थ—अनादि तथा सादि मिथ्यादृष्टि जीवके सात प्रकृति का सर्वथा उपशम होने से जो सम्यक्त्व होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं, इसका काल अन्तर मुहूर्त प्रमाण का है। तथा जो वेदक सम्यक्त्व से चढ़ने में फिर उपशम सम्यक्त्व हो उसको द्वितीयोपशमक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका काल भी अन्तरमुहूर्त ही है। उन दोनों उपशम सम्यक्त्व में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से ६ आवली प्रमाणकाल जब बाकी रह जाय, तो अनन्तानुबन्धी कषाय की 'चौकड़ी जो क्रोध, मान,

माया, लोभ, इन चार कषाय में से कोई एक कषाय का उदय होनेसे सम्यक्त्व की विराधना होती है। जब तक वह जीव मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ तब तक उसको सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं क्योंकि अनन्तानुबन्धी का उदय होते ही सम्यक्त्व नहीं रहता है तथा मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व कहा नहीं जाता है। जिस प्रकार पेड़से फल टूटकर भूमि पर न पड़ा हो तो वहां वृक्ष भूमि के सम्बन्ध से रहित जो फल अन्तराल में स्थित है उसी तरह जो जीव सम्यक्त्व रूप पर्वत से छूटकर नीचे मिथ्यात्व रूप भूमि में प्राप्त नहीं हुआ है तथा उन दोनों के बीच में जघन्य एक समय उत्कृष्ट एक आवली काल प्रमाण सासादन गुण स्थान नहीं होता है अथवा प्रथमोपशम सम्यक्त्व की जो काल बतलाया है वह अन्तरमुहूर्त के पीछे नियम से छूट जाता है। क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व कर्म का उदय आ जाय तो वह उपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व गुण स्थान को प्राप्त होता है तथा जो वहाँ अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी में से कोई एक कषाय का उदय हो जाय तो वह जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है। तथा जो वहाँ सम्यक्त्व मिथ्यात्व नाम की प्रकृति का उदय हो जाय तो वह जीव मिश्र गुण स्थानी होगा। या वह जीव उपशम सम्यक्त्व से छूटकर वेदक सम्यग्दृष्टि होगा। इसलिये उपशम सम्यक्त्व का काल अन्तरमुहूर्त से अधिक नहीं है।

इस प्रकार उपशम सम्यक्त्व की विराधना करके सासादन गुण स्थान को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि:—जिस उपशम समग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है वह जीव बीच के काल में सासादन गुण स्थान वाला होता है। पुनः अनन्तानुबन्धी कषाय के बिना अन्य प्रकृति का उदय

होता है। तो वह जीव बीच के काल में सासादन गुण स्थान वाला नहीं होता है। इसलिये वहां पहले मिथ्यात्व आदि की प्रकृति का उदय आजाये तो ऐसा ही होता है। उससे वह सासादन नाम नहीं पाता है। इसप्रकार मिथ्यात्व के विना अन्य और अनन्तानुवन्धी कषाय की चौकड़ी के उदय से ही सासादन गुण स्थान होता है। यहाँ सम्यक्त्व की विराधना से सहित जीव का परिणाम होता है। इसलिये इसका सासादन सम्यग्दृष्टि नाम पड़ा है। क्योंकि इसका जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल है तत्पश्चात् यह नियम से मिथ्यादृष्टि होता है—इस प्रकार सासादन गुण स्थान का वर्णन किया है।

आगे मिथ्यात्व गुण स्थानका वर्णन करते हैं—

इस गुण स्थान में मोहनीय कर्म के भेद में जात्यान्तर अर्थात भिन्न-भिन्न जाति के भेद को लेकर जो सर्व घाति कार्य रूप ऐसी सम्यक्त्व नाम की प्रकृति कही है। इसके उदय से जीव के मिथ्यात्व प्रकृति के उदय के समान केवल मिथ्यापरिणाम भी नहीं तथा सम्यक्त्व प्रकृति का उदय भी नहीं हो इसलिये सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व यह दोनों मिले हुये तथा एक तीसरे ही जातिके भिन्न परिणाम हो उसको मिश्र परिणाम कहते हैं जिस प्रकार दही गुड़ मिलने से जो प्रकृति होती है उसी प्रकार मिश्रगुण स्थान का स्वरूप जानना।

इस प्रकार गोम्मट सार में भी कहा है कि:—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण
णयसम्मं मिच्छं यि य सम्मिस्सों होदि परिणामो ॥२१॥
सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन च जात्यन्तरसर्वघातिकार्येण
नच सम्यक्त्वं मिथ्यात्वमपि च सम्मिश्रो भवति परिणामः ॥

अर्थ—जिसका प्रतिपक्षी आत्माके के गुण को सर्वथा घातने का कार्य दूसरी सर्व घाति प्रकृतियों से विलक्षण जाति का है उस जात्यन्तर सर्व घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय से केवल सम्यक्त्व रूप या मियात्व रूप परिणाम न होकर जो मिश्र रूप परिणाम होता है उसको तीसरा गुण स्थान कहते हैं। शंकः—यह तीसरा गुण स्थान बन नहीं सकता, क्योंकि मिश्र रूप परिणाम ही नहीं हो सकते। यदि विरुद्ध दो प्रकार के परिणाम एक ही आत्मा और एक ही काल में माने जाय तो शीत उष्ण की तरह परस्पर सहावस्थान लक्षण विरोध दोष आवेगा। यदि क्रम से दोनों परिणमों की उत्पत्ति मानी जये तो मिश्र रूप तीसरा गुण स्थान नहीं बन सकता। समाधानः—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि मित्रामित्रन्याय से एक काल और एक ही आत्मा में ही मिश्र रूप परिणम हो सकते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार देवदत्त नामक किसी पुरुष में यज्ञदत्त की अपेक्षा मित्रपना और चैत की अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों धर्म एक ही काल में रहते हैं। और उनमें कोई विरोध नहीं। उसी प्रकार सर्वज्ञ निरूपित पदार्थ के स्वरूप को श्रद्धान की अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास-कथित अतत्व श्रद्धान की अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मा में ही घटित हो सकते हैं इससे कोई भी विरोध नहीं है।

उक्त अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिन्दु सक्कं।
एवं मिस्सय भावो सम्मामिच्छोत्तिणादव्वो ॥२२।

अर्थ—जिस प्रकार दही गुड़ को परस्पर इस प्रकार मिलाने से कि

फिर उन दोनों को पृथक पृथक नहीं कर सके उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्र रूप (खट्टा मिठा मिला हुआ) होता है। उसी प्रकार मिश्र परिणामों में भी एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व परिणाम रहते हैं ऐसा समझना चहिये:—

इस गुण स्थान में होने वाली विशेपता को दिखाते हैं—

सो सजम ण गिण्हदि देसजमं वा ण वंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥२३॥

अर्थ—तृतीय गुण स्थानवर्ती जीव सकल संयम या देश संयम को ग्रहण नहीं करता और न इस गुण स्थान में आयु कर्म का वन्ध ही होता है। तथा इस गुण स्थान वाला जीव यदि मरण करता है तो नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व परिणामों को प्राप्त करके ही मरण करता है, किन्तु इस गुण स्थान में मरण नहीं होता है।

उक्त अर्थ को और भी स्पष्ट करते हैं—

सम्मतमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा छु वद्धा।
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वियण मिस्सम्मि ॥२४॥

तृतीय गुण स्थानवर्ती जीवने तृतीय गुण स्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों में से जिस जाति के परिणाम काल में आयु कर्मका वन्ध किया हो उसी तरह के परिणामों के होने पर ही उसका मरण होता है। किन्तु मिश्र गुण स्थान में उसका मरण नहीं होता। और न इस गुण स्थान में मारणान्तिक समुद्घात ही होता है।

अव आगे चौथे असंयत सम्यग् दृष्टि गुण स्थान को कहते हैं—

जो दर्शन मोहनीय कर्म के भेद रूप मिथ्यात्व सम्यक्त्व मिथ्यात्व, सम्यग् प्रकृति इस प्रकार ये तीन तथा अनन्तानुवन्धी के क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार मिलाकर सात प्रकृति के क्षय होने से दूसरा क्षायिक

सम्यक्त्व होता है। पुनः जहाँ अनन्तानुवन्धी कषायकी चार चौकड़ी तथा दर्शन मोहनीयकी त्रिकमें एक मिथ्यात्व, एक सम्यक्त्व मिथ्यात्व, इसप्रकार इन छः प्रकृति का अभाव रूप क्षय होने से तथा इन्ही ६ प्रकृतिका वहां सत्ता रूप उपशम होता है। इस प्रकार के तीनों सम्यक्त्व सहित जीव के जो अप्रत्याख्यानावरणीय कपायके उदय से सयम रूप भाव नहीं होता है। अतः वह असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

भावार्थ—जिसके अनन्तानुवन्धी कपाय के अभाव से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो परन्तु दूसरे अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों की चौकड़ी में से कोई एक का उदय होने से संयम रूप भाव नहीं होता है। इसलिये वह असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। अथवा जो सम्यग्दृष्टि जीव व्रत से रहित हो वह असंयत सम्यग्दृष्टि है। अथवा यहां जैसे क्षयोपशम सम्यक्त्व में चल मल अगाढ़ रूप जो दोप है उसी तरह उपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व में वह दोष नहीं लगता है। इसलिये उनमें सम्यक्त्व कर्म के उदय के अभाव से दोप लेश मात्र भी नहीं है। ये दोनों सम्यक्त्व निर्मल होने से गाढ़ रूप दृढ़ हैं। इनके श्रद्धान में विकल्पना नहीं है। इसलिये इनमें चल मल अगाढ़ रूप दोष नहीं है—इस प्रकार जानना चाहिये। अथवा यहां तीसरे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में इतनी ही विशेषता है कि वहां पर जो जीव अरहन्त भगवान के द्वारा उपदेश किया हुआ जो प्रवचन या उनका उपदेश है अर्थात् आप्त आगम पदार्थ इन तीनों के प्रति गाढ़ श्रद्धान करता है। उसको असयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। पुनः उन आप्तादिक में असद्भाव अर्थात् अन्यथा रूप असत्यार्थ भी अपने विशेष ज्ञान के अभाव से केवल गुरू के निमित्त से जो गुरू ने कहा है वह ही अरहन्त भगवान की आज्ञा है इस प्रकार

की प्रकृति से जो अन्यथा श्रद्धान करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि वाला नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह उसकी आज्ञा का उल्लघन नहीं करता है।

भावार्थ—उस सम्यग्दृष्टि जीव के सत्यार्थ देव आगम गुरुका श्रद्धान आदि तो जरूर होता है पर उसको विशेष ज्ञान नहीं है ऐसे गुरु के द्वारा आप्तादिक के स्वरूप को जिसने अन्यथा ग्रहण किया है। उसे इस प्रकार ही जाने की जो मैं करता हूं यही भगवान ने कहा है यही उनकी आज्ञा है। इस प्रकार मान कर जो असत्यार्थ श्रद्धान किया है तो भी उसके सम्यग्दृष्टि पन का अभाव नहीं है। क्योंकि इसने अरहन्त भगवान का कहा हुआ ऐसा ही वचन है ऐसा जानकर—प्रतीत किया हैं—इस कारण वह सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार वह असत्यार्थ श्रद्धान को ग्रहण करता हुआ भी आज्ञा सम्यग्दृष्टि जीव कहा जाता है। वह जिस काल में कोई महान ज्ञानी गुरु का समागम होने के वाद पहले वताया गया श्रद्धान रूप असत्यार्थ रूप झूठा श्रद्धान जो हैं उसको हटाने के लिये जो सत्यार्थ सच्चा स्वरूप है वह गणधर आदिके रचा हुआ सूत्र है, उस सूत्रको उसको दिखाते हैं—तथा दिखाकर उनसे कहते हैं कि तुमने जो श्रद्धान किया है वह भगवान के आगम से विपरीत है— और वह असत्य है। पर तुमने उसको सच्चा समझा है। इस प्रकार समझाने पर भी अगर वह न माने तथा वहां अपने झूठे श्रद्धान पर जिद्द करके अभिमान से अपनी ही वात पर अटल रहे तथा सचाई पर श्रद्धान न करे और अपने मन में इस प्रकार विचार करे कि मुझे समस्त जगत पण्डित कहता है—मैं ठीक पथ पर हूं—और ये जो कहते हैं ठीक नहीं है इस प्रकार का अभिमान करता है। और कहता है कि इस वस्तु के स्वरूप को इसी प्रकार हजारों मनुष्योंके सामने मैंने कहा है अव इसको मैं झूठा किस प्रकार मानूं—तथा इसको इससे

विपरीत श्रद्धान करूं तो मेरा पण्डितपना न रहेगा। वह अपने वचन के पक्षपात से अपने माने हुए वस्तु के स्वरूप के श्रद्धान को न छोड़ता है। इसी प्रकार मानने वाला वह जीव उसी कालसे लेकर मिथ्यादृष्टि कहलाता है। क्योंकि सूत्रका श्रद्धान तथा भगवान की आज्ञा का उल्लंघन प्रसिद्ध है—इस कारण वह जीव मिथ्यादृष्टि है। अथवा जो जीव समस्त जिनवाणी का तो यथार्थ श्रद्धान करता है परन्तु कहीं कषाय के वशीभूत होकर अपनी मान बड़ाई के पोषण के लिये एक अक्षर भी वस्तु के स्वरूप से अन्यथा बतलाता है— तो उस जीव को मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। क्योंकि यह भी भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करता है—इसलिये उसको भी मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये।

भावार्थ—जो जीव अपने अल्प ज्ञान से भगवान की आज्ञा के अनुसार वस्तु के स्वरूप को अन्यथा भी ग्रहण करे तो उसके सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं है। तथा जिस जीव को समस्त जिनवाणी की यथार्थ जानकारी भी है परन्तु फिर भी उसमें कषाय के निमित्त एक अक्षर भी अन्यथा रूप कह दे तो वह जीव भी मिथ्यादृष्टि समझने योग्य है—इस प्रकार भगवान का यह वचन है।

इसलिये भगवान की आज्ञा को मानना योग्य है। इसी से जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। पुनः जो जीव इन्द्रियों के विषय से तो विरत नहीं है—बल्कि सहित हैं—पुनः वह त्रस स्थावर जीव की हिंसा से भी विरत नहीं है और जिन भगवानके द्वारा कहा हुआ जो प्रवचन अर्थात् आप्तागम पदार्थ जो कहा हुआ है इन तीनों का श्रद्धान करता है, वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। इसलिये उसको असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यहाँ पर कोई इस प्रकार समझेगा कि विषय में तो यह

अविरत पना है इसलिये वह विषयानुरागी बहुत होगा—परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रशमसंवेग आदि सम्यक्त्व गुण उनके अन्दर मौजूद है—इसलिये वह विषयों से विरक्त है—तथा हिंसा में अविरत है—इसलिये इनके परिणामों में निर्दयी पना नहीं है। तथा वह हमेशा हिंसा को पाप रूप श्रद्धान करता है—वह दया भाव से युक्त भी है। तात्पर्य यह है कि—

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को चारित्र मोहनीय कर्मके उदय से यद्यपि विषय का त्याग तो नहीं है परन्तु अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से त्रस स्थावर जीव की हिंसा का त्याग नहीं है। जिनेन्द्र भगवान के वचन पर श्रद्धान रखने से अति राग रूप की प्रवृत्ति नहीं होती—जिस प्रकार जलमें कमल—अलिप्त रहता है, उसी तरह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी विषय को उसके समान समझता है। अर्थात उससे अति विरक्त रहता है-तथा प्रयोजन के बिना त्रस स्थावर जीवकी हिंसा नहीं करता है—वह हिंसा को महान् पाप समझता है—तथा हमेशा दया भाव से पूरित रहता है। इसी प्रकार अष्ट पाहुड में भी कहा है कि—

जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह : मिथ्यात्व अन्याय, अभक्ष्य, भक्षण इन कार्योंको नहीं करता है। इसलिये उसमें मिथ्यात्व से विपरीत साक्षात् सम्यक्त्व प्रतिपक्षी है। तथा मांस आदि 'अभक्ष्य, भक्षण नहीं करता है। तथा अन्याय तथा पापके बन्धन रूप सप्त व्यसन आदि का भी वह सेवन नहीं करता है। परन्तु इसके अन्दर अनन्तानुबन्धी कषाय की प्रवृत्ति होती है। पुनः अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय जो है—वह मिथ्यात्व के आश्रय से प्रवृत्त है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव के . यह तीन कार्य नहीं होते हैं— कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार के कार्य

नहीं करता है । अगर कदाचित् इस जीव की अन्य व्यसन आदि कार्योंमें प्रवृत्ति लग भी जाये तो वह जीव उसी समय से 'मिथ्यादृष्टि होता है । जिस जीव के बाह्य माँसादि अभक्ष्य वस्तुका भक्षण करना तथा सप्त व्यसन का सेवन करना—अन्य कुदेव आदिको मानना होता है—वह जीव धर्म को ग्रहण करने का पात्र नहीं है । इस प्रकार के जीवको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है । इसलिये अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके भी मिथ्यात्व ,अन्याय अभक्ष्य भक्षण यह तीन कार्य नहीं होते हैं परन्तु चारित्र मोहनीय कर्म के उदयसे इसके त्याग रूप संयम भावना की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये इसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहा है । अविरत-सम्यग्दृष्टि-इन दोनों शब्दों रूप जानना कि वहाँ अविरत शब्द का ग्रहण जो किया है वह तो अन्त दीपक के समान है । जिस प्रकार किसी मन्दिर के अन्तमें धरा हुआ दीपक पिछले सर्व पदार्थ को प्रकाश करता है—उसी प्रकार यहां पर भी अविरत शब्द जो है वह मिथ्यादृष्टि आदि चार गुण स्थान में अविरतपनेको प्रकाशमान करता है एवं उसकी पहिचान कराता है । तथा यहां पर सम्यक् शब्द को जो ग्रहण किया है वह इस प्रकार यहां अविरत तथा सम्यग्दृष्टि शब्द का स्वरूप जानना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँ अविरत कहनेसे नीचे के समस्त गुण स्थान अविरत रूप ही जानना चाहिये । अथवा सम्यक्त्व कहने से इससे ऊपर के समस्त गुण स्थान वर्ती सम्यग्दृष्टि ही समझना चाहिये । अर्थात वे मिथ्या-दृष्टि नहीं है । इस प्रकार अविरत-एवं सम्यग्दृष्टि शब्दको भिन्न-भिन्न रूपसे समझाया है । इसलिये विरति से रहित तीनों सम्यक्त्वों में से कोई एक सम्यग्दर्शनधारी इस प्रकार के चौथे गुण स्थान में रहता हुआ

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जो है वह चारों गतियों में अर्थात समस्त तीन लोक में पूजनीय है। क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-इस प्रकार आत्मा का परिणाम जो वतलाया है—उसमें एक सम्यक्त्व ही मुख्य कारण है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव नरक में भी पूजनीय है। सम्यग्दर्शन रहित इन्द्र भी हो तो अपूज्य है। अथवा सम्यग्दृष्टि जीव के शरीर में कोढ़ की वेदना सहित बाह्य अशुभ कर्मके उदय से वह भीख भी मांग कर उदर भरे तो वह भी चक्रवर्ती से अधिक सुखी है। क्योंकि यहां अन्तरंग में अपने निज अनुभव रूप रसमें लीन है इसलिये सबसे सुखी सम्यग्दृष्टि जीव ही है। मिथ्यात्व सहित चक्रवर्ती जीव सुखी कदापि नहीं हो सकता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से रहित जीव तो मृतके समान है तथा सम्यग्दर्शन सहित जीव इन्द्र के समान है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े कालमें ही सम्यक्त्व के प्रभाव से चतुर्गति संसार का नाश करके मोक्ष जायगा तथा मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वके उदय से संसारमें अनन्त-काल तक भ्रमण करेगा। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव समस्त तीन लोकमें पूजनीय है। सम्यग्दर्शन की महिमा अगाध है। इसकी महिमा के बारेमें श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी कहा है कि—

न सम्यक्त्व समं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि
श्रेयोश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥

प्राणियों के लिये सम्यग्दर्शन जैसा तीन काल तीन लोकमें और कोई कल्याणकारी नहीं है। तथा मिथ्यात्व जैसा अपकार करने वाला तीन लोक में और तीन कालमें कोई भी द्रव्य चेतन या अचेतन न हुआ, न है और न होगा। इसका भावार्थ इस प्रकार है कि संसार के समस्त दुःखों को मेटने वाला और परम आत्म कल्याणकर्त्ता एक सम्यक्त्व ही है।

इसलिये सदैव इसके उपार्जन का उद्यम करना ही योग्य है। इसी प्रकार और भी कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भावपाहुड़ में कहा है कि—

जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित है, वह मनुष्य चलता फिरता हुआ भी मृतक के समान है। जिस प्रकार लोकमें कोई पुरुष जब जीव रहित होता है तब उसको सभी लोग मृतक शरीर वाला कहते हैं। इसी प्रकार जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित है वह भी मृतक के समान ही समझना चाहिये। क्योंकि मृतक जीव तो नाम रहित तथा वस्तु से रहित है। इसलिये उसको मृतक कहते हैं। इस कारण मिथ्यादृष्टि जीव भी सम्यग्दर्शन रूप सार वस्तु से रहित होने से उनको भी मृतक के समान कहा है। मृतक जीव लोकमें अपूज्य है—अपूज्यको जला दिया जाता है या पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है। तथा दर्शन रहित जीव चलते फिरते भी मुरदे के समान है—वह लोकमें मरे के समान है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा को बतलाया है इसका तात्पर्य यह है कि—

सम्यग्दर्शन के बिना जीव मृतक के समान है अथवा एक निश्चय दूसरा व्यवहार इस प्रकार दो प्रकार मोक्ष मार्ग बतालाया है। उसमें एक सम्यक्त्व ही प्रधान है। इसका भावार्थ यह है कि—

जितनी व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति है उससे भी अधिकता सम्यग्दर्शन में है। इसलिये सम्यग्दर्शन के बिना सब व्यवहार संसार के लिये कारण है। वह मोक्षका कारण नहीं है। इसलिये यहां शास्त्र में सम्यग्दर्शन को प्रधानता दी है। वह सम्यग्रत्न सर्व गुण रूप रत्नों का-नार है। तथा उत्तम है। अथवा सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी मन्दिर में चढ़नेकी पहिली सीढ़ी है—ऐसा दौलतराम जी ने कहा भी है कि—

तीन लोक तिहुंकाल माहिं नहीं, दर्शन सो सुखकारो
सकल धर्म को मूल यही इस,-बिन करनी दुखकारी ॥
मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारों भव्य पवित्रा ॥
दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे।
यह नरभव फिर मिलन कठिन हैं, जो सम्यक् नहीं होवे ।१७।

भावार्थ—इस व्यवहार धर्म में यहां एक गृहस्थ धर्म है—एक गृहस्थ धर्म में दान पुजा आदि, तथा मुनि धर्ममें व्रत, महाव्रत, तप, शील संयम आदि रूप शुद्ध क्रियाओं को कहा है—यह सब एक सम्यग्दर्शन के सार हैं। अथवा जिस प्रकार मिथ्यात्व रूप बीज से संसार रूप फल उत्पन्न होता है उसी तरह सम्यक्त्व रूपी बीज से मोक्ष फल की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार चतुर्गति भ्रमण रूप संसार के बीजका कारण मिथ्यात्व है—इसलिये मिथ्यात्व भावको छोड़कर ज्ञानी जीवको सम्यग्दर्शन का ही ग्रहण करना उचित है—अन्य को नहीं। इससे सर्व कार्य की सिद्धि होती है। इसलिये विरत से रहित सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्र के समान है। इस चौथे गुण स्थान में तीनों सम्यक्त्व सहित तथा विरत से रहित इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीव जो है—इसका जघन्य तो अन्तरमुहूर्त तथा उत्कृष्ट से ३३ सागर से कुछ अधिक प्रमाण काल बतलाया है—इस प्रकार चौथे असंयत सम्यग्दृष्टि गुण स्थान का वर्णन किया। अब आगे पाँचवे देश सयत गुण स्थान का वर्णन करेंगे —

इसमें अनन्तानुबन्धी की चार चौकड़ी तथा दूसरी अप्रत्याख्यान की चार चौकड़ी इस प्रकार ८ कषाय के उपशम से तथा तीसरी प्रत्याख्यान कषाय की चौकड़ी में से देशघाति स्पर्द्धक का उदय होने से तथा सर्व घाति

स्पर्धक का उदय का अभाव रूप होने से सकल संयम रूप भाव नहीं है परन्तु उसमें कुछ देश संयम है ।

भावार्थ—जो सम्यकदृष्टि जीव एक देश रूप थोड़े वृत धारण करे तो उसको देश संयम तथा पांचवा गुणस्थान वर्ती कहते हैं—यहाँ पर देश संयम जो है उससे तात्पर्य किंचित मात्र से है—इस कारण इसको देश संयम ऐसा कहा है। विरत पद यहां पर है वह आदि दीपक के समान है, जिस प्रकार आदि में धरा हुआ दीपक आगे के समस्त पदार्थों को प्रकाशमान करता है उसी तरह यहां पर भी पाँचवें गुण स्थान की आदि में विरत पद का वर्णन जो हरि किया है वह ऊपर के समस्त गुण स्थान को प्रकाश करते हैं।

इसका सार यह है कि विरत शब्द का अर्थ इसके ऊपर के समस्त गुणस्थान वर्ती सभी जीव संयमी हैं, अर्थात् ऊपर के जितने गुणस्थानवर्ती जीव हैं वे सभी विरति है। ऐसे द्योतक करना है अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि के हिंसा का त्याग तो है परन्तु स्थावर जीव की हिंसा का त्याग नहीं है इसलिये वह देशवृती कहलाता है। तथा एक ही काल में त्रस हिंसा से विरती तथा स्थावर हिंसा से अविरत है इस कारण विरताविरत कहते हैं। परन्तु प्रयोजन के विना स्थावर जीव की हिंसा नहीं करते हैं। इस देश संयम नामके पांचवे गुण स्थान में दर्शन, विरत, सामायिक, प्रोपोध-उपवास, सचित् त्याग, रात्रि-भोजन त्याग ब्रह्मचर्य, आरम्भ-त्याग, परिग्रह परिमाण, अनुमति-त्याग, उद्दिष्ट-त्योग, इस प्रकार श्रावक वृत के ग्यारह स्थान हैं। इनको ११ प्रतिमा भी कहते हैं। इसलिये ग्योरह प्रतिमा के धारी समस्त जीव विरति श्रावक कहलाते हैं। यहां पर जिस प्रकार जिनकी शक्ति हो उसके अनुकूल उस प्रतिमा को धारण

करते हैं। इसका जघन्य तो अन्तरमुहूर्त और उत्कृष्ट मे अन्तमुहूत सहित आठ वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी पूर्व प्रमाण काल है। इस प्रकार पांचों गुण स्थान का निरूपण किया।

आगे छठे प्रमत्त गुण स्थान के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

इन गुण स्थान में चार संज्वलन कषाय तथा नव नो कषाय के उदय होनेसे पुनः जहाँ अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान, यह तीन चौकड़ी के बारह कषाय का उदय न होनेसे और नव नो कषाय जो सकल संयम होता वह प्रमत्त संयत है। अथवा जिस संयमके विषयमें प्रमाद हो वह प्रमत्त संयत है।

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रमाद सहित सकल संयम को धारण करे, उस जीव को प्रमत्त संयत नामक छठे गुण स्थान वर्ती कहते हैं। यहां चौथा सज्वलन कषाय की चौकड़ी तथा ९ कषाय के देश घाति स्पर्द्धक के तीव्र उदय से संयम भी तथा उस संयम में मलको उत्पन्न करने वाले ऐसे प्रमाद भी उत्पन्न होते हैं। इस कारण इसको प्रमत्त सयम कहते हैं। अथवा यहां पर चार संज्वलन तथा नव नो कषाय कही हैं वह चारित्र के विरोधी है, परन्तु उनमें सयम को मूल से नाश करने की शक्ति नहीं है। वहां यद्यपि इनका उदय भी विद्यमान है तथापि वे संयय का घात नहीं करते हैं—क्योंकि वे एक देश घाति हैं—इसलिये इनके उदय में जीव के सकल संयम की प्राप्ति तो हैं परन्तु उसमें मल को लगाने वाले प्रमाद उत्पन्न होते हैं। इस कारण इस गुणस्थान को प्रमत्त संयत ऐसा कहा है।

सार यह है कि चार संज्वलन तथा नव नो कषाय के उदय से जीवको संयम भी होना है तथा उसमें से कितने प्रमाद अपनेको जाननेमें भी आते

हैं। और कितने प्रमाद अपने को अनुभव गोचर भी नहीं है। उसने तो प्रत्यक्ष केवल ज्ञानी जान सकते हैं—इसलिये एक प्रत्यक्ष वक्तव्य तथा दूसरा अवक्तव्य ऐसे दो प्रकार प्रमाद के भेद हैं। ये दोनों संयम रूप से वरतते हैं। वह चारित्र मोहनीय कर्मकी क्षयोपशमके माहात्म्य से सकल गुण तथा शील से संयुक्त महाव्रती होते हैं। यहां देश संयम की अपेक्षा से इसको सकल संयम कहते हैं। परन्तु ऊपर के गुण स्थान की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि ऊपर के गुण स्थानमें प्रमाद का अभाव है। इसलिये जो प्रमाद भी है तथा महाव्रत भी है इसलिये वह देशसंयत गुण स्थानकी अपेक्षा चित्रल-रूप सकल संयमी भी कहलाता है। इस प्रकार गोम्मटसारमें भी इसी तरह निरूपण किया गया है। चित्रल का अर्थ – चितकवरा अर्थात जिसमें किसी अन्य रंग का भी सद्भाव हो अर्थात छठे गुण स्थान वर्ती मुनि का आचरण कषाय युक्त होने से चित्रल कहलाता है। जो आत्मा के निज स्वरूप को भुलावे तथा उसकी असावधानी करे वह प्रमाद है इस प्रकार सामान्य से तो प्रमाद एक ही है पुनः विशेष पने से वही प्रमाद विकथा, कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा स्नेह, इस प्रकार पांच प्रकार के हैं। वहां पर जो संयमी के विरुद्ध कथा हो वह विकथा प्रमाद पहलेकी है। जो संयम गुण को घात करे वह दूसरा प्रमाद है। संयम के विरोधी इन्द्रिय विषय की प्रवृति रूप व्यापार हो वह तीसरा प्रमाद है। जो निद्रा नाम के कर्म के उदय से अपने इष्ट पदार्थ के सामान्य ग्रहण को रोकने वाली ऐसी जड़ रूप आत्मा की अवस्था को प्रकट करे वह निद्रा नामका चौथा प्रमाद है। जो बाह्य पदार्थ में आत्मा के ममत्व रूप परिणाम हो वह स्नेह नाम का पांचवां प्रमाद है। इस प्रकार प्रमाद की पांच मूल जातियां हैं। इसके उत्तर भेद १५ हैं।

प्रमाद के नाम—

१—स्त्री कथा　　　２—भोजन कथा

३—चोर कथा　　　४—राज कथा

इस प्रकार की चार कथायें, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, यह चार कषायें स्पर्श, रस गन्ध चक्षु, श्रोत्र इस प्रकार की पांच इन्द्रियां हैं। पुनः निद्रा तथा स्नेह यह सब मिलकर प्रमाद के १५ भेद होते हैं उनका क्रम इस प्रकार है।

सव्वेपि पुव्वभंगा उबरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
मेलंतित्ति य कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा॥ ३६॥

पूर्व के सब ही भंग आगे के प्रत्येक भंग में मिलते हैं इसलिये क्रम से गुणाकार करने पर संख्या उत्पन्न होती है।

भावार्थ—पूर्व के विकथाओं के प्रमाण चार को आगे को कषायों के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक विकथा प्रत्येक कषाय के साथ पाई जाती है इससे जो राशि उत्पन्न हो (जैसे १६) उसको पूर्व समझकर उसके आगे की इन्द्रियों के प्रमाण पाँच से गुणा करना चाहिये. क्योंकि प्रत्येक विकथा या कषाय प्रत्येक इन्द्रिय के साथ पाई जाती है। इसके अनुसार १६ को पांच से गुणने पर ८० प्रमादों की संख्या निकलती है। निद्रा और प्रणय ये एक ही एक है इसलिये इनके साथ गुणा करने पर संख्या में वृद्धि नहीं हो सकती।

अब प्रस्तार क्रम को दिखाते हैं—

पढमं पमदपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च।
पिंडं पडि एक्केकं णिक्खित्ते होदि पत्थारो॥ ३७॥

प्रथम प्रमाद के प्रमाण का विरलन कर क्रम से निक्षेपण करके उसके

एक एक रूप के प्रति आगे के पिण्ड रूप प्रमादके प्रमाण का निक्षेपण करने पर प्रस्तार होता है ।

भावार्थ—प्रथम विकथा प्रमादका प्रमाण ४, उसका विरलन कर क्रम से १११९ इस प्रकार निक्षेपण करना । इसके ऊपर कषाय प्रमाद के प्रमाण चारको प्रत्येक एक के ऊपर (४४४४)/(१११९) इस प्रकार निक्षेपण करना । ऐसा करने से अन्तर परस्पर (कषाय को) जोड़ देने पर १६ होते हैं । इन १६ का भी पूर्व की तरह विरलन कर एक-एक करके १६ स्थान पर रखना तथा प्रत्येक एक के ऊपर आगे के इन्द्रिय प्रमाद का प्रमाण पांच पांच रखना । ऐसा करनेसे पूर्व की तरह परस्पर जोड़ने पर ८० प्रमाद होते हैं । इसको प्रस्तार कहते हैं । इससे यह मालूम हो जाता है कि पूर्व के समस्त प्रमाद, आगे के प्रमाद के प्रत्येक भेदके साथ पाये जाते हैं ।

प्रस्तार का दूसरा क्रम वतलाते हैं—

णिक्खितु विदियमेत्तं पढ़मं तस्सुवरि बिदियमेक्केक्कं ।
पिंडि पडि णिक्खेओ एवं सव्वत्थ कायव्वो ॥ ३८ ॥

दूसरे प्रमाद का जितना प्रमाण है उतने जगह पर प्रथम प्रमाद के पिण्ड को रखकर उसके ऊपर एक पिण्ड प्रति आगे के प्रमादों में से एक एक का निक्षेपण करना, और आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार करना ।

भावार्थ—दूसरे कषाय प्रमाद का प्रमाण चार है- इस कारण चार स्थान पर प्रथम विकथा प्रमाद के पिण्ड का स्थापन करके उसके ऊपर पिण्ड पिण्डके प्रति एक एक कषाय का (४४४४)/(१११९) स्थापन करना । इनको परस्पर जोड़ने से १६ होते हैं । इन १६ को प्रथम समझ कर, इनसे

आगे के इन्द्रिय प्रमाद का प्रमाण पाँच है इस कारण १६ के पिण्ड को पाँच स्थान पर रखकर पीछे प्रत्येक पिण्ड पर क्रम से इन्द्रिय का स्था-
(१ १ १ १)
पन करना (१६ १६ १६ १६) इन १६ को इन्द्रिय प्रमाद के प्रमाण पांच से गुणा करने पर या पाँच स्थान पर रखे हुये १६ को परस्पर जोड़ने से प्रमादों को संख्या ८० निकलनी।

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा अक्ष परिवर्तन को कहते हैं—(अक्ष' परि-परिवर्तन का मतलब यह है कि - एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने को अक्ष परिवर्तन कहते हैं)

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे सकमेदि पढमक्खो॥ ३९॥

प्रमाद का तृतीय स्थान अन्त को प्राप्त होकर जब फिर से आदि स्थान को प्राप्त हो जाये तब प्रमाद का दूसरा स्थान भी बदल जाता है। इसी प्रकार जब दूसरा स्थान भी अन्त को प्राप्त होकर फिर आदिको प्राप्त हो जाये तो तीसरा इन्द्रिय स्थान जब स्पर्शनादि के क्रम से क्रोध और प्रथम विकथा पर घूम कर अन्त को प्राप्त हो जाये तब दूसरे कषाय स्थान में क्रोध का स्थान छूटकर मानका स्थान होता है। इसी प्रकार क्रम से जब कषाय का स्थान भी पूर्ण हो जाये तब विकथा में स्त्री कथाका स्थान छूटकर राष्ट्र कथा का स्थान होता है। इस क्रम से स्त्री कथालापी क्रोधी स्पर्शनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान् आदि अस्सी भंग निकलते हैं। निद्रा और स्नेह इनका दूसरा भेद नहीं है। इस कारण इनमें अक्ष सचार नहीं होता।

आगे इसीको विस्तार से विवेचन करते हैं—

एक स्त्री कथा—दूसरी भोजन कथा—तीसरी चोर कथा—चौथी राज कथा। तथा क्रोध-मोन-माया और लोभ-यह चार कषाय-स्पर्श रस-गन्ध-चक्षु श्रोत्र यह पांच इन्द्रियाँ पुनः एक निद्रा तथा एक स्नेह यह मिलकर १५ भेद हो गये—अथवा स्त्री कथा—भोजन कथा—चोर कथा—राज-कथा इस प्रकार की चार कथायें जो बतलायी है उनमें क्रोध मान-माया लोभ- इन चारों से गुणा करने पर १६ भेद हो जाते हैं। इन १६ को एक स्पर्श—एक रस—एक घ्राण—एक चक्षु—तथा एक श्रोत्र इनसे गुणा करने पर इन सबके मिलाकर ८० भेद होते हैं—इसमें ४ विकथा के २०—२० भेद होते हैं। इसलिये समस्त चारों विकथा के ८० भेद हो गये। पुनः एक एक इन्द्रियों में १६ भेद हो गये। इसलिये समस्त पांच इन्द्रियों को भी ८० भेद होते हैं, इस प्रकार निद्रा तथा स्नेह में भी एक एक भेद होते हैं-इसलिये एक एक करके सबके गुणा करने पर समस्त ८० भेद हुए। अथवा स्त्री की राग सहित चर्चा करने को स्त्री कथा कहते हैं। पुनः जो धन आदि लक्ष्मी की चर्चा करना अर्थ कथा कहलाती है। खान-पान की चर्चा करना यह तीसरी भोजन कथा है। राजा की कथा करने से राज कथा हो जाती है। तथा इसी प्रकार चोरकी कथा करने से चौर कथा कहलाती है। वैर को उत्पन्न करने वाली चर्चा का करना ही वैर कथा कहलाती है। पराया पाखण्ड आदि की चर्चा करना पाखण्ड कथा कहलाती है। नगर, ग्राम, आदिकी चर्चा करना आठवीं देश कथा है। अथवा राग रूप कहानी इत्यादि की चर्चा करना जो है वह भाषा कथा कहलाती है। अन्य पुरुष के दुर्गुण को दिखाने वाली चर्चा करना दुर्गुण सम्बन्धी कथा कहलाती है। जो देवी दुर्गा आदि की चर्चा करना देवी कथा कहलाती है। जो कठोर रूप चर्चा करना है। उसको निष्ठुर कथा कहते

हैं। दुष्टता को चर्चा जो है-वह मुनि कथा कहलाती है। कंदप अर्थात् काम रूप कथा को कहना कंदर्प कथा कहलाती है। देश काल के विपरीत रूप चर्चा जो है वह देश कथा कहलाती है। निर्लज्ज आदि रूपकी कथा करना भण्ड कथा कहलाती है। मूर्खता रूप चर्चा करना जो है वह मूर्ख कथा कहलाती है। अपनी वड़ाई आदि की चर्चा करना आत्म प्रशंसा की कथा कहलाती है। पराई निन्दा करना परिवाद कथा कहलाती है। पराई ग्लानि की चर्चा करना जुगुप्सा कथा करना कहलाती है। पर को पीड़ा देने वाली कथा की चर्चा जो की जाती है वह पीड़ा कथा कहलाती लड़ने की कथा-चर्चा इत्यादि करना जो है वह कलह कथा में सम्मिलित होती है। जो परिग्रह को उत्पन्न करने वाली चर्चा की जाती है वह परिग्रह चर्चाकी कथामें आती है, जो खेतीकी चर्चाकी जाती है। वह खेती आरंभकथा है। जोसंगीत वाद्यकी चर्चाकी जाती है। वहसंगीत वाद्यकथामें आती है। इस प्रकार विकथाओंके २५ भेदोंको वतलाया—। अर्थात स्त्री-कथा,अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा, वैरकथा, पर पाखण्डकथा, देशकथा, भाषा कथा, गुण वन्धक कथा, देवी कथा, निठुर कथा, पैसून्य कथा, कंदर्प कथा, देश काल, अनुचितकथा, भण्ड कथा, मूर्खकथा, आत्म प्रशंसा कथा, पर विवाद कथा, जुगुप्सा कथा, पर पीड़ा कथा, वड़ाई कथा, परिग्रह कथा, खेती आरम्भ कथा, संगीत वाद्य कथा, इस प्रकार यह २५ कथायें तथा चार चौकड़ी की जो १६ कषाय तथा ९ नो कषायें यह मिल कर २५ कषायें हुई तथा पुनः एक मन से सहित स्पर्शन रसन- घ्राण- चक्षु- श्रोत्र- इस प्रकार यह ६ इन्द्रियां हैं; पुनः निद्रा निद्रा, निद्रा, प्रचला, प्रचला, प्रचला, स्त्यान गृद्धि इस प्रकार की पांच निद्रायें हैं। स्नेह तथा मोह इस प्रकार के दो प्रणय हैं - इनके

परस्पर गुणाकार करने से ३७५०० भिन्न भिन्न प्रमाद के भेद होते है।

सातवें प्रमत्त गुण स्थान का आगे वर्णन करते हैं

इस गुण स्थान में सँज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय की चौकड़ी तथा नव कषाय के उदय रूप प्रमाद से रहित सकलसयंम की प्राप्ति जीवके जिस काल में हो उस काल में वह जीव अप्रमत्त संयम कहलाता है।

भावार्थ—जिसनें ४ सँज्वलन कषाय की चौकड़ी तथा ९ नो कषाय का उदय जो बतलाया है वह फल देने रूप परिणाम जो है वह प्रमाद को मंद उत्पन्न- करनेकी शक्तिसे रहित होता है। उसको उस कालमें जीव के अन्तर मुहुर्त पर्यन्त अप्रमत्त सयंत नामके सातवें गुण स्थान की प्राप्ति होती है। यहाँ प्रमाद रहित रहने से व्रत गुण शील इनकी पंक्ति रूप से युक्त होता है। तथा सम्यक् ज्ञान रूप उपयोग से युक्त होता है तथा धर्म्यध्यान में जिसकी मलिनता न पायी जावे वह अप्रमत्त सयंत है अर्थात् धर्म्यध्यान में जिसका मन लीन हो वह अप्रमत्त सयंत कहलाता है। अप्रमत्त प्रमाद रहित संयमको कहते है अर्थात जो सकल संयमी हो उसको अप्रमत्त संयमी कहते हैं- अथवा प्रमादरहित सयंम जिसके है उसको सकल सयंमी कहते हैं अर्थात समस्त प्रमाद के भेद जो हैं उनसे जो रहित हैं उनको सकल सयंमी अर्थात अप्रमत्त संयमी मुनि कहते हैं। इसलिये इसको अप्रमत्त संयत कहा जाता है। इस के दो भेद हैं— १ एक स्वस्थान अप्रमत्त २-रा सातिशय अप्रमत्त- यहां पर जो जीव उपशम तथा क्षपक श्रेणी चढ़ने को संमुख नहीं हुआ है उसको स्वस्थान अप्रमत्त संयत कहते हैं तथा जो उपशम तथा क्षपक श्रेणी चढ़ने को सन्मुख हो गया है उसको

सातिशय अप्रमत्त कहते हैं। जो समस्त प्रमाद रहित व्रत गुण से सुशोभित है - सम्यक् ज्ञान से सहित धर्म्यध्यान में लीन है। परन्तु जब तक स्वस्थान अप्रमत्त सयंमी हमेशा जितने काल उसमें उपशम तथा क्षपक श्रेणी चढ़ने को सन्मुख न हो तब तक वह जीव स्वस्थान अप्रमत्त वाला कहलाता है। अब आगे उसी सातिशय अप्रमत्त का विशेष रूपसे वर्णन करते हैं। वहां वह जीव समय समय प्रति अनन्त गुण विशुद्धता से वृद्धि को प्राप्ति हो और मन्द कषायी हो उसका नाम विशुद्धता है। यहा प्रथम समय की जो विशुद्धता कही है उससे दूसरे समय की विशुद्धता अनन्त गुणी है। इससे तीसरे समयकी विशुद्धताअनन्त गुणी है। इसप्रकार समय समयमें विशुद्धता बढ़ती जाती है। इस प्रकार जो वेदक सम्यक् दृष्टि अप्रमत्त गुण स्थान वर्ती जीव है। वह प्रथम ही अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी का अधः करण आदि तीन करणों के प्रभाव से विसंयोजन करता है।

प्रश्न—विसंयोजन क्या करता है ?

समाधान वह अन्य प्रकृति के परिणाम रूप जो संक्रमण कहा है उसके विधान से यहाँ इस अनन्तानुबन्धी कषाय की चोकड़ी के जो कर्मरूप पुद्गल परमाणु हैं उनको १२ कषाय तथा नो कषाय रूप परिणामाता है। इस प्रकार यहां विसंयोजन होता है। पुनः पुनः उसके विसंयोजन होता। तत्पश्चात् अन्तर मुहूर्तकाल तक विश्राम करके वहां जैसे का तैसा ही च्युत होता है—पुनः तीन करण से पहले के दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति का उपशम करके द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होता है अथवा तीन करण के प्रभाव से दर्शन मोह के तीन को क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है तत्पश्चात अन्तर मुहूर्तकाल तक वह अप्रमत से प्रमत्त में और प्रमत्त से अप्रमत्त में हजारों बार गमनागमन करके उलट पलट

करता है। तत्पश्चात पुनः समय समय प्रति अनन्त गुण विशुद्धता की वृद्धि सहित २१ चारित्र मोहकी प्रकृतियोंके उपशम करनेको उद्यमीहोता है अथवा उन २१ चारित्र मोहकी प्रकृतियोंके क्षपणको उद्यमीहोता है। परन्तु यहां इतनी विशेषता है कि जो क्षपक श्रेणी के सन्मुख है वह एक क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही है—औपशामिक नहीं। और उपशम श्रेणी के सम्बन्ध में यह दो ही सम्यग्दृष्टि उद्यम करते हैं—अर्थात् उपशम श्रेणी में क्षायिक-सम्यग्दृष्टि तथा द्वितीयोपशमक सम्यग्दृष्टि ये दोही चढ़ते हैं। और क्षपक श्रेणीमें एक क्षायिक सम्यग दृष्टि ही चढ़ने को समर्थ होता है क्योंकि यहाँ समस्त मोहनीय कर्म की २८ प्रकृति का मूल तो नाश किया है। उसमें पहली अनन्तानुबन्धी कषायकी चौकड़ी तथा दर्शन मोहनीय की तीन ऐसे सात प्रकृतियों के नाशसे चौथा गुणस्थान ही होता है। और जो किसी जीव के पहले क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई हो वह जीव इस अप्रमत्त नाम सातवें गुण स्थान में केवली अथवा श्रुत केवली के निकट तीन करण के प्रभाव से उन सात प्रकृतियों का सर्वथा क्षय करके क्षायिक सम्यग दृष्टि होता है। और २१ प्रकृतिका नाश करने को क्षपक श्रेणी चढ़ता है। परन्तु उपशम सम्यग्दृष्टिक्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता है—ऐसा नियम है। इस प्रकार उपशम, क्षपक, इन दो श्रेणियों में जो जीव चढ़ते हैं वह सातवें से अप्रमत हैं। इस प्रकार सात से अप्रमत जीव जो है वह हीं अर्थात् वह जीवही अनन्तानुवन्धी कषायकी चौकड़ी तथा दर्शन मोह के त्रिक विना ही २१ प्रकृति रूप उस चारित्र मोह के उपशम तथा क्षय करने के कारण भूत-वह तीन करण के योग्य परिणाम सम्बन्धी यहां प्रथम ही अधः प्रवर्तन करणको माड़ता है। क्योंकि अपूर्ण करण तथा अनिवृत्ति करण यहाँ पर नहीं होता है। आठवे तथा नवमें गुण

स्थान में वह होगें—इस कारण यहाँ एक अधः प्रवर्तन करण होता है ।

भावार्थ—जिस जीवके पहले क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है । सो तीन करण के प्रभाव से यहां पर क्षायिक सम्यक्त्व को उपजाता है । द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होता है । जो जीव पहला क्षायिक सम्यक्त्वी हो वह तीन करण नहीं करना है । उपशम तथा क्षापक इन दो श्रेणी में एक अधः करणही होना है । यहां जो क्षायिक तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को उपजाता है । इसके पहले तो तीन करण होता है । जब उपशम तथा क्षपक श्रेणी के चढ़ने को सन्मुख होता है तब तो एक अधः करण ही होता है । जो जीव अनन्तानुबन्धी बिना अन्य तीन चौकड़ीकी बारह और नव नो कषाय ऐसी चारित्र मोहकी एक बीस प्रकृतिकको उपशम तथा क्षय करने के अर्थ उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी को चढ़ता है सो वह जीव यहांपर एक अधःप्रर्वतननामा करण करता है । यहाँपरइस अधःप्रर्वनत करण का अर्थ ऐसा है । जिस करण में ऊपर के समय सम्बन्धी परिणाम विकार सहित अन्य जीव के नीचे नीचे के समय सम्बन्धी परिणाम के सदृश हो होते हैं । उस कारण से प्रथम करण का नाम अधः प्रवत्त करण पड़ा है । ऐसा भगवान के परमागम में कहा है—अर्थात भगवान के कहे नियमानुसार ऐसा ही जानना ।

भावार्थ—तीनों करणों के नाम नाना जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा से हैं । वहाँ इस प्रकार की विशुद्धता व संख्याकों लिये किसी अन्य जीवके परिणाम नीचे के समय सम्बन्धी भी जिस करण में होते हैं सो अधःप्रवत्त करण नाम से ज्ञात होता है । अधः से तात्पर्य नीचे के स्थान से लिया जाता है । प्रवृत्त का तात्पर्य परिवर्तन होता है । जिस विषय में

जीव के परिणाम हों उसे करण कहते हैं—इस प्रकार अधः प्रवृत्त करण से मतलब निकलता है। करण का प्रारम्भ होने के पश्चात जो बहुत समय व्यतीत हो गया हो—तथा उसका परिणाम हों जो होताहो तो उसे ऊपर के समय सम्बन्धी जानना चाहिये। तथा जो थोड़ा सा समय व्यतीत हो तो जो परिणाम हो उसे नीचे के परिणाम जानना। सो नाना प्रकार के जीवों के इनकी समता भी होती है। इसको उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

जिस प्रकार दो जीव एक ही कालमें उस अधः प्रवृत्त करण को प्रारम्भ करते है तो एक जीवको द्वितीयादि घने समय व्यतीतहोने पर जिस प्रकार की विशुद्धता सहित जो परिणाम होते हैं—उस प्रकार की विशुद्धता के लिये ही वहां दूसरे जीव के प्रथम समय में भी होता है। इस कारण इसका नाम अधः प्रवृत्त करण ऐसा ही पड़ा। यहाँ पर नाना जीव की अपेक्षा नीचे तथा ऊपर के समय के जीव के परिणाम की विशुद्धता मिल जाती है—जिस प्रकार किसी जीव को अधःकरण को प्राप्त हुये २० समय हुये। वहां पर जो बीस समय के विषय में उसके जितनी विशुद्धता हुई है वहाँ पर उतनी विशुद्धता अन्य किसी जीव के पांचवें विषय भी होती है। इस प्रकार नाना जीव की अपेक्षा नीचो तथा ऊपरके समय की अपेक्षा विशुद्धता किसी जीव के मिल जाती है तो किसी जीवको इस प्रकार की नहीं मिलती है। इसको ही अधः प्रवृत्त करण के नाम से जाना जाता है। इस अधः प्रवृत्त करण के प्रभाव से गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति खण्डन, अनुभाग खण्डन, यह चार आवश्यक होते हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—कि जो पहले कर्म का बन्ध किया था, ऐसा सत्ता में तिष्टता कर्म रूप पुद्गल द्रव्य जो है उसका समय प्रति अनन्त गुणी परिणाम

की विशुद्धता करके जहां पर समय समय में असंख्यात असंख्यात गुणी अनुक्रम पंक्ति बद्ध होकर जो निर्जरा हो सो तो पहिला गुण श्रेणी का निर्जरा नामक आवश्यक बतलाया है। जो पहले अशुभ रूप कर्म प्रकृति का बन्ध किया था—फिर समय समयपर अनन्त गुणी निर्जरा की उसको अनुक्रम से अन्य शुभ प्रकृति रूप परिणाम वैसा दूसरा गुण संक्रमण नामक आवश्यक कहा है। जो पहले जितना प्रमाण को लिये कर्म की स्थिति बन्धी थी फिर परिणाम की विशुद्धता से स्थिति को घटानेसे तीसरा स्थिति खन्डन नाम आवस्यक बतलाया है। जो पहले असाता वेदनीय कर्म को आदि देकर पाप रूप अशुभ कर्म की प्रकृति में विष तथा हलाहल रूप अनुभाग बन्ध किया था। फिर परिणाम की विशुद्धता करके अनुभाग को घटानेसे उसमें नीमू तथा कार्जी रूप रस करता है सो चौथा ही अनुभाग खन्डन नामका ही आवश्यक है। इस प्रकार चार कार्य यहां पर अवश्य होते हैं। इसका अन्त मुंहूर्त काल प्रमाण बतलाया है। यहाँपर तीन करणों में सबसे कम तो अन्तर मुहूर्त काल प्रमाण अनिवृत्ति करण कहा है। इससे असंख्यात गुण अपूर्ण करण काल है। इससे असंख्यात गुण अधः प्रवृत्तकरण काल को बतलाया है। वह भी अन्तर मुहूर्त मात्र ही है क्योंकि अन्तर मुहूर्त के बहुत से भेद होते हैं - इस कारण सबसे थोड़ा अन्तर मुहूर्त प्रमाण इसकाकाल बतलाया है। इस अधः प्रवृत्तकरण के काल में अतीत, अनागत, वर्तमान, त्रिकालवर्ती, नाना जोव की अपेक्षा सेसर्व परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस प्रकार सातिशय से अप्रमत्त जीव का अधः प्रवृत्तनाम प्रथम करण होता है। इस अप्रमत्त संयत गुण स्थानका जघंन्य भी तथा उत्कृष्ट भी काल अन्तर मुहूर्त प्रमाणही बतलाया है।

आठवें अपूर्वकरण गुण स्थानका स्वरूप बतलाते हैं—

इस गुण स्थान में जो सातवें अप्रमत्त गुण स्थान सम्बन्धी अधः-करण का वर्णन किया गया है वह जिस काल में उस अधःप्रवृत्तकरणके अन्तरमुहूर्त प्रमाणकाल को व्यतीत करके फिर अनुक्रम से समय-समय प्रति अनन्तगुण विशुद्धता की दृष्टि करके संयमी हो उस कालमें वह जीव अपूर्वकरण नाम वाला कहलाता है।

भावार्थ—जिस कालमें अधःकरण को व्यतीतकर समय·समय में अनुकम से अनन्त अनन्त गुणी परिणाम की विशुद्धता बढ़ते-बढ़ते जाये उस कालमें जीव के अन्तर मुहूर्त प्रमाण आठवें अपूर्व करण नाम गुण स्थान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अन्तर मुहूर्त काल प्रमाण सातवें अप्रमत्त गुण स्थान के सम्बन्धी उस अधः प्रवर्ती करण को छोड़कर विशुद्ध संयमी होता है इस अपूर्व करण गुण स्थान का आश्रय भी लेता है क्योंकि इस अपूर्वकरणे गुण स्थान में विसदृश अर्थात् समान रूप नहीं है इस प्रकार जो ऊपर ऊपर के समय में स्थिति होते हुये भी जीव जो विशुद्ध परिणाम पाता है वह पूर्व समय के करण के सम्बन्ध में किसी किसी जीव के नहीं होता है। इस प्रकार के विशुद्ध परिणाम की प्राप्ति करता है। इस कारण इसको अपूर्व करण कहते हैं।

अर्थात—जहां अपूर्व रूप है—तात्पर्य यह है कि करण का अर्थ परिणाम में अपूर्व परिणाम को अपूर्वता।

अर्थात—जिसका परिणाम अपूर्व है—उसका नाम अपूर्वकरण गुण स्थान है। वहां जैसे—अधःप्रवृत्तकरणमें ऊपर नीचे के भिन्न-भिन्न समय में तिष्ठते हुए जीव के परिणामों की संख्या तथा विशुद्धता समान रूप जो बतलाई है—उसी प्रकार इस अपूर्व करण गुण स्थान के समस्त कालमें भी किसी भी जीव के अलग-अलग समय में समानता नहीं सम्भव है

तथा एक समय के अन्दर ठहरे हुए जीवके अधः प्रवृत्तकरण के समान यहां भी किसी जीवके तो समानता रूप एक पना सम्भव होता है। तथा किसी के एक पना नहीं होता है इसका कोई नियम नहीं है—ऐसे जानना।

किसी जीव के अपूर्व करण हो, तथा पांचवां समय हुआ हो या उस जीवके उस प्रकार के परिणाम हो, वैसा ही परिणाम जिस जीव को अपूर्ण करण हो, फिर उसी समय चतुर्थ समय पर्यन्त तथा उत्कृष्ट अन्त समय तक काल हुआ हो, उस जीव को कदाचित नहीं होता है—इस प्रकार नियम बतलाया गया है।

ऐसे एक जीवके समान हर एक जीव के परिणाम की समानता भी होती है अथवा असमानता भी होती है। एक जीवके तो और सा परिणाम होता है तथा दूसरे जीवके फिर दूसरे प्रकार का परिणाम होता है। इसका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल बतलाया है। सो अधः प्रवृत्तकरण कालके प्रमाण से असंख्यातवें भाग रूप अन्तर मुहूर्त है। तो भी असंख्यात समय मात्र है। इस अपूर्व करण से सम्बन्धित त्रिकालवर्ती नाना जीव सम्बन्धी विशुद्धता रूप परिणाम जो बतलाये हैं वह सभी अधः प्रवृत्तकरणके जितने परिणाम है उन सबसे असंख्यात लोक गुणे हैं। इससे अधः प्रवृत्त करण के अन्त समय में जो विशुद्धता रूप परिणाम होते हैं उनसे अपूर्ण करण के प्रथम समय से जुदे-जुदे एक-एक परिणाम सम्बन्धी असंख्यात लोक प्रमाण भेद की उत्पत्ति का सद्भाव पाया गया है। इससे अधःकरणके परिणामोंसे अपूर्व करण के परिणाम असंख्यात लोकगुणे हैं पहले अधःप्रवृत्त करणके विषय में चार आवश्यक बतलाये हैं यहां एक गुणश्रेणी निर्जरा दूसरा एक गुण संक्रमण। तीसरा एक स्थिति खण्डन, चौथा एक अनुभाग खण्डन,

इस प्रकार चार आवश्यक जानना चाहिये। वहां पर अपूर्व करण गुणस्थानमें विद्यमान मनुष्य आयु जिसको हो ऐसा अपूर्व करण गुणस्थान वर्ती जीव के प्रथम भागमें एक निद्रा, दूसरी प्रचला; ऐसे दो प्रकार का प्रकृति वन्ध होने से विक्षिप्त रूप होता है। जो जीव उपशम श्रेणी को चढ़ता है। उस जीवके अपूर्व करण का पहला भाग नहीं होता है। इस प्रकार आगम की आज्ञा है। जो अपूर्व करण गुण स्थानवर्ती जीव उपशम श्रेणी में चढ़ता है वह चारित्र मोहनीय कर्म का नियम से उपशम करता है। उसका आदिमें मरण नहीं होता है। उसका अन्तमें मरण ही सम्भव है। जो जीव क्षपक श्रेणी में चढ़ता है सो नियम से उस चारित्र मोहनीय कर्मको क्षपण करता है। अर्थात्—उसको मूल से नाश करता है। इस क्षपक श्रेणी में सर्वत्र नियम से मरण नहीं है। क्योंकि यह केवल ज्ञान को उत्पन्न करता है। इससे क्षपक श्रेणी में मरण नहीं होता है। सारांश यह है कि—

तीसरे मिश्र बारहवें क्षीण मोह तेरहवें-सयोग केवली यह तीन गुण स्थान और उपशम श्रेणी में आठवें अपूर्ण गुणस्थान के प्रथम भाग में तथा दूसरी क्षपक श्रेणी इन जगहों में मरण नहीं होता है। इस प्रकार भगवान ने कहा है। ऐसा अपूर्व गुणस्थान के स्वरूप (आठवें) को बतलाया है।

आगे नववां अनिवृत्ति करण गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं—

पहले आठवें गुण स्थान के स्वरूप का जो वर्णन किया है वह उस काल में अपूर्व करण गुणस्थान के अन्तरमुहूर्त प्रमाण कालको व्यतीत करके फिर अनुक्रम से समय समय प्रति अनन्त गुणी विशुद्धताको प्राप्त होता है। उस कालमें उस जीव को अनिवृत्ति करण है।

जिस कालमें जो जीव आठवें अपूर्व करण गुण स्थान को छोड़कर पुनः

अनुक्रम से समय समय में अनन्त गुणी परिणाम की विशुद्धता को लेकर बढ़ता जाता है। उस काल में वह जीव अनिवृत्ती करण नाम के नववें गुण स्थान को प्राप्त होता है। इस प्रकार अनिवृत्ती-करण गुण स्थान एक समय में वर्तमान जो त्रिकालवर्ती नाना जीव के अपेक्षा से जिस प्रकार शरीर का संस्थान वर्ण आयु अवगाहन, तथा क्षयोपशम रूप ज्ञानोपयोग आदि से परस्पर भेद को प्राप्त होता है उसी तरह इस जीवके परिणामों में जो विशुद्धता बढ़ता जाता हैं उनमे कोई भेद नहीं आता है।

अर्थात्—जिस प्रकार अनिवृत्ति करण गुण स्थान में अनेक जीव के शरीर, संस्थान, वर्ण, अवगाहन, आदि तथा उसके क्षयोपशम रूप आदि के ज्ञान में परस्पर भेदरूप पाये जाये जाते हैं। उसी प्रकार उनके विशुद्ध परिणामों में भेद नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार परिणामोंके अनिवृत्ती करण परिणाम का नाम जाना जाता है।

आगे दशवें सूक्ष्म साम्परा गुण स्थान के स्वरूप को बतलाते हैं—

पहले जो नववें गुण स्थानके स्वरूप का वर्णन किया है वह जिस काल में उस अनिवृत्ति काल को व्यतीत करके पुनः अनुक्रम से समय समय पर अनन्त गुणी विशुद्धता को वृद्धि से युक्त होता हुआ वह जीव जिस प्रकार धोया हुआ कुसुम रंगके वस्त्र के समान सूक्ष्म साम्पराय के भाव को लेकर उसका उस काल में वह जीव सूक्ष्म साम्प्राय वाला कहलाता है।

भावार्थ—जिस काल में जो जीव नवमें अनिवृत्ति करण गुण स्थान को छोड़कर क्रम से समय समय में अनन्त गुणी परिणाम की विशुद्धता को बढ़ता जाता है उस काल में उस जीव को सूक्ष्म साम्पराय नाम दसवें गुण स्थान के समान ही कहा जाता है। क्योंकि इसी प्रकार सूक्ष्म—

साम्परायके गुण स्थान में लोभ रूप कषाय का अंश पाया जाता है। इस कारण इसको लोभ रूप सूक्ष्म सोम्पराय भी कहते हैं। यहां पर कोई मन्द ज्ञानी इस प्रकार कहता है कि मैं कर्म से मुक्त होकर मोक्ष पद की प्राप्ति करूं। इस प्रकार को जिस जीव की भावना होती है—उसका नाम सूक्ष्म लोभ नहीं है। अर्थात वह सूक्ष्म लोभ वाला नहीं कहलाता है। क्योंकि यह तो बहुत बड़ी स्थूल कषाय है। इस कारण इस भाव का नाम सूक्ष्म कषाय नहीं है। गोम्मट सार में इस विषय के बारे में इस प्रकार कहा है कि जिस प्रकार धोया हुआ कुसुम वस्त्र है वह सूक्ष्म लाल रंग से रंगा हुआ है धोने के बाद भी कुछ कुसुम रंग का अंश उसमें झलकता है। वह ही सूक्ष्म साम्पराय नामका गुण स्थान कहलाता है। क्योंकि नववें अनिवृत्ति करण गुण स्थान सम्बन्धी बादर रूप कर्म की शक्ति के परिणाम को, तथा उसका विशुद्ध अनुभाग जो रस है वह अनुक्रम से सूक्ष्म रूप है। इसलिये अनिवृत्ति करण कालके अन्त समयके पश्चात लगातार दसवें सूक्ष्म साम्प-राय गुण स्थान को पाता है वहाँ सूक्ष्म-दृष्टि को प्राप्त हुआ जो लोभ का उदय है उसको अनुभव करते हुये, वह जीव चारित्र मोह का उपशम करने वाला तथा क्षय करनेवाला जो जीव है वही सूक्ष्म साम्पराय वाला है। इसके लिये उदाहरण इस प्रकार है कि—जैसे कंसूमे के रंग में रंगा हुआ वस्त्र है वह धोने के पश्चात भी सूक्ष्म लालरंग से युक्त होता है। उसमें कुछ एक लालरंग की झलक मालूम होती है। उसी तरह जो जीव कोई एक सूक्ष्म राग रूप लोभ कषाय के अंश से युक्त होकर वह सूक्ष्म साम्पराय संयमी कहलाता है। वह इस प्रकार हैं कि जो सामायिक छेदोपस्थापना, तथा संयम की विशुद्धता से अधिक अधिक विशुद्धता रूप होता है। तथा यथा-ख्यात चारित्र से किंचित हीन होता है—अर्थात जिसका साम्पराय

अर्थात लोभ कषाय सूक्ष्म है उसे सूक्ष्म कहते हैं।

भावार्थ—यहां सूक्ष्म साम्पराय से तो नून्यता का बोध होता है। अर्थात साम्पराय, कषाय का नाम है। क्योंकि जिसके अति सूक्ष्म रूप एक लोभ कषाय का उदय हो वह सूक्ष्म साम्पराय है। इस प्रकार इसका अर्थ समझना चाहिये। इस लिये इस दसवें गुण स्थान वर्ती जीव को सूक्ष्म साम्पराय संयमी कहा है। इसके जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर मुहूर्त काल प्रमाण है।

आगे उपशान्त मोह नामक गुण स्थान कहते हैं

पहले जो दसवें गुण स्थान का वर्णन किया गया है—उसमे उपशम श्रेणी वाले जीव जिस काल में उस सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान के अन्तर मुहूर्त प्रमाण काल को व्यतीत करके पुनः क्रम क्रम से समय समय प्रति अनन्तानुबन्धी गुणों की विशुद्धता की वृद्धि से युक्त होकर समस्त मोहनीय कर्मका उपशम करके उस काल में वह जीव उपशान्त मोह वाला होता है।

भावार्थ—जिस कालमें जो जीव उपशम श्रेणी वाला दसवें सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान को छोड़कर पुनः क्रम क्रम से समय-समय में अनन्त गुणी परिणाम की विशुद्धता से समस्त मोहनीय कर्मके उपशम से युक्त होता है उसी कालमें जीवको उपशांत मोह नाम का ग्यारहवां गुण स्थान प्राप्त होता है। इसलिये इसको उपशान्त मोह कहते हैं, इसका दृष्टान्त इस प्रकार है—

जिस प्रकार कतक फल का चूर्ण मिश्रित जल है वह मल रहित उज्ज्वल होकर उसका जो कीचड़ है, जैसे वह कीचड़ नीचे दब जाता है या जैसे मेघ पटल से रहित जो शरद काल में—सरोवर का पानी अत्यंत

निर्मल रूप दिखाई देता है। इसी प्रकार समस्त मैलसे उपशान्त हुआ जो मोहनीय कर्म है—उसको उपशान्त मोह कहा जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल की स्थिति अन्तर मुहूर्त काल प्रमाण है।

क्षीण मोह गुण स्थानके स्वरूप को बतलाते हैं

पहले के दसवें सूक्ष्म साम्पराय नामका गुण स्थान जो बतलाया है इसमें दूसरी क्षपक श्रेणी वाला जीव किस कालमें उस सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान के अन्तर मुहूर्त कालको व्यतीत कर पुनः क्रम-क्रमसे समय-समय प्रति अनन्त गुणी परिणाम के विशुद्धता को प्राप्त होता है। तब वह समस्त मोहनीय कर्मको जड़से नाश कर उस कालमें वह जीव क्षीण मोह-नामके गुण स्थान को प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिस काल में वह जीव क्षपक श्रेणी वाले दसवें गुण स्थान को छोड़के पुनः अनन्तगुणी परिणाम की विशुद्धतासे प्रकृति-स्थिति-अनुभाग प्रदेश इस प्रकार चार प्रकारके समस्त मोहनीय कर्म के बन्धका नाश करता है। उस काल में वह जीव क्षीण मोह नाम के गुण स्थान को प्राप्त होता है। इसलिये इस गुण स्थान को क्षीण मोह कहते है। अथवा-क्षीण का अर्थ प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश—इस प्रकार की चार कर्मरूपी शक्ति से रहित होकर जो मोहनीय कर्मकी प्रकृतिका नाश किया गया है—उसको क्षीण मोह वाला कहते हैं। इसका दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार स्फटिक मणि के पात्र में रखा हुआ कीचड़ से रहित जल निर्मल होता है इसी प्रकार जिसके समस्त मोहनीय कम का नाश होने से अत्यन्त उज्ज्वल अर्थात निर्मल चित्त जिसका है वह क्षीण कषाय गुण स्थान वर्ती जीव कहलाता है। उसका नाम ही परमार्थ से निर्गन्थ है अथवा

इसी तरह उपशान्त मोह भी यथाख्यात चारित्र का श्रवण कर उसके समान ही निर्ग्रन्थ है इस प्रकार गोम्मटसार में कहा है—

भावार्थ—उपशान्त कषाय वाले जीवको तो मोह उदयका अभाव है परन्तु इसका सत्व विद्यमान है । क्षीण कषाय वाले जीवने इसको उदय तथा उसकी सत्ताको भी सर्वथा नष्ट कर दिया है । इसलिये इसको निर्ग्रन्थ कहते हैं अर्थात इस जीव को निर्ग्रन्थ कहते हैं परन्तु उन दोनों के परिणाम में कषाय का अभाव है—क्योंकि इन दोनों के यथाख्यात चारित्र समान रूप हैं । इसलिये इन दोनों को वाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वतलाया है । इसका जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर मुहूर्त वतलाया है । आगे—

सयोग केवली गुण स्थान के स्वरूप का वर्णन करते हैं

जहाँ पहले १२ वें क्षीण मोह गुण स्थान को वर्णन किया है वह जिस काल में उस क्षीण मोह गुण स्थान के अन्तर मुहूर्त प्रमाण काल में चार घातिया कर्म के नाश से केवल ज्ञान से युक्त होता है वह जीव संयोग केवलीकहलाता है ।

भावार्थ—जिस काल में जो जीव १२ वें क्षीण मोह गुण स्थान को छोड़कर पुनः केवल ज्ञान से युक्त होता है उस काल में जीव को संयोग केवली नाम का गुण स्थान प्राप्त होता है । क्योंकि यहाँ पर चार घातिया कर्मों का नाश होने से योग सहित केवल ज्ञान को प्राप्ति किया है । इसलिये इसको सयोग केवली नाम दिया है अथवा जो योग से सहित हो वह सयोग कहलाता है । और परके विना सहायता प्राप्त किये क्षायिकरूप केवल ज्ञान दर्शन से सहित हो वह सयोग केवली कहलाता है ।

अर्थात यहाँ सनाम तो सहित का वतलाया है। और योग नाम मन-मन वचन-काय को वतलाया है। तथा केवली नाम एक क्षायिक ज्ञान का है। इसलिये जो जीव मन वचन काय की क्रिया से सहित हैं वह केवल ज्ञानी है—तथा सयोग केवली उसको ही कहते हैं। अथवा—जिसने घातिया कर्मों का निर्मूल नाश किया है वह सयोग केवली जिन है। उनके चार घातिया कर्मके नाश होनेसे क्षायिक सम्यक्त्व-चारित्र, ज्ञान,दर्शनदा, दान लाभ मोह, भोग, उपभोग वीर्य ऐसी नव प्रकारके क्षायिक लब्धि प्राप्त की है। इसलिये इन्हे सयोग केवली जिन भी कहते हैं।

भावार्थ—जो अपने केवल ज्ञान से समस्त त्रिकालवर्ती अनेक पर्यायों को जानता है। पुनः अपनी दिव्य ध्वनि से अनेक भव्य जीव के अज्ञान रूप अंधकार को दूर किया है और समस्त चराचर वस्तुको जाना है वह ही सयोग केवली कहलाता है। इस विशेषण से सयोग केवली भगवान के परोपकार स्वरूप ही है। इस प्रकार सयोग केवली भगवान का यह विशेषण सहित प्रभाव वतलाया है। और जो भगवान के सुख रूप सम्यक चरित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपयोग, वीर्य इस प्रकार के नव क्षायिकरूप जो हैं वे केवल लब्धिके समान ही कहलाते हैं—अर्थात वे लब्धि के समान ही प्रतीत होते हैं। इन केवल लब्धियों को प्रकट होने के वाद जो परमात्म नाम जो संज्ञा है वह सयोग केवली में—इस विशेषण से भगवान अरहन्त परमेष्ठी के अनन्त ज्ञान आदि रूप के जो लक्षण हैं वह उनका निजी स्वार्थ रूप धन यानि उसकी स्वनिजात्माकी सम्पति है। इस-लिये योग से सहित केवली भगवान जो हैं वह ही सयोग केवली कहलाते हैं। इस प्रकार अनादि निधन ऋषियों के द्वारा चलित आगम में भी वत-लाया है कि—

इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हैं तथा उत्कृष्टपन से अन्त मुहूर्त सहित ८ वर्ष कम १ कोड़ी पूर्व प्रमाण काल बतलाया है। इस प्रकार सयोग केवली गुण स्थान का वर्णन किया।

आगे अयोग केवली गुणस्थान वाले का स्वरूप बतलाते हैं।

जो पहले तेरहवें सयोग केवली के गुण स्थान का वर्णन किया गया है वह उस काल में उस तेरहवें गुण स्थान में योग का नाश करके अर्थात् अयोगी होकर उसी काल में सम्पूर्ण कर्म का नाश कर वही जीव ही अयोग केवली बनता है ।

भावार्थ—जिस काल में जो जीव तेरहवें सयोगी गुण स्थान को छोड़कर योग रहित होता है तब उसी समय वही जीव शेष अघातिया कर्मों को नष्ट करके अयोग केवली गुण स्थान के स्वरूप को प्राप्त करता है। क्योंकि वहां पर जो १८ हजार शील के भेद बतलाये हैं उसके स्वामित्व को जिसके स्वरूप ने प्राप्त किया है अर्थात् जिस जीव ने प्राप्त किया है— पुनः मन, वचन, काय की क्रिया का निषेधकर समस्त आस्रव को जानकर जो नवीन कर्दम रूप रजसे सर्वथा रहित है वही अयोग केवली सिद्ध पद को प्राप्त करता है—इसलिये इसके अन्दर कोई भी योग न होने के कारण यह अयोग केवली सिद्धभगवान कहलाते हैं। अथवा मन, वचन, काय रूप योग को जिसने नाश किया है उसको अयोग केवली भगवान की उपाधि दी जाती है अर्थात वह केवली भगवान कहलाते हैं। यहां अ नाम को रहित बतलाया है। योग नाम मन, वचन, काय की क्रियाका है। केवली नाम जो है वह क्षायिक ज्ञान को बोध कराता है। इसलिये जिस जीव ने मन, वचन, काय की क्रिया से रहित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त किया है उसको ही अयोग केवली कहा जाता है। अथवा इसको अयोग केवली

विन भी कहा जाता है। क्योंकि वहां योग विद्यमान नहीं है वह ही अयोग है। इसका अ इ उ ऋ ऌ इस प्रकार के इन पंच अक्षर को उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय में ही वह केवली काल मात्र ही है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त काल भी बहुत है। वहां जघन्य अन्तर्मुहूर्त एक आवली प्रमाण है तथा वह सबसे कम है। पुनः इससे एक एक समय अधिक आवली से लेकर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त में से एक समय कम उसकी ऐसी बीच के अनेक भेद रूप मध्यम अन्तर होता है। पुनः दो घड़ी में से एक समय कम जो वह उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है इसलिये इसकी मध्यम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल की स्थिति कही है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आदि अयोग केवली तक १४ चौदह गुण स्थान का जो वर्णन किया है वह सभी विभाव पर्याय हैं—आत्माका स्व-भाव नहीं है--क्योंकि यह तो मोहनी कर्म के उदय तथा योग की उत्पत्ति के निमित्त से होता है। इन समस्त चौदह गुण स्थान के धारी कर्म कों सहित लिये हो वह संसारी जीव है जिसने समस्त आठों कर्मों का नाश कर दिया है— वह गुण स्थान रहित भगवान सिद्ध परमेष्ठी मुक्त जीव है इस प्रकार चौदह गुण स्थान वर्ती समस्त संसारी जीव हैं। इस प्रकार समझना आवश्यक है।

आगे इन चौदह गुण स्थान को चढ़ाने तथा उतारने वाले मार्गको बतलाते हैं।

प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थान से ऊपर चढ़ने के चार मार्ग हैं। क्योंकि वहाँ इससे नीचे गुण स्थान नहीं है। और यह सब की आदि में है। अतः इसके उतरने का कोई मार्ग नहीं है। वहां पर कोई मिथ्यादृष्टि जीव तो उस मिथ्यात्व गुण स्थान के विषय में ही तीन करण को मांडकर दर्शनमोह

का त्रिक और अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी इन सात प्रकृतियों का उपशम करके चौथे असंयन सम्यग्दृष्टि नामक गुण स्थान में चढ़ता है। पुनः कोई जीव वहाँ मिश्र प्रकृति के उदय होने से वह तीसरे मिश्र गुणस्थान में चढ़ता है। पुनः कोई जीव उन सात प्रकृतियों का और दूसरी अप्रत्याख्यान कषाय की चौकड़ी, ऐसी ग्यारह (११) प्रकृति का क्षयोपशम होने से वह पांचवें देशसंयत गुणस्थान में चढ़ता है। तत्पश्चात् कोई जीव दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी की १, अप्रत्याख्यानी २, प्रत्याख्यानी ३, रूप चौकड़ी की बारह ऐसी पन्द्रह प्रकृति का क्षयोपशम कर के चार संज्वलन और नौ कषाय के देशघाती स्पर्द्धकों का अति मन्द उदय होने से सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान में चढ़ता है। ऐसे मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर चढ़नेके ये चार मार्ग हैं। क्योंकि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में सातवें गुणस्थान से ऊपर चढ़ने के भाव नहीं होते। पुनः दूसरे सासादन और छठे प्रमत्त संयत इन दो गुणस्थानमें नीचे से कोई जीव नहीं चढ़ता है। इसलिये पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के ऊपर चढ़ने ही के चार मार्ग कहे हैं, इससे अधिक नहीं।

भावार्थ—पहले मिथ्यात्व गुणस्थानसे निकलकर कोई जीव तो तीसरे गुणस्थान में जाता है। कोई जीव मिथ्यात्व से निकलकर चौथे गुणस्थान में जाता है और कोई जीव मिथ्यात्व से निकलकर पांचवें गुणस्थान में जाता है तथा कोई जीव मिथ्यात्व से निकलकर सातवें गुणस्थान में जाता है, इसके आगे नहीं। ऐसे मिथ्यात्व गुण स्थानसे निकलकर तीसरे, चौथे, पांचवें तथा सातवें इन चार गुणस्थानों में ही गमन होता है। इस प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के चार मार्ग हैं। पुनः दूसरे सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले जीवों के नीचे उतरने को एक मार्ग है। क्योंकि यह सासा-

दन से नीचे उतरकर एक मिथ्यात्व में ही पड़ा है। वह ऊपर नहीं चढ़ता। इसलिये दूसरे सासादन गुणस्थान का एक ही मार्ग है। पुनः तीसरे मिथ्यात्वगुण स्थान के दो मार्ग हैं। क्योंकि मिश्र गुण स्थान से चढ़े तो एक चौथे गुणस्थान में ही जाय इससे आगे नहीं। और जो तीसरे से नीचे गिर जाय तो एक पहले मिथ्यात्व में ही आयेगा, दूसरे सासादन में नहीं। इसलिये इसका दो ही मार्ग कहा है। इस प्रकार तीसरे मिश्रगुणस्थान के दो मार्ग हैं। पुनः चौथे अव्रत सम्यग्दृष्टि के पाँच मार्ग हैं। चौथे से ऊपर यदि चढ़े तो सातवें तथा आठवें में जाय और चौथे से यदि नीचे गिर जाय तो पहले में, दूसरे में अथवा तीसरे गुणस्थान में आता है। इसलिये इसके चार मार्ग हैं। पुनः पांचवें देश संयत गुणस्थान के पांच मार्ग हैं। इसके ऊपर चढ़े तो सातवें गुणस्थान में जायगा और पांचवें से नीचे गिर जाय तो पहले मिथ्यागुण स्थान में, दूसरे सासादन में, तीसरे मिश्र में अथवा चौथे सासादन में आता है। अतः इसके पांच मार्ग हैं। पुनः छठे प्रमत्त संयत के छह मार्ग हैं। छठे से यदि ऊपर चढ़े तो सातवें गुणस्थान में जायगा और जो छठे से नीचे गिर जाय तो पहले में, तीसरे, चौथे तथा पांचवें में आता है। अतः इसके छह मार्ग हैं। ऐसा छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान के छह मार्ग हैं। पुनः सातवें अप्रमत्त संयत के तीन मार्ग हैं। सातवें से ऊपर यदि जीव चढ़े तो वह एक आठवें में आता है और नीचे गिरने पर छठे में आता है, मरण करे तो चौथे अव्रत में आता है। अतः इसके तीन मार्ग कहे गये हैं। पुनः आठवें अपूर्वकरण के तीन मार्ग हैं। इस आठवें से अगर ऊपर चढ़ जाय तो नवमें गुणस्थान में जाता है, पर नीचे गिर जाय तो छठे में आता है। कदाचित् मरण हो जाय तो चौथे अव्रत गुणस्थान में आता है। अतः इसके भी तीन मार्ग कहे गये हैं। पुनः

नवमें अनिवृत्तिकरण के तीन मार्ग हैं। इस नववें गुणस्थान से अगर ऊपर चढ़े तो दशवें गुणस्थान में जाता है पर नीचे गिर जानेसे आठवें में आता है, किन्तु मरण करना हो तो चौथे अव्रत गुणस्थानमें आता है। अतः इसके भी तीन मार्ग कहे गये हैं। दशवें सूक्ष्मसाँपराय के भी तीन मार्ग हैं। दशवें से ऊपर चढ़े तो ग्यारहवें गुणस्थान में आता है, नीचे पड़ जाय तो नववें में आता है तथा मरण करे तो चौथे अव्रत गुणस्थान में आता है। अतः इसके भी तीन मार्ग हैं। पुनः ग्यारहवें उपशान्त गुणस्थान वाले के दो मार्ग हैं। अगर ग्यारहवें से नीचे गिर जाय तो दशवें में आता है। पर यदि आयु के क्षय हो जाने से मरण हो जाय तो चौथे अव्रत गुणस्थान में आता है। तब यह ऊपर नहीं चढ़ कर केवल नीचे ही पड़ा रहता है। अतः इससे नीचे उतरने के दो ही मार्ग हैं।

भावार्थ—सातवां अप्रमत्त, आठवाँ अपूर्वकरण, नववां अनिवृत्ति करण तथा दशवां सूक्ष्मसांपराय। इन चार गुणस्थानोंमें उपशम श्रेणीवाले जीवों की तो तीन-तीन चाल हैं इससे यदि उपर जाय तो अनुक्रम से एक एक गुणस्थान में चढ़ना है। नीचे पड़ जाय तो एक एक ही गुणस्थान में अनुक्रम से नीचे उतरना है और इससे यदि नीचे पड़ जाय तो क्रम से नीचे नीचे उतरता आता है। और मरण करना हो तो वह चौथे अव्रत गुणस्थान में आकर करता है। अतः इनके भी तीन तीन मार्ग कहे गये हैं। पुनः ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थानवाले जीवके उपर चढ़ने का तो अभाव ही है। अतः वहाँ अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् नियम से चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होता है। और वहाँ आयु के क्षय से मरण भी होता है। अतः यह ऊपर न चढ़कर नीचे उतरता है। इस प्रकार उपशान्त मोहवाला नीचे गिर जाय तो दशवें में तथा वह मरे तो चौथे में आता है। इस

प्रकार नीचे उतरने के दो मार्ग हैं। पुनः दूसरी क्षपक श्रेणीवाला जीव अनुक्रम से एक एक गुणस्थान ऊपर चढ़ता है पर वह नीचे नहीं गिरता। इससे यह चार घातिया कर्मों को नाश करके केवल ज्ञान को प्राप्त करता है। अतः इसके ऊपर चढ़ने का ही मार्ग है, नीचे का नहीं। अर्थात् सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में क्षपक श्रेणी को मांड़ कर अनुक्रम से एक एक गुणस्थान ऊपर चढ़ता है। सो प्रथम तो उस सातवें आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में जाता है। पुनः आठवें से पुनः नववें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में जाता है। पुनः नववें से दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में जाता है। तत्पश्चात् दशवें से फिर एक बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानमें ही जाता है। यह ग्यारहवें उपशान्त मोह के विषय में नहीं जाता। क्योंकि वहाँ एक उपशम श्रेणीवाला ही जाता है। अतः क्षपक श्रेणीवाला दशवें से बारहवें में जाता है, ग्यारहवें में नहीं। पुनः बारहवें में फिर एक सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान में ही चढ़ता है। ऐसा क्षपक श्रेणीवाला जीव अनुक्रम से एक एक गुणस्थान ऊपर चढ़ता है नीचे नहीं पड़ता। तथा वह मरण भी नहीं करता है। अतः दूसरी क्षपक श्रेणी के विषय में ऊपर चढ़ने का एक ही मार्ग कहा है।

पुनः तीसरे सयोग केवली गुणस्थान का भी एक मार्ग है। क्योंकि इससे यह तेरहवें गुणस्थानको छोड़कर एक अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में जाता है तब वह नीचे नहीं पड़ता और उसमें मरण भी नहीं होता। इसलिये इसका मार्ग एक ही कहा गया है। पुनः चौदहवें अयोग-केवली गुणस्थानवाला जीव उस गुणस्थान को छोड़कर सिद्ध पद में जाता है, अन्यत्र नहीं। इसलिये इसका ऊर्ध्वगमन होना ही एक मार्ग है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आदि अयोग केवली तक चौदह गुणस्थानमें चढ़ने उतरने

रूप संसारी जीव का गमन होता है। उसमें मिश्र, बारहवें क्षीणमोह, तेरहवें सयोग केवली, ये तीन गुणस्थान और क्षपक श्रेणी इन चारोंमें नियम से मरण नहीं होता। इसके अलावा अन्यत्र मरण सम्भव है।

भावार्थ—तीसरे, बारहवें, तेरहवें इन तीन स्थानों में नियम से मरण नहीं होता है। किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य ग्यारह स्थानों में जीव मरण करता है, परन्तु मरण करके जब वह दूसरी गति में जाता है तब वहां उसकी विग्रहगति में मिथ्यात्व, सासादन, अविरत इन तीन गुणस्थानों में मरण होता है। अन्यत्र नहीं। इससे पंचम आदि ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम श्रेणीवाला जीव मरण तो करता है, किन्तु मरण करते ही दूसरे समयमें उसके एक चौथा अविरत गुणस्थान होता है। वहां से संयम भावना नहीं रहती। इससे विग्रहगति में संयम के प्रतिपक्षी जो अप्रत्याख्यान कषाय उनका उदय पाया जाता है। इसलिये विग्रहगति में जीवको संयमरूप भाव नहीं होता है। पुनः जो जीव मिथ्यात्व में मरण करता है उसकी विग्रहगति में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं होता है। पुनः जो मिथ्यात्व में मरण करता है उसकी विग्रह गति में पहला मिथ्यात्व गुण स्थान ही पाया जाता है और जो जीव सासादन के भाव से मरण करता है उसके विग्रहगति में दूसरा सासादन गुणस्थान नहीं रहना है। वह पीछे मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। पुनः जो जीव व्रत से रहित सम्यक्त्व से सहित मरण करता है उसके विग्रहगति में भी चौथा अविरत गुणस्थान नहीं रहना है। इसलिये संसारी जीव के लिये विग्रहगति में पहला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान कहे हैं।

भावार्थ—समस्त संसारी जीव के विग्रह गति में पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन, और तीसरा अविरत ये तीन गुणस्थान ही होते हैं, ऐसा

नियम है। इससे हीनाधिक नहीं है। ऐसा भगवान् अर्हन्तदेव ने कहा है। पुनः चौदहवें गुणस्थान में जो जीव मरण करता है वह समस्त संसार का नाश करके मोक्ष चला जाता है। अतः उसको विग्रहगति नहीं होती। इसी प्रकार गोम्मटसार में भी कहा है कि जो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में मरण करता है वह जीव समस्त चारों गतियोंमें जाता है, इसमें कोई बाधा नहीं है, किन्तु वहां इतनी विशेषता है कि देवगति में नवग्रैवेयक तक ही जाता है। इसके आगे नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तर ऐसे चौदह स्थानों में नहीं जाता है। क्योंकि उसमें सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं। अतः देवगति में मिथ्यादृष्टि जीव नवग्रैवेयक तक ही उत्पन्न होते हैं, आगे नहीं जाते। पुनः जो जीव दूसरे सासादन गुणस्थान में मरण करते हैं वे तिर्यंच, मनुष्य, देव, इन तीन गतियों में तो जाते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है, परन्तु सासादन के परिणाम सहित एक नरक गति में नहीं जाते हैं। ऐसा आगम का नियम है। इसलिये दूसरे गुणस्थान का जीव एक नरक गति के विना अन्य तीन गतियों में जाकर उत्पन्न होता है, ऐसा समझना चाहिये। पुनः जो जीव चौथे अविरत गुणस्थान में मरण करते हैं वे जीव पूर्व आयु बाँधकर समस्त चारों गतियों में जाते हैं। इसमें किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं है, किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि नरकगति में पहले नरक तक ही जाते हैं, इसके आगे नहीं। और तिर्यंचगति में भोगभूमि ही जाता है, कर्मभूमि में नहीं।

भावार्थ—जिस जीव ने पहले मिथ्यात्व और चौथे अविरत गुणस्थान को पाकर वहां मरण किया हो तो वह चारों गतियों में जाता है, ऐसा जानना। पुनः पाँचवां१, छठवां२, सातवाँ३, आठवां४, नववां५, दशवाँ६, ग्यारहवां७, ऐसे इन सात गुणस्थान के विषय में जो जीव मरण करता

है सो नियम से एक देवगति में ही जाता है, अन्य तीन गतियों में नहीं। और देवगति में भी वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होता है, अन्य भवनत्रिक में नहीं।

भावार्थ—जो सम्यक्त्व सहित संयमी जीव मरण करता है सो नियम से वैमानिक देवों में ही जाकर उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। पुनः जो जीव चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में मरण करता है वह समस्त अष्ट कर्मों का मूल से नाश करके एक समय में अष्टमी धरणी जो सिद्ध-शिला कही है वहां जाकर तिष्ठता है। जहां से पुनः मरण नहीं होता ऐसा मोक्षपद को प्राप्त करता है। इस प्रकार चौदहगुणस्थान का स्वरूप जानना।

आगे श्री गोम्मटसारजीके अनुसार चौदह मार्गणा अर्थसहित कहते हैं—जैसे उपयोग लक्षणरूप जीव तत्वका वर्णन किया है वैसे ही उस जीव के विषय में गति—१, इन्द्रिय—२, काय—३, योग—४, वेद—५, कषाय—६, ज्ञान—७, संयम—८, दर्शन—९, लेश्या—१०, भव्य—११, सम्यक्त्व—१२, संज्ञी—१३, तथा आहारक—१४, ये चौदह मार्गणायें हैं।

भावार्थ—यहां मार्ग नाम रास्ते का है। इसलिये जिस मार्ग में जीव पाये जावें वह मार्गणा है। ऐसी मार्गणा शब्द की निरुक्ति कही है।

आगे प्रथम गतिमार्गणा के स्वरूप को कहते हैं:—

जिसमें गमन किया जाय सो गति है।

प्रश्न—यदि गमन क्रिया रूप ही गति है तो वह पुद्गल द्रव्य के भी होती है अतः उसकेभी गतिपने का प्रसंग आता है। क्योंकि वे भी गमन रूप क्रिया करते हैं। इसलिये उनके भी गति मार्गणा ठहरेगी?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि गति नाम कर्मके उदय से जो जीवों की पर्याय उत्पन्न होती है सो गति है। ऐसी गति शब्द की निरुक्ति कही है। और वह गति नारक—१, तिर्यञ्च—२, मनुष्य—३, देव—४, ऐसी चार प्रकार की है। उनमें प्रथम नरक गति के स्वरूप को कहते हैं। वहाँ जो जीव नरक गति सम्बन्धी अन्न पानादिक द्रव्य में १, नरक की भूमि रूप क्षेत्र २, काल ३, भाव ४ इन चारों के विषय में कभी रत नहीं होते हैं अथवा जो परस्पर में प्रेम नहीं करते हैं वे नरक गति के जीव हैं तथा अन्य जो पहले भव के वैर-भाव से उत्पन्न हुई क्रोध रूपी अग्निसे नवीन और प्राचीन नार की जीव परस्पर में एक दूसरे को देख कर द्वेष भाव वश लड़ते हैं। यांनी किसी से वैर या द्वेष करके प्रेम-भाव पूर्वक नहीं रहते हैं तथा जो मनुष्य को काय से पीड़ा करे या दुःखादिक की वाधा करे वह नरक है उस नरक बिल में उत्पन्न होने वाला नारक है। नरक गतिका अर्थ पापकर्म के उदयसे नरक में उत्पन्न हुए जो जीव हैं उनको नरक पर्याय या नरकगति कहते हैं।

भावार्थ—जो नरक गति नाम कर्म के उदय से जीवको नरक की प्राप्ति हो वह नरकगति है। आगे तिर्यञ्च गति का स्वरूप कहते हैं :—

वह जिस जीवके विवृत अर्थात् ढकी हुई गूढ़ रूप न हो यानी जो सर्वदा प्रकट रहे तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ऐसी चार संज्ञायें जिनके हों और जो प्रभाव, सुख, दुःख द्वितीय लेश्या की विशुद्धता से हीन रूप हों वह निकृष्ट है। पुनः जिनको हेय उपादेय का ज्ञान नहीं है यानी जो अज्ञानी हैं, नित्य निगोद की अपेक्षा से जिनके अत्यन्त पाप की अधिकता हो और अत्यन्त कुटिल तथा मायाचार रूप परिणाम हो उन्हें तिर्यञ्च कहते हैं। और उनकी जो गति है वह तिर्यञ्च गति है।

भावार्थ—तिर्यंच गति नाम कर्म के उदय से मायाचारी कपट रूप परिणाम संयुक्त जीवके जो तिर्यंच पर्याय प्रगट हो सो तिर्यंच गति है। वे तिर्यंच जीव गोम्मटसार जी में पांच प्रकार के कहे गये हैं। उनमें एक तो सामान्य तिर्यंच १, दूसरा पंचेन्द्रिय तिर्यंच २, तीसरा पर्याप्त तिर्यंच ३, चौथा योनिमती तिर्यंच ४, और पांचवां अपर्याप्त तिर्यंच ५, ऐसे पाँच भेद हैं। अर्थ—जो सभी भेद रूप तिर्यंचों का समुदाय हो सो तो पहला सामान्य तिर्यंच है, जो एकेंद्रियादिक विकल चतुष्क के विना केवल पंचेन्द्रिय ही तिर्यंच हो सो दूसरा पचेन्द्रिय तिर्यंच है, जो अपर्याप्त के विना केवल एक पर्याप्त रूप ही तर्यंच हो सो तीसरा पर्याप्त तिर्यंच है, जो द्रव्यस्त्री वेदरूप तिर्यंचनी हो सो चौथा योनिमती तिर्यंच है, और जो लब्धि अपर्याप्त रूप तिर्यंच हो सो पांचवां अपर्याप्त तिर्यंच है। ऐसे पांच प्रकार के तिर्यंच जीव हैं। इस प्रकार दूसरी तिर्यंच गति है। आगे मनुष्य गतिके स्वरूप को कहते हैं। जो जीव नित्य ही हेय यानी त्यागने योग्य और उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य हेयोपादेय विशेष को जाने तथा मनसा अनेक शिल्प आदि कलाओं में प्रवीण हो अथवा राजा की वस्तु के चिन्तन आदिक में दृढ़ उपयोग हो सो जीव मनुष्य है। और उनकी जो गति है सो मनुष्य गति है।

भावार्थ—जो मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से जीव के मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हो सो मनुष्य गति है। ऐसी इसकी निरुक्ति है। वे मनुष्य जीव गोम्मटसारजी में चार प्रकार के कहे गये हैं। सो जैसे पहले पांच भेदरूप तिर्यंचों का वर्णन किया गया है वैसे ही मनुष्यों का है। परन्तु यहाँ इतना विशेष है कि जो मनुष्य पचेन्द्रिय भेद से हीन है। अतः मनुष्य सामान्यादि चार प्रकार का है। क्योंकि मनुष्य सभी पचेन्द्रिय

हैं। अतः सामान्य मनुष्य १, पर्याप्त मनुष्य २, योनिमती ३, अपर्याप्त मनुष्य ४, ये चार प्रकार के भेद कहे हैं। वहां जो सभी मनुष्य भेदों के समुदाय रूप पने हो सो तो पहला सामान्य पुरुष है १, जो अपर्याप्त विना केवल एक पर्याप्त रूप ही मनुष्य हो सो दूसरा पर्याप्त मनुष्य है २, पुनः जो द्रव्यस्त्री वेदरूप मनुष्यनी हो सो तीसरा योनिमती मनुष्य है ३, जो लब्धि अपर्याप्त रूप मनुष्य हो सो चौथा अपर्याप्त मनुष्य है ४, ऐसे चार प्रकार के मनुष्य जीव हैं। इसी तरह तीसरी मनुष्य गति कही गई है।

अव आगे देवगति के स्वरूप को कहते हैं:—

जो जीव नित्य ही मेरु, कुलाचल पर्वत तथा द्वीप समुद्र आदि के विषय में दीव्यति यानी क्रीडा करें और वहां मन्दरूप हों। अथवा अणिमा महिमा आदिक जो मनुष्यों को दुर्लभ हैं ऐसी अनेक ऋद्धियों से संयुक्त दिव्य प्रभाव यानी अति दीप्ति से प्रकाशित सप्त धातु मल रोगादिक दोषसे रहित देदीप्यमान महान मनोहर जिनका शरीर है वे देव हैं। इस प्रकार भगवान् के परमागम में देव का स्वरूप कहा। उनकी जो गति है वह देव-गति है। इस प्रकार इसका स्वरूप समझना।

भावार्थ—जो देवगति नामकर्म के उदय से जीवके देव पर्याय प्रकट हो वह देवगति है। इस प्रकार यह चौथी देवगति है। इससे भिन्न पांचवीं मुक्त जीव को जो गति है उसको सिद्ध गति कहते हैं। सिद्ध जीव संसार गति से सर्वथा रहित हैं। उनमें जन्म, जरा और मरण ये त्रिदोष नहीं है तथा अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग शोक, भय आदि विविध भांतिकी वेदना आदि दुःख भी नहीं हैं। इसमें समस्त आठ कर्मों का सर्वथा नाश होने के कारण प्रगट हुई जो सिद्ध पर्याय है वह सिद्धगति है इस सिद्धगति में

संसार की भावना नहीं है। इसलिये संसारी जीवों की अपेक्षा गतिमार्गणा चार प्रकार की कही गयी है। अर्थात् पाँचवीं सिद्धगतिमें मुक्त जीवोंके कर्म का उदय नहीं है। इसलिये इनको गति मार्गणामें ग्रहण नहीं किया गया है। इस हेतु से मुक्त जीवकी भिन्नगति सिद्धगति समझना। अब आगे दूसरी इन्द्रियमार्गणा को कहते हैं:-वहां आत्माका जो चिन्ह है सो इन्द्रिय है। अथवा जैसे ग्रैवेयक आदि में अहमिन्द्र कहे गये हैं वे चाकर ठाकुर के भेदसे रहित में इन्द्र हूं। ऐसे सभी देव अपने आपको इन्द्र मानते हैं। क्योंकि वे जुदे जुदे एक एक इन्द्रिय पर की अपेक्षा रहित हैं और अपने ईश्वरतापने को धरते हैं। इसलिये अहमिंद्र देवोंके समान इन्द्रिय कही है।

भावार्थ—जैसे अहमिन्द्र देव स्वामी सेवक के भेद से रहित हैं यानी वे समस्त रूप से अपने ही आधीन हैं वैसे ये स्पर्शन आदि इन्द्रिय भी अपने पृथक् पृथक् देवों के विषय में पर की अपेक्षा नहीं चाहते। इसलिये इनको इन्द्रिय कहा है। ऐसी निरुक्ति से इन्द्रिय शब्द का अर्थ सिद्ध हुआ है। वे इन्द्रियां दो प्रकार हैं। एक द्रव्येन्द्रिय और दूसरा भावेन्द्रिय। वहां निर्वृत्ति और उपकरण रूप तो द्रव्येन्द्रिय है और लब्धि तथा उपयोग रूप भावेन्द्रिय है। उनमें प्रथम द्रव्येन्द्रिय के स्वरूप को कहते हैं। जाति नाम कर्म का उदय है सहकारीपना जिसके ऐसा शरीर नामक नाम कर्मके उदय से उत्पन्न हुआ जो जीव के निर्वृत्ति उपकरण रूप देह का चिन्ह है सो द्रव्येन्द्रिय है।

भावार्थ—जो जीव के शरीर में यथायोग्य अपने अपने स्थान में पुद्गल द्रव्यरूप इन्द्रिय है सो द्रव्येन्द्रिय है और वह द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति उपकरण के भेद से दो प्रकार है उनमें भी जो अपने अपने आवरणों के क्षयोपशम सहित आत्मा के प्रदेश इन्द्रियों के आकार रूप होकर तिष्ठते हैं सो

सो आभ्यन्तर निर्वृत्ति है और उसी क्षेत्र में आत्मा के प्रदेशों से सहित जो शरीर के प्रदेशोंका जुदा जुदा आकार हो सो दूसरी बाह्य निर्वृत्ति है। अतः एक आभ्यन्तर और दूसरी बाह्य ऐसी दो प्रकारकी निर्वृत्ति कही है। पुनः जो निर्वृत्ति का उपकरण इन्द्रिय है सो उपकरण भी दो प्रकार है। एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। वहां जो इन्द्रिय पर्याप्ति रूप नो कर्म कर्म वर्गणा के पुद्गल स्कन्धो में स्पर्शादिक रूप विषयों के होने में जिनके सहकारीपना होय सो आभ्यन्तर उपकरण है पुनः उसके आश्रयभूत जो शरीर के ऊपर चमड़े आदि होय सो बाह्य उपकरण है। ऐसे दो प्रकार के उपकरण इन्द्रियों के कहे गये हैं।

भावार्थ—जिन शरीर के प्रदेशोंसे इन्द्रियों के विषयों को जाना जाय सो तो निर्वृत्ति है। और जो उसके सहकारी निकटवर्ती हो सो उपकरण है। इसलिये एक निर्वृत्ति और दूसरा उपकरण ऐसे दो प्रकार द्रव्येंद्रिय कहे हैं। और भावेन्द्रिय भी एक लब्धि तथा एक उपयोग ऐसे दोप्रकार है। वहां मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव के उत्पन्न हुई अपने विषय के जानने की शक्तिरूप विशुद्धता तो लब्धि है और जो मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही उत्पन्न जीव के ज्ञान के विषय में अपने विषय को ग्रहण करने के व्यापार में प्रवृत्ति हो सो उपयोग है। ऐसी लब्धि और उपयोग ये दोनों भेद रूप भावेन्द्रिय है। यहां पर भाव का नाम जीव के चेतना रूप परिणाम का है।

भावार्थ—जो जीव के पदार्थ के ग्रहण करने की शक्ति हो सो तो लब्धि है और जो पदार्थ के ग्रहण करने में व्यापार हो सो उपयोग है। सो जैसे किसी जीवके सुनने की शक्ति तो है, परन्तु उसका उपयोग किसी और जगह जाकर लगा रहे तो वह विना उपयोगके कुछ नहीं सुन सकता।

और कोई जीव जानना तो चाहे, किन्तु उसके क्षयोपशम की शक्ति नहीं है तो वह कैसे जानेगा ? अतः लब्धि और उपयोग दोनों के मिलने से विषय का ज्ञान होता है, इनको ही भावेन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार एक एक द्रव्य और दूसरी भाव रूप जो पांच इन्द्रियाँ कही गयी हैं वहां जिन जीवों के एक स्पर्श के विषय में ही ज्ञान हो और वैसा चिन्ह हो तो वे एकेन्द्रिय जीव हैं। पुनः जिनका एक स्पर्श और दूसरा रस इन दो विषय में ज्ञान हो, वैसा ही चिन्ह यदि होय तो वे द्वीन्द्रिय जीव हैं। जिनका एक स्पर्श, दूसरा रस तथा तीसरा गंध इन तीन विषयों में ज्ञान हो, वैसा ही चिन्ह यदि हो तो वे तेइन्द्रिय जीव हैं। जिनको एक स्पर्श, दूसरा रस तीसरा गन्ध तथा चौथा वर्ण इन चारों विषयों का ज्ञान हो, यदि वैसा ही चिन्ह हो तो वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं। और जिनका एक स्पर्श, दूसरा रस, तीसरा गन्ध, चौथा वर्ण, तथा पाँचवां शब्द इनके ज्ञान का चिन्ह हो तो पचेन्द्रिय जीव हैं। ये सभी जीव अपने जुदे जुदे भेद से संयुक्त हैं। इनमें पहली स्पर्शन इन्द्रिय तो अनेक आकार रूप है। जिससे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय तथा द्विन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय समस्त संसारी जीवोंकेशरीर का आकार अनेक प्रकार का होता है। उसमें स्पर्शन इन्द्रिय सभी शरीर के विषय में व्याप्त रहती है। इससे स्पर्शन इन्द्रिय का भी अनेक प्रकार का आकार कहा है। ऐसी पहली स्पर्शन इन्द्रिय विचित्र प्रकार की है। दूसरी जिह्वा इंद्रिय खुरपा के आकार में है। तीसरी घ्राण इन्द्रिय अति मुक्त जो कंदव का पुष्प है उसके आकार में है, चौथी चक्षु इन्द्रिय मसूर की दाल के आकार में हैं और पांचवीं श्रोत्र इन्द्रिय जव की नाली के आकार में है। इस प्रकार इनका पृथक् पृथक् आकार है। उनमें घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाणे आकाश के प्रदेशों को चक्षु इन्द्रिय रोकता है। अतः घनांगुल के असंख्या-

तवें भाग प्रमाण तो चक्षु इंद्रिय की अवगाहना कही है। पुनः इससे संख्यात गुनी श्रोत्र इन्द्रिय की अवगाहना है। संख्यात गुनी घ्राण इन्द्रिय की अवगाहना हैं, इससे संख्यात गुनी जिह्वा इन्द्रिय की अवगाहना है और वह भी घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है। आगे स्पर्शन इन्द्रिय के प्रदेशों की अवगाहना के प्रमाण को कहते हैं। वहां स्पर्शन इन्द्रिय की जघन्य अवगाहना तो सूक्ष्म निगोदियां लब्धि अपर्याप्तक जीवों के उत्पन्न होने से तीसरे समय में जो जघन्य शरीर का प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र कहा है सो ही उसकी जघन्य अवगाहना है। पुनः उत्कृष्ट पने से जो अंत का स्वयंभू रमण समुद्र में राघव नामक महा मच्छ का शरीर संख्यात घनांगुल प्रमाण कहा है सो ही उसकी उत्कृष्ट अवगाहना है। इसलिये स्पर्शन इंद्रिय की संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहना कही हैं। ऐसी एकेंद्रियों की भिन्न भिन्न अवगाहना होती है अथवा जिसको एक इन्द्रिय हैं वह एकेन्द्रिय जीव है। जिसको दो इन्द्रियां है वह दो इन्द्रिय जीव है, जिसके तीन इन्द्रियां है वह ते इन्द्रियां जीव है, जिसके चार इन्द्रियां है वह चतुरिन्द्रिय जीव है तथा जिसके पांच इन्द्रियां है वह पंचेन्द्रिय जीव है। उसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तथा वनस्पति ये पांच स्थावर जीव तो एकेन्द्रिय जीव हैं। पुनः शंख, लट, इत्यादि दो इन्द्रिय जीव हैं, कीड़ी मकोड़ी आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं, भ्रमर मक्खी पतंग आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं तथा मनुष्य, देव नारकी जलचर आदि तिर्यंच पंचेन्द्रिय हैं।

आगे तीसरी काय मार्गना को कहते हैं :—

वहाँ एकेन्द्रिय आदि जात कर्म के उदय से सहित जो त्रस स्थावर नाम कर्मके उदय से उत्पन्न हो वह त्रस और स्थावर पर्याय कहलाती।

भावार्थ—जो पुद्गल स्कन्ध सम्बन्धी जीव की पर्याय उत्पन्न हो वह काय है और वह पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय वायुकाय, तथा वनस्पतिकाय के भेद से पांच प्रकार का है। यह पांच और एक त्रस ये दोनों मिलकर षट्काय जीव हैं। और जो जीव भयादिक से उद्विग्न रूप हो, भागने आदि क्रिया से संयुक्त हो, उसे त्रसकाय कहते हैं। पुनः जो जीव भयादिक से हलन चलन क्रियासे रहित हो वह स्थावर काय जीव है। अथवा जो त्रस नाम कर्मकी प्रकृतिके उदय से जीवकी त्रस पर्याय हो वह त्रस काय जीव है और स्थावर नाम कर्मकी प्रकृतिके उदयसे जीव की जो स्थावर रूप पर्याय हो वह स्थावर काय है। इसलिये ये पांच स्थावर और एक त्रस ये दोनों मिलकर षट्काय जीव हैं। अथवा जो पुद्गल स्कन्ध के संचय रूप से जीवित रहे वह काय है। वह औदारिक आदि शरीर के नाम से प्रतिपादित किया गया है। इसलिये औदारिक आदि शरीर में स्थित हुआ आत्मा की जो पर्याय हो उसको भी उपचार से काय कहा है। इसलिये जीव विपाकी त्रस स्थावर नामकर्म की प्रकृति के उदय से त्रस स्थावर रूप जीव की जो पर्याय हो वह काय है। इस प्रकार व्यवहार की अपेक्षा से कहा गया है और पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म की प्रकृति के उदय से हुआ जो आत्मा का शरीर है उसका यहां काय शब्द से ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति और त्रस ऐसे छह प्रकार के काय हैं, ऐसा समझना चाहिये। अथवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति रूप परिणाम पुद्गल स्कन्ध में से वैसे ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त जीव के शरीर में नियम से होता है। इसलिये पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ऐसा कहा है। अतः यहां जिसका शरीर पृथ्वी है वह पृथ्वीकाय, जिसका जल है वह जलकाय, जिसका

अग्नि है वह अग्निकाय, जिसका वायुमय शरीर है उसे वायुकाय तथा जिसका शरीर वनस्पतिमय है उसे वनस्पति काय कहते हैं। क्योंकि तिर्यञ्च गति एकेन्द्रिय जाति औदारिक शरीर स्थावर काय इत्यादि नाम कर्म की प्रकृति के उदय की अपेक्षा के विना इस प्रकार निरुक्ति सम्भव है। इसलिये पृथ्वी काय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय जीव के नाम हैं। अथवा जो केवल अचेतन रूप पुद्गल परमाणु अपने स्वभाव से ही कठिनता से सहित रूप परिणमन करे वह पृथ्वी है। क्योंकि उसके अन्दर आगामी पृथ्वी जीवादि भेद नहीं पाये जाते। अतः जो सामान्य रूप हो वह पृथ्वी है। पुनः जो कोई जीव अपनी पहली पर्याय को छोड़कर पृथ्वी में उत्पन्न होने के सन्मुख हुआ हो वह जब वहां विग्रहगति में अन्तराल में रहे तब उसको पृथ्वीजीव कहते हैं। क्योंकि वहाँ केवल पृथ्वी जीव है शरीर नहीं। इसलिये उसका नाम पृथ्वी जीव है। पुनः जो जीव पृथ्वीरूप शरीर को धारण करे वह पृथ्वीकायिक है। क्योंकि वहां पृथ्वी जीव तथा पृथ्वी का शरीर ये दो प्रकार पाये जाते हैं। अतः उसका नाम पृथ्वी-कायिक पड़ा। पुनः जो पृथ्वी में से जीव निकल गया हो और उसका शरीर शेष रहा हो वह पृथ्वीकाय है। क्योंकि वहां केवल पृथ्वी शरीर ही पाया जाता है, जीव नहीं। इसलिये उसका नाम पृथ्वीकाय पड़ा हुआ है। इसी तरह पृथ्वी पृथ्वी जीव, पृथ्वीकायिक, तथा पृथ्वी कायके चार भेद एक पृथ्वी कायिक के हैं। पुनः इसी तरह जल, जलजीव, जलकायिक तथा जलकाय ये चार भेद जलकायिक के हैं। इसी तरह अग्नि, अग्निजीव, अग्निकायिक तथा अग्निकाय के चार भेद अग्निकायिक के हैं। इसी प्रकार वायु, वायुजीव, वायुकायिक तथा वायुकाय ये चार भेद वायुकायिक के हैं। इसी प्रकार वनस्पति, वनस्पतिजीव वनस्पतिकायिक तथा वनस्पतिकाय ये

चार नाम वनस्पतिकायिक के हैं। इसी तरह स्थावरकाय के चार भेद कहे गये हैं। इन पाँच प्रकार के स्थावर काय के जीवके जीव विपाकी बादर नाम कर्म प्रकृति के उदय से जो जीव का बादर अर्थात् स्थूल रूप बड़ा शरीर होता है पुनः जीव विपाकी सूक्ष्म नाम कर्म प्रकृति के उदय से जीव का सूक्ष्म रूप छोटा शरीर होता है। इससे बादर सूक्ष्मरूप जो प्रकृति कही गयी है वह जीव विपाकी है। उसके उदय से जीवको बादर सूक्ष्म कहा है। इसलिये उनका शरीर भी बादर सूक्ष्म ही होता है। इस प्रकार बादर सूक्ष्म का लक्षण समझना। वहाँ अपने शरीर मे पर का घात हो या पर के शरीर से अपना घात हो तथा जो अपने से पर को रोके या आप स्वयं रुक जाय तो वह बादर शरीर है। इस प्रकार घातरूप बादर शरीर के धारक बादर जीव कहलाते हैं। क्योंकि कोई पृथ्वी, पर्वत, जल, स्थल आदिका आधार होता है। बादर जीव समस्त आधारवाले हैं संसारमें ऐसा जीव जो कि आप तो किसी का घात न करे और पर से अपना घात न हो तथा जो आप पर को नहीं रोके या पर से आप न रुकें सो सूक्ष्म शरीर है। इस प्रकार आघातरूप सूक्ष्म शरीर के धारक सूक्ष्म शरीर कहे गये हैं। वे आधार रहित स्थित हैं। वह जलमें, स्थलमें, पर्वत में, पृथ्वीमें, वज्रमें, कहीं भी जाय तो रुकेगा नहीं यानी उसमें से वह निकलकर चला जाता है। वह न तो किसी को मारता है, न स्वयं किसी से मरता है, न छेदता है, न अग्निमें जलता है, न पवन से उड़ता है, इस प्रकार सूक्ष्म शरीर के धारी जीव समस्त लोक में अन्त रहित भरे हुए हैं।

भावार्थ—सूक्ष्म रूप पंचस्थावर जीव तो समस्त तीनों लोकों में भरे हुए हैं। इससे तीन सौ तैंतालिस राजू प्रमाण तीन लोक में ऐसा कोई आकाश प्रदेश खाली नहीं है जहां सूक्ष्म रूप पंचस्थावर जीव न हों।

इसलिए सूक्ष्म पंच स्थावर जीव तो सर्वत्र तीनों लोकोंमें पाये जाते हैं और बादर रूप पंचस्थावर तथा त्रस जीव कहीं-कहीं हैं, सर्वत्र नहीं। ऐसा केवली भगवान्‌ने कहा है। पुनः उन बादर रूप पंच स्थावर काय जीवके शरीरकी अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। यद्यपि अवगाहना के जो चौंसठ भेद कहे गये हैं उनमें से कितनेके बादर शरीर से, एक सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना बड़ी है। तो भी जिनका बादर स्वभाव है, वे पर के द्वारा रुक जाते हैं। क्योंकि आधार १ अर्थात् अन्य पुद्गल के आश्रय-रूप जो जीव कहे गये हैं, वे सभी पुद्गल के ही बादर-रूप समझने चाहिये। यद्यपि आधारपने से उनके शरीर का रुकना नहीं होता है तो भी नीचे गिरने रूप जो गमन होता है, उसका रुकना होता है और वही वहां प्रतिघात की सम्भावना है। इसलिये घात-रूप लक्षण सहित ही बादर शरीर है। पुनः जिसके शरीर को अन्य पुद्गल के आधार की अपेक्षा रहित सूक्ष्म-रूप परिणमन हो, वह जीव सूक्ष्म है। यद्यपि वह जीव बादर शरीर की अवगाहना से अधिक अवगाहना-रूप है तो भी वे अपने सूक्ष्म परिणति से समस्त तीनों लोकों में जलस्थल-रूप आधार में गमन करते हुये ऊपर-नीचे कहीं नहीं रुकते। इसलिये उसको सूक्ष्म जीव कहते हैं। बादर जीव तो अल्प शरीर होता हुआ बादर नाम-कर्म के उदय से दूसरे के द्वारा रुक जाता है, पर सूक्ष्म जीव अधिक शरीर से भी सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से वह पर से नहीं रुकता, ऐसा जानना। अथवा यद्यपि बादर अपर्याप्त वायुकायिकादि जीव की अवगाहना स्तोक है, पुनः इससे सूक्ष्म पर्याप्त वायुकायिकादि पृथ्वीकाय पर्यन्त जीव की जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यात गुनी है, तथापि सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय के सामर्थ्य से अन्य स्थूल-रूप पर्वतादिक से भी उनका रुकना नहीं होता है। उसमें से निकल

जाता है। जैसे जल की बूंद वस्त्र से बाहर निकल जाता है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के धारी जीव पर्वतादिक से निकल कर बाहर चले जाते हैं। अर्थात् उसमें नहीं रुकते। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर का स्वरूप जानना। पुनः बादर नाम-कर्म के उदय से अन्य वस्तु से रुकना होता है। जैसे—सरसों वस्त्र से बाहर नहीं निकलना यानी वस्त्र में रुक जाता है। उसी प्रकार बादर देहधारी जीव भी अन्य स्थूल-रूप वस्तु से रुक जाते हैं। इसलिये बादर नहीं निकलते, ऐसा बादर का शरीर जानना। यद्यपि ऋद्धि को प्राप्त हुये मुनि तथा देव का शरीर बादर है, तथापि वे वज्र पर्वत तथा जल पृथ्वी में कहीं नहीं रुकते यानी निकल कर चले जाते हैं। सो यह तप के अतिशय की महिमा है। क्योंकि तप विद्या मणि मन्त्र औषधि के शक्ति के अतिशय की महिमा अचिंत्य है, सो प्रत्यक्ष ही दीखती है। ऐसा ही द्रव्यत्व स्वभाव है। स्वभाव में किसी प्रकार का तर्क नहीं है। अतः इसको समस्त वादी-प्रतिवादी मानते हैं। इससे वस्तु के स्वभाव में तर्क का अभाव है। सो यहां पर अतिशयवान् पदार्थ का ग्रहण नहीं है। अतः अतिशय रहित वस्तु के विचार के विषय में पूर्वोक्त शास्त्र का उपदेश ही बादर सूक्ष्म जीवों का स्वरूप सिद्ध हुआ। इस प्रकार बादर सूक्ष्म-रूप पंच स्थावरकायिक-जीवों का स्वरूप जानना।

आगे पाँचवें वनस्पति काय के विशेष स्वरूप को कहते हैं :—

वहाँ जो वनस्पति-रूप स्थावर नामा नाम-कर्म की उत्तरोत्तर प्रकृति के उदय से जीव वनस्पतिकायिक होता है, वह वनस्पति जीव जो दो प्रकार का होता है। एक प्रत्येक शरीर और दूसरा साधारण शरीर। वहाँ जो एक जीव का नियम-रूप एक ही शरीर हो सो तो प्रत्येक शरीर है और जो एक शरीर में अनेक जीव हों सो साधारण शरीर है।

भावार्थ—जो बहुत जीवों का एक ही शरीर सामान्य रूप साधारण हो सो साधारण शरीर है। यहां एक ही शरीर को अनन्त जीव धारण करते हैं। इससे इसको साधारण वनस्पति कहते हैं। इस प्रकार साधारण रूप शरीर जिनका होय वे साधारण जीव हैं। इस प्रकार तो साधारण वनस्पति का स्वरूप जानना। पुनः दूसरी प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं। एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक और दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येक। वहाँ जो जिनके शरीरके आधार बादर निगोदिया जीव आश्रित होकर रहें वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर है। पुनः जो बादर निगोद आश्रय से रहित हो वह अप्रति-ष्ठित प्रत्येक शरीर है। इस प्रकार प्रत्येक वनस्पति का स्वरूप समझना।

अब वनस्पतिकाय में सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक को दिखाते हैं—वहाँ जिस वनस्पति में तन्तु लीख, धारी सन्धि पौरा नहीं हुई हो यानी जिसको तोड़नेसे समान भंग होता है, तथा जिसमें कोई तन्तु लगे नहीं रहते तथा वे टेढ़े नहीं टूटते, ऐसी वनस्पति साधारण शरीरसहित है। इसलिये इसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। अथवा साधारण के आश्रय से उत्पन्न होने को साधारण भी कहते हैं। पुनः जिस वनस्पति में धागा, कली, कोर सन्धि तन्तु प्रकट हो तथा उसका समभंग न हो और तोड़ने से वह टेढ़ा टूटे तो वह वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक है, क्योंकि यह साधारण शरीर रहित है। इसलिये इसका अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। इस प्रकार सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का लक्षण समझना।

आगे वनस्पति के सात भेद रूप बीज को कहते हैं।

मूल,—पर्व, कन्द, स्कन्द, बीज, सम्मूर्च्छन। ये सात प्रकार के समस्त प्रत्येक वनस्पतियों के उत्पन्न होने वाले बीज हैं।

अब इसके सामान्य अर्थ को कहते हैं:—

यहाँ जो मूल है वह जिस वनस्पति का जीव तथा जड़ से जो बीज हो सो अलग२ होता हुआ मूल बीज है। अग्र—जिसका अग्र भाग ही बीज हो जैसे गेंदा केतकी आदि। उसे अग्र कहते हैं। पर्व—जिसका अग्रभाव गांठ सहित हो ऐसे गन्ने आदि को पर्वबीज कहते हैं।

कन्द—जिसका कन्द रूप आलू, मूली, रताल्, कन्दबीज हो उसे कन्दबीज कहते हैं।

स्कन्ध—जिसे काट कर लगाया जाता है। जैसे गुलाब, वेला आदि उसे स्कन्ध बीज कहते हैं।

बीज—जो वनस्पति बीज से ही उत्पन्न हो, जैसे गेहूं, चना, बाजरा उड़द आम केला इत्यादि उसे बीज कहते हैं।

सम्मूर्च्छन—जो मूल आदि निश्चित बीज की अपेक्षा से रहित पुद्गल स्कन्ध में अपने आप ही उत्पन्न हो जैसे घास, दूब, जड़ी, बूटी आदि वह सम्मूर्च्छन बीज है।

भावार्थ—मूल, अग्र, पर्व, कन्द, स्कन्ध बीज, तथा सम्मूर्च्छन ऐसे सात भेदरूप जो वनस्पति उत्पन्न होती है उसमें हीनाधिक्य नहीं है। अतः इसे सात प्रकार बीज कहा गया। इसी प्रकार वनस्पति की उत्पत्ति जो कही गई है वह सभी प्रत्येक वनस्पति है।

यहाँ अनन्त निगोदिया जीवों का काय पाया जाता है। साधारण शरीर के आश्रित है, प्रत्येक शरीर जिनका वह प्रतिष्ठित प्रत्येक है। पुनः उनके आश्रित नहीं है, प्रत्येक शरीर जिनका वे अप्रतिष्ठि प्रत्येक शरीर हैं। इस प्रकार मूल बीज आदि सम्मूर्च्छन पर्यन्त सात प्रकार की

उत्पत्ति-रूप प्रत्येक वनस्पति जो कही गई है, वह सब एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक और दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येक ऐसे दो अवस्था-रूप होते हैं। यहाँ कोई ऐसा जानेगा कि इनके विषय में एक सम्मूर्च्छन ही जन्म होगा, इससे अन्य और छः वनस्पति के गर्भ आदिक जन्म होगा सो नहीं है। वे सभी सप्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीव सम्मूर्छन तहीं हैं, ऐसा जानना। यहां इतना विशेष और जानना कि चो सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के शरीर की जघन्य भी और उत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र ही है। इसलिये कन्दमूल को आदि करके एक-एक स्कन्ध में असंख्यात असंख्यात प्रत्येक शरीर पाये जाते हैं। वहां एक स्कन्ध में अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवों के शरीर यथा संभव संख्यात अथवा असंख्यात भी होते हैं। उसमें जितने प्रत्येक शरीर हैं, उतने ही प्रत्येक वनस्पति जीव जानना। अतः वहां एक-शरीरके प्रति एक-एक ही जीव के होने का नियम है। इसलिये काकड़ी, खरबूजा, कद्दू, घिया, तुरई, आम, केला, नारंगी, गाजर, मूली आदि एक-एक स्कन्ध-रूप जुदे-जुदे फल के विषय में यथा संभव संख्यात तथा असंख्यात-रूप अनेक प्रत्येक जीव पाये जाते हैं।

भावार्थ—एक-एक स्कन्ध रूप पृथक्-पृथक् आम्र, केला आदि फल के विषय में प्रत्येक जीव भी अनेक पाये जाते हैं। इससे प्रत्येक शरीर की उत्कृष्टपना से भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही अवगाहना कही है। इसलिये आम, केला आदि एक फल के विषय में भी अनेक प्रत्येक जीव रहते हैं, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है। अथवा मूल को आदि देकर बीज पर्यन्त प्रत्येक वनस्पति के बीज में जीव उपजने का आधार-रूप जो पुद्‌गल के स्कन्ध से योनिभूत यानी जिस में जीव उत्पन्न हों,

ऐसी शक्ति संयुक्त हो। उसमें जल अथवा कालादिकों का निमित्त पाकर वह जीव और दूसरे जीव आकर उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—बीज में जो जीव पहले स्थित था वह तो निकल गया और उस बीज में ऐसी शक्ति रही जो उसमें जीव आकर उत्पन्न होते हैं। वहाँ जलादिक का निमित्त होने से पहले जो जीव उस बीज को अपना प्रत्येक शरीर कर पीछे अपनी आयु के नाश से मरण पाकर निकल गया था, वही जीव पुनः उसी अपने योग्य जो मूलादिक बीज कहें हैं। उसी में आकर उत्पन्न होता है अथवा जो वह जीव किसी और स्थान में उत्पन्न हुआ हो तो इस बीज में अन्य और कोई शरीरान्तर में तिष्ठता हुआ जीव अपनी आयु का क्षय होने से वहां मरण पाकर यहां आकर पुनः उत्पन्न होता है, इसमें कुछ विरोध नहीं है। जैसे गेहूं में जो जीव था वह तो निकल गया। पुनः उस गेहूं को खेत में बोने के पश्चात् उसी गेहूं में वही जीव अथवा अन्य दूसरा जीव आकर उपजे सो जब उसमें उपजने की शक्ति हो तो उसको योनीभूत कहते हैं। और यदि उसमें उपजने की शक्ति न हो तो उसको अयोनीभूत कहते हैं।

पुनः जो मूल से लेकर संमूर्छन तक सात प्रकार के बीज से उत्पन्न हुई सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित रूप वनस्पतिकाय प्रसिद्ध है वह प्रथमा-वस्था में जन्मके प्रथम कालसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहते हैं। तत्पश्चात् जब उसमें निगोदिया जीव आश्रय करते हैं तब वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक रूप हो जाता है।

भावार्थ—कन्दमूल आदि प्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित रूप प्रत्येक वनस्पति जो कही गई हैं वे समस्त प्रथम ही उत्पन्न होने के समय में अन्तर्मुहूर्तकाल तक तो प्रत्येक रूप रहती हैं। पुनः अन्तर्मुहूर्त के पश्चात्

सप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं। क्योंकि वनस्पति के उत्पन्न होने के समय में एक शरीर में नियम से एक ही जीव आता है। इसलिये प्रथम अवस्था में तो समस्त वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येकरूप ही उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् जब उसी एक शरीर में अनेक निगोदिया जीव आकर बसते हैं तब वही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक होती है। और जब उसमें से निगोदिया जीव निकलकर चले जाते हैं तब वही वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक रूप होती है, ऐसा जानना।

आगे सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव का वशेष लक्षण कहते हैं :----

जिस वनस्पति के शरीर में शिरा अर्थात् लम्बी लकीर हो जैसे कि ककड़ी में होती है। पुनः सन्धि अर्थात् बीच में छेद हो जैसे कि अनार, दाड़िम, नारंगी तथा संतरा में होना है। पुनः पर्व अर्थात् गांठ हो जैसे कि गन्ने आदि में होती है। इसी प्रकार शिरा, सन्धि, पर्व एक ही अवस्था में जिसके बाहर नहीं दीखे वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है अथवा जिस वनस्पति का समभंग हो अर्थात् जिसको काटकर ग्रहण किया जाय तो उसमें कोई तन्तु लगे नहीं रहते। वह समान यानी बराबर टूटे तथा समान भगरूप हो पुनः महीरुह अर्थात् जिसमें सौंठ के समान तन्तु न हो ऐसी महीरुह रूप हो। फिर छिन्न रुह अर्थात् जो बोनेसे उत्पन्न हो। यानी जो छिन्न रूप होता है। ऐसा एक तो समभंग एक महीरुह, तथा एक छिन्न रुह रूप जो हो उसे साधारण वनस्पति काय कहते हैं। यहां (प्र तिष्ठित पृत्येक वनस्पति के साधारण जीवों के आश्रय की अपेक्षा उपचार से साधारणपना कहा है। क्योंकि साधारण वनस्पतिकाय तो केवल एक निगोद रूप इससे पृथक् हैं। और वह समस्त तीनोंलोक में

अन्त रहित निरन्तर घी के घड़े के समान भरी हुई है। इससे साधारण वनस्पति को पृथक कहा। उसका वर्णन आगे किया जायगा।

भावार्थ—जिस वनस्पति में संधि पौरा प्रगटरूप न हुई हो जिसको तोड़ने से समभंग हो जाय यानी उसमें तन्तु न लगा रहे अथवा वह टेढ़ी न टूटे विलवुल सीधी ही टूटे तथा जो काटी अथवा छेदी हुई भी पुनः उग आवे वह वनस्पति साधारण शरीर सहित है। इसलिये इसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है। इसप्रकार जो सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकाय का लक्षण वर्णन किया है इससे विपरीत सिरा, संधि, पर्व, जिसमें प्रगट हो जाय तथा जिसका समभंग नहीं होय यानी जिसका डंठल टेढ़ा टूटे तथा जिसमें तन्तु लीकधारी कली प्रगट हुई हो सो साधारण शरीर से रहित अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है। और वह आम, नारियल आदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर है। मूल, कन्द, छाल, कोपल पत्र, छोटी टाली, बड़ी डाली; फल; फूल तथा बीज इनका जब समभंग हो जाय तब तो वह अनन्तकाय रूप सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है। पुनः यही वनस्पति के वह एक के पीछे जब उसका संभव नहीं होता है। उसमें तन्तु तथा कलिधारी प्रगट हो जाय, तब वही वनस्पति निगोद रहित अप्रतिष्ठित प्रत्येक रूप होती है। अथवा जिस वनस्पति में कन्द की या मूल की या क्षुद्र शाखा तथा उसके स्कन्ध की छाल पतली हो वह निगोदिया जीव रहित अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। इस प्रकार सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीव का स्वरूप गोम्मटसार में कायमार्गणा के अन्दर कहा गया है।

आगे साधारण प्रत्येक वनस्पति के स्वरूप को कहते हैं :---

साधारण नाम-कर्म की प्रकृति के उदय से निगोदिया शरीर के धारक साधारण जीव होते हैं।

भावार्थ—जीव के साधारण कर्म से जो निगोद शरीर होता है, उसे साधारण शरीर कहते हैं। गोम्मटसार में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है कि जहां नियम से जो अनन्त जीव का योग अर्थात् एक ही क्षेत्र में कहिये जो अवकाश दे वह निगोद शरीर है। इस प्रकार निगोद शरीर के जिसके पाया जाता है, वह निगोद शरीर जीव है। इसका दूसरा नाम साधारण भी है। इसलिये साधारण स्वरूप जिसका हो वह साधारण जीव है। इस प्रकार साधारण वनस्पति के जीव भी पूर्वोक्त सूक्ष्म वादरपना के लक्षण सहित वादर तथा सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के हैं। निगोदिया जीव भी एक वादर तथा सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है। ऐसे वादर तथा सूक्ष्म साधारण शरीर जिनका हो सो साधारण जीव है अथवा जिन जीवों का आहार श्वासोच्छ्वास तथा जन्म मरण एक काल में समान रूप एक से ही हों, वे साधारण जीव हैं। जो साधारण नामक नाम-कर्म के उदय के वशवर्ती साधारण जीव कहे हैं। उनके उपजने के प्रथम समय में जो आहार पर्याप्ति होती है, वह साधारण यानी अनन्त जीवों के युगपत् समान रूप एक काल में होती है। यहाँ आहार पर्याप्ति का ऐसा कार्य जानना। वहां आहार वर्गणा-रूप ग्रहण किये जो पुद्गल स्कन्ध हैं उनको खलरस भाग रूप परिणमाने की शक्ति अनन्त जीवों के समान-रूप एक ही काल में प्रगट होती है और वही यहाँ आहार की पूर्णता है, किन्तु कवलाहार जो मुख में ग्रास ग्रहण करना है, सो नहीं जानना। ऐसी तो पहली आहार पर्याप्ति समान-रूप होती। पुनः उसी आहार वर्गणा-रूप पुद्गल स्कन्धों के शरीर के आकार परिणमावने-रूप कार्य है। जिसका ऐसी शरीर नामा पर्याप्ति जो कही है, सो भी अनन्त जीवों के एक काल में सामान्य होती है। इस प्रकार दूसरी शरीर पर्याप्ति समान-रूप होती

है। पुनः उसी शरीर को स्पर्शन इन्द्रिय के आकार रूप परिणमावना कार्य जिसका है। ऐसी इन्द्रिय पर्याप्ति जो कही है, वह भी अनन्त जीवों के एक काल में होती है। ऐसी तीसरी इन्द्रिय पर्याप्ति समान-रूप होती है। पुनः उसी इन्द्रिय में श्वास के ग्रहण करने रूप है कार्य जिसका सो श्वास पर्याप्ति जो कही है, वह भी अनन्त जीवों के एक काल में सामान्य-रूप होती है। ऐसी चौथी श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति समान-रूप होती है। इसलिये निगोदिया जीव को साधारण कहा है। पुनः एक शरीर में निगोद के अन्तर्गत पहले समय में जो अनन्त जीव स्थित थे। पुनः उसी निगोद शरीर में अन्य दूसरे, तीसरे आदि समय में अन्य और अनन्तानन्त नये जीव आकर उपजें तो वहां जैसे उत्पन्न हुये नये जीव आहारादिक पर्याप्तिपने को धरते हैं, क्योंकि पहले और पिछले अनन्तानन्त जीव एक ही काल में समान-रूप आहारादिक पर्याप्ति को पूर्ण करते हैं। इससे भी इनको साधारण कहते हैं।

भावार्थ जहां एक निगोद शरीर में जिस काल में एक जीव अपनी आयु के नाश से मरण करता है, वहां उसी काल में उसी निगोद शरीर में जिन जीवों की आयु समान है, ऐसे अनन्तानन्त जीव साथ ही एक काल में मरते हैं। पुनः जिस काल में एक जीव वहां उत्पन्न होता है। उसी काल में उस जीव के साथ ही जिनकी समान-रूप स्थिति हो ऐसे अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं ऐसे एक काल में समान-रूप उत्पन्न होना तथा मरने की अपेक्षा साधारणपना जानना। पुनः ऐसे ही द्वितीयादि समय में उत्पन्न हुये जो अनन्तानन्त जीव हैं। उनका भी अपनी आयु के नाश से एक काल में साथ ही मरण होता है और साथ ही वे उत्पन्न होते हैं। वहाँ पर निगोद शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है।

जिससे निगोद शरीर की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोड़ा-कोड़ी सागर की है। इसलिये वह स्थिति जब तक पूर्ण न हो तब तक उस निगोद शरीर में अनन्तानन्त जीवों का ऐसे ही मरण तथा जन्म होता है।

भावार्थ—निगोदिया जीवों की आयु तो अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है और निगोद शरीर की स्थिति असंख्यात कोड़ा-कोड़ी सागर की है। इसलिये निगोद शरीर तो बना ही रहता है, परन्तु उसमें समय सम्बन्धी अनन्त जीव समान आयु के धारक उत्पन्न होते तथा मरते रहते हैं। अथवा यहाँ इतनी विशेषता है कि जो एक बादर निगोद शरीरमें या एक सूक्ष्म शरीरमें अनन्तानन्त कहा गया है। वह केवल वहां एक पर्याप्त ही उत्पन्न होता है, अन्य अपर्याप्त नहीं। पुनः वहां एक शरीरमें केवल अपर्याप्त ही उत्पन्न होता है, पर्याप्त नहीं। इस प्रकार एक शरीर में पर्याप्त, अपर्याप्त ये दोनों ही उत्पन्न होते हैं। इससे उन जीवों के समान-रूप कर्म के उदय का नियम है। इसलिये एक बादर निगोद शरीर में तथा एक सूक्ष्म निगोद शरीर में केवल पर्याप्त तथा अपर्याप्त ही उत्पन्न होगा, दोनों एक साथ नहीं हो सकते। इस प्रकार एक बादर निगोद शरीर में अथवा सूक्ष्म निगोद शरीर में अनुक्रम से बादर निगोद जीव अथवा सूक्ष्म निगोद जीव उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार तीसरे समय से लेकर आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक समय-समय प्रति निरन्तर अनुक्रम से असंख्यात-असंख्यात गुण हीन उस निगोदिया शरीर में जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अन्तर सहित तथा अन्तर रहित निगोद शरीर में उत्पन्न होते हैं और वे सदा प्रथम समय में उत्पन्न हुये जो साधारण जीव का जब जघन्य निर्वृत्ति अपर्याप्त अवस्था का काल अवशेष रहे तब तक इसी तरह उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उस प्रथमादि समय में उत्पन्न हुये सर्वसाधारण जीव के

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास— इस प्रकार इन चार पर्याप्तियों की पूर्णता अपने-अपने योग्य काल में होती है।

आगे वादर निगोदिया जीवों के शरीर की संख्या को कहते हैं :—

यहां इस लोकाकाश में यथायोग्य असंख्यात लोक प्रमाण पुद्गल स्कन्ध रहते हैं।

भावार्थ— इस लोक में असंख्यात लोक प्रमाण तो प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों के शरीरों के स्कन्ध हैं। पुनः उन एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर हैं और उन एक-एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं और उन एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी है। तथा उन एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण वादर निगोद जीवों के शरीर हैं। ऐसे एक-एक वादर निगोद शरीर में अतीत काल के सिद्धों से अनन्तानन्त गुने जीव रहते हैं। ऐसा कथन केवली भगवान्ने किया है।

प्रश्न—जो एक स्कन्ध में तो असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर कहे और पुनः एक-एक अण्डर-अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास को बतलाया है। फिर एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी कहे, फिर एक-एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण ही वादर निगोद जीव के शरीर बतलाये हैं—सो एसा क्यों है?

समाधान :—जो इस प्रकार के अवगाहन की शक्ति है। जिस प्रकार लोक के एक प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु पाये जाते हैं। उसी प्रकार जहां निगोदिया जीव का कार्मण-रूप स्कन्ध है, वहां पर ही अनन्तानन्त कार्मण शरीर जीव के पाये जाते हैं। इसी प्रकार एक-एक अण्डर के विषय में असंख्यात लोक प्रमाण आवास जो कहे हैं वे आवास

भी प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर के अवयव-रूप विशेष ही जानना । सो जैसे हाथ में अंगुली आदि उपांग होता है, वैसे ही एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास होता है। पुनः एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी कहे हैं। वह भी प्रत्येक शरीर के प्रतिष्ठित अवयव-रूप ही जानना चाहिये। सो जिस प्रकार एक अंगुली में रेखा तथो अनादि प्रकार के बहुत से चिह्न होते हैं—उसी प्रकार एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी होते हैं। पुनः एक-एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण बादर निगोद जीव के शरीर जो बतलाये हैं, वह भी प्रतिष्ठित प्रत्येक-रूप विशेष जानना। सो जिस प्रकार एक-एक बड़ी-बड़ी रेखा में और भी अन्य छोटी छोटी रेखायें उसके समीप में होती हैं। उसी प्रकार एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण बादर जीव निगोद के शरीर में होते हैं। इस प्रकार अवगाहन की शक्ति पाई जाती है। इसमें कोई दोष नहीं है— अथवा स्कन्ध का दृष्टान्त तो जम्बूद्वीप आदि के समीप ही जानना। सो जिस प्रकार मध्य लोक में जम्बूद्वीप आदि नाम के द्वीप हैं। उसी प्रकार इस लोक में प्रतिष्ठित प्रत्येक जीव के शरीर के स्कन्ध रहते हैं। पुनः दूसरे अण्डर का दृष्टान्त भरत आदि क्षेत्रों के समान जानना चाहिये। सो जिस प्रकार जम्बूद्वीप में भरत आदि नाम के क्षेत्र पाये जाते हैं—उसी प्रकार एक स्कन्ध में अण्डर रहते हैं। पुनः तीसरे आवासनिका दृष्टान्त कौशल आदि देश के समान जानना। सो जिस प्रकार भरत क्षेत्र में कौशल देश आदि अनेक देश पाये जाते हैं उसी प्रकार एक अण्डर में अनेक आवास रहते हैं। पुनः चौथे पुलविनिका दृष्टान्त अयोध्या आदि नगरी के समान जानना। सो जिस प्रकार एक कौशल देश में अयोध्या आदि नाम की नगरी पाई जाती है, उसी प्रकार एक आवास में अनेक

पुलवी तिष्ठे हैं। पुनः पांचवें वादर निगोद शरीर का दृष्टान्त उस अयोध्या नगरी के गृहादि के समान जानना। सो जिस प्रकार एक अयोध्या नगरी में अनेक महल-मन्दिर आदि पाये जाते हैं। उसी प्रकार एक पुलवी में अनेक वादर निगोद शरीर पाये जाते हैं। इस प्रकार एक पुलवी में अनेक वादर निगोद शरीर पाये जाते हैं। इस प्रकार यह निगोद शरीर को वतलाया तथा दृष्टान्त देकर समझाया सो जानना।

आगे निगोद शरीर की संख्या को वतलाते हैं :—

इस लोक में असंख्यात लोक प्रमाण तो प्रतिष्ठित प्रत्येक जीव के शरीर के स्कन्ध तिष्ठे हैं। पुनः उसमें असंख्यात लोक गुणे दूसरे अण्डर हैं। पुनः उनमें असंख्यात लोक गुणे तीसरे आवास हैं। पुनः उसमें असंख्यात लोक गुणे चौथे पुलवी हैं। पुनः उनमें असंख्यात लोक गुणे पाँचवें वादर निगोद शरीर हैं। वह सवही निगोद शरीर पाँच जगह असंख्यात लोक प्रमाण माडि उनको परस्पर गुणिये। वहाँ जितने प्रमाण हों, उतने ही निगोद शरीर जानना। ऐसा एक निगोद शरीर में वर्तमान काल में निगोदिया जीव अतीत काल के सिद्धों से अनन्त गुणे जानना।

भावार्थ—द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा संख्या करके एक निगोद शरीर में अनन्तानन्त निगोदिया जीव हैं—सो अनादि काल से जितने सिद्ध हुये हैं उनसे अनन्त गुणे हैं। क्योंकि वहां सभी जीवराशि को अनन्त का भाग दीजिये तो उसमें एक भाग प्रमाण तो सिद्ध भगवान है और वह एक भाग प्रमाण भी अनन्तानन्त है। क्योंकि अनन्तके अनन्त ही भेद वतलाये हैं। इसलिये एक भाग प्रमाण भी अनन्त ही है। पुनः अवशेष वहुभाग प्रमाण जो संसारी जीव हैं उनके असंख्यातवें भाग प्रमाण एक निगोद शरीर में जीव विद्यमान है और वह अक्षयानन्त प्रमाण है। ऐसा कथन भगवान के

परमागम में कहा गया है। पुनः उसी प्रकार अतीत काल के समयों से एक निगोद शरीर में अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार काल की अपेक्षा एक शरीर में निगोदिया जीवों की संख्या जाननी चाहिये।

आगे क्षेत्र तथा भाव की अपेक्षा उनकी संख्या कहते हैं :—

वहाँ क्षेत्र की अपेक्षा तो सभी आकाश प्रदेश को अनन्तवें भाग अथवा लोकाकाश के प्रदेशों से अनन्त गुने निगोदिया जीव हैं। इस प्रकार भाव की अपेक्षा से निगोदिया जीवों का प्रमाण कहा गया। इस प्रकार एक निगोद शरीर में द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा निगोदिया जीवों के प्रमाण का स्वरूप जानना।

प्रश्न—जो छः महीना और आठ समय में छः सौ आठ जीव कर्मों का नाश कर सिद्ध होने को कहा है सो तो सिद्ध राशि तो बढ़ती जाय और संसारी जीव घटते जायं तो फिर तुमने सदा काल सिद्धों से अनन्त गुणे एक निगोद शरीर में जीव कैसे कहा? अथवा सभी जीव राशि से अनन्त गुणा अनागत काल का जो समूह है वह यथा योग्यता का अनन्तवां भाग प्रमाण काल व्यतीत हुये संसार राशि का तो नाश और सिद्ध राशि का बहुत्वपना होयगा। इससे सदाकाल एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीवों का प्रमाण सम्भव नहीं है।

उत्तर—तर्क करनेवाले भव्य जीवों का समाधान यह है कि भव्य संसारी जीवों का प्रमाण अक्षयानन्त है, उसे केवली भगवान् ने अपने केवलज्ञान और श्रुतकेवली ने अपने श्रुतज्ञान से ऐसा ही जाना है। सो कि—इसी वस्तुकी सूक्ष्मत तर्क गोचर नहीं है। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम से जो प्रश्न विरुद्ध हो वह तर्क अप्रमाण है। जैसे किसी ने ऐसा

कहा कि अग्नि उष्ण नहीं, क्योंकि वह एक पदार्थ है। वहाँ जो पदार्थ है वह उष्ण नहीं है। यानो जैसे जल उष्ण नहीं है, उसी प्रकार अग्नि भी उष्ण नहीं है। ऐसा तर्क किया, किन्तु यह तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण से बिलकुल विपरीत है। क्योंकि अग्नि प्रत्यक्ष में उष्ण है, इसलिये आप का यह तर्क ठीक नहीं है अथवा किसी ने ऐसा कहा कि जो यह धर्म है वह परलोक में जीवको दुःखदायी है। क्योंकि जो धर्म है, वह पुरुषाश्रित है। वहाँ जो-जो पुरुषाश्रित है, वह परलोक में दुःखदायक है। इस प्रकार जो तर्क करते हैं यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह आगम प्रमाण से बाधित है। क्योंकि आगम में धर्म को परलोक में सुखदायक है, ऐसा कहा है। इसलिये तुम्हारा कहना प्रामाणिक नहीं है। इसी तरह जो केवली का प्रत्यक्ष तथा आगमोक्त कथन है, इससे विरुद्ध में तुम्हारा तर्क प्रमाणभूत नहीं है।

प्रश्न—जो तुमने आगम प्रमाण कहा है, वह तर्क सहित यदि विरोधी आगम हो तो उसे कैसे प्रामाणिक माना जायगा ?

उत्तर—जो प्रत्यक्ष प्रमाण या अन्य तर्क से रहित आगम हो उसके अविरुद्ध से उसमें प्रमाणपना किया है, वह अन्य तर्क जो कहा है, उसे कहते हैं। वहाँ सर्व भव्य संसारी जीव अनन्तकाल से भी क्षय को प्राप्त नहीं होते हैं। इससे यह भव्यराशि भी अक्षयानन्त है। वहाँ जो-जो अक्षयानन्त-रूप है, वह-वह अनन्तकाल से भी क्षय को नहीं प्राप्त होते। जैसे तीनकाल के समय का प्रमाण कहा है, जो तीनकाल के इतने समय हैं। इसलिये इसका इतना ही प्रमाण है, परन्तु उसका कभी भी अन्त नहीं है। अथवा जैसे—सर्व द्रव्य से अगुरु लघु-रूप अविभाग प्रतिच्छेद के समूह का परिमाण जो कहा है, सो इसका इतना ही प्रमाण है। परन्तु उनका कभी अन्त नहीं होता। इसी तरह संसारी जीव का भी

अक्षय अनन्त प्रमाण जानना। ऐसा यह अनुमान से आयी हुई जो तर्क है वह प्रमाण है। इस प्रकार आगम का प्रमाण समझना चाहिये।

प्रश्न—जो अनन्तकाल से भी क्षय को न प्राप्त हो, ऐसा जो अक्षय अनन्त साध्य है, वह अक्षय अनन्त के हेतु से ही दृढ़ किया है। इसलिये यहां हेतु के साध्य समत्व नामक दोष की प्राप्ति होती है।

उत्तर—जो इसी भव्य राशि के अक्षयानन्त के आप्त के आगम से सिद्ध है, इसलिये यहाँ साध्य समत्व नामक दोष का अभाव है। अतः यहाँ किसी प्रकार कोई दोष नहीं है। अथवा अधिक कहाँ तक कहूं, समस्त तत्वों के कथन करनेवाले आप्त भगवान् जो कहे गये हैं उनकी सिद्धि होने से उस आप्त के वचन-रूप जो आगम में सूक्ष्म तथा अन्तरित या दूरवर्ती पदार्थ में प्रमाणता की सिद्धि होती है। इसलिये उस आगमोक्त पदार्थ के विषय में मेरा चित्त निःसन्देह-रूप है। ऐसे एक निगोद में सदा काल सिद्धराशि से अनन्त गुणे जीव समझना चाहिये। अथवा अपने मत के देवों का नमस्कार-रूप स्तवन करने से सामान्य-रूप से सम्भवतः आप्त माना है। पुनः विशेष-रूप से सर्वज्ञ वीतराग परम हितोपदेशक जो एक सयोग केवली नामक तेरहवें गुण स्थानवर्ती स्याद्वादी केवली भगवान् ही आप्त हैं। उनके द्वारा युक्ति करके साधन किया हुआ जो पदार्थ है, वह विस्तार से अन्य जैन-सिद्धान्त न्याय शास्त्र से जानना। इसलिये जैन शास्त्र से ही भली प्रकार आप्त की सिद्धि होती है। ऐसे आप्त के द्वारा प्रतिपादन किये हुये आगम की सिद्धि प्रमाण नय से जानना। अतः आप्तागम से प्ररूपित किये हुये जो तत्व हैं वे आवश्यक प्रमाण मानना चाहिये। ऐसे आगम प्रमाण से एक शरीर में निगोदिया जीव के सिद्धराशि से अनन्तगुणपना सम्भव

है तथा अक्षय अनन्त को भी सर्वमतवाले मानते हैं। क्योंकि वहाँ कोई ईश्वर में अनन्त शक्ति को मानते हैं, कोई स्वभाव में अनन्त शक्ति मानते हैं। इसी प्रकार हमारा कथन भी प्रमाणित है। इसलिये सदाकाल एक निगोद शरीर में अतीतकाल के सिद्धों से अनन्तगुणे निगोदिया जीव पाये जाते हैं। इसमें किसी प्रकार की शंका करना ठीक नहीं है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है। इसी तरह साधारण वनस्पति में निगोद जीव जो कहा गया है, वह दो प्रकार का है। एक नित्य निगोद और दूसरा इतर निगोद। इसका दूसरा नाम चतुर्गति निगोद भी है। उनमें प्रथम नित्य निगोद कहा है। वहां जो इस संसार में जिन जीवों ने अनादिकाल से कभी त्रस पर्याय नहीं पायी है, ऐसे जो अनन्त अनन्त जीव सदाकाल निगोद पर्याय को ही धारण करते हैं, वे जीव नित्य निगोदी हैं। पुनः दूसरे जो इतर निगोद है, वहां जो इससे विपरीत नित्यपने से रहित अनित्य-रूप हो वह इतर निगोद है। इससे इसको इतर निगोद कहा है। जो निगोदी जीव अपने निगोदवास को छोड़ कर चतुर्गति-रूप संसार में परिभ्रमण करके पुनः निगोद में चले जायं वे जीव इतर निगोद हैं।

भावार्थ - जो जीव अनादि काल से निगोद पर्याय को धारण करते रहते हैं। अतः उन्हें नित्य निगोद कहा है। पुनः जो जीव बीच में अन्य और त्रस तथा पांच स्थावर के पर्याय को पाकर पुनः निगोद पर्याय को धारण करते हैं, वे नित्य निगोद के प्रतिपक्षी आदि अन्त को लेकर दूसरे इतर निगोद जीव हैं। इनमें जो जीव के प्रचुर-रूप भाव कलंकी हैं, वे जीव उस निगोद को नहीं छोड़ते। इससे यहां प्रचुर शब्द ग्रहण किया गया है। वह एकोद्देश्य से अभाव-रूप है और सकल अर्थ का वाचक है। इसलिये ऐसा जाना जाता है। जो जिनके भावकलंक थोड़ा हो, वह तो

कदाचित् उस नित्य निगोद् में से निकल कर चतुर्गति में आता है, वह छः माह और आठ समय में ६०८ जीव नित्य निगोद् में से निकलते हैं। पुनः उसी छः महीने आठ समय में ६०८ जीव चतुर्गति संसार से निकल कर मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार एक निगोद शरीर में अनन्त-अनन्त जीवों का प्रमाण जानना। इसलिये सिद्धराशि तो बढ़ती नहीं है और संसार में जीवराशि घटती नहीं है। इससे संसार के चारों गतियों में जहां जितने जीव कहे गये हैं, वहां सर्वदा अतीत ही जीव रहते हैं। और निगोदराशि का अक्षय अनन्त-रूप प्रमाण है। उसका कभी भी अन्त नहीं होता है। इसलिये सिद्धराशि का तो बहुतपना और संसार राशि का अभावपना नहीं होता है।

भावार्थ—साधारण वनस्पति के विषय में निगोद राशि जो कही है, सो अक्षमानन्त प्रमाण राशि है। इसका कभी भी अन्त नहीं होता। यहां अक्षयानन्त राशि का दृष्टान्त ऐसा जानना जैसे पूर्व की दिशा में आकाश में अपनी बुद्धि से गमन करिये और वहां मार्ग में यदि कोई पर्वत आदि कुछ वस्तु आवे तो उसको पृथक् कर दीजिये तो गमन करते-करते पूर्व दिशा का अन्त नहीं आवेगा वैसे ही निगोद जीवों का भी अन्त नहीं होता। ऐसी अक्षयानन्त प्रमाण निगोदराशि तो कही गई है। सो उस निगोद् में छः महीना आठ समय के विषय में छः सौ आठ ६०८ जीव सदा काल निकलते हैं और वहां छः सौ आठ ६०८ जीव छः महीना आठ समय में मोक्ष चले जाते हैं। परन्तु यहां इतना विशेष है कि वहां जो जीव निगोद् में से निकलते हैं, उन्हीं जीवों के मुक्त होने का कुछ नियम नहीं है। क्योंकि और चतुर्गति-रूप संसार राशि में से भी जीव मोक्ष में जाते हैं। इसलिये जो जीव निगोद में से निकले हैं, वे भी मोक्ष में चले

जाते हैं और जो वे जीव त्रस तथा स्थावर राशि में आवें तो और संसार के जीव भी मोक्ष में जाते हैं। अथवा कोई जीव तो उनमें से और कोई जीव राशि में से मुक्ति पहुंचते हैं। ऐसे छः महीना आठ समय में छः सौ आठ (६०८) जीव नित्य निगोद में से निकल कर मोक्षमें जाते हैं। इससे संसार राशिमें जहां जितने जीव कहेहैं, वहां सदाकाल उतने ही जीव पाये जाते हैं, उनमें घटा-बढ़ी नहीं होती, किन्तु अल्टा-पल्टी होती रहती है। वहां तिर्यंच मनुष्य गतिके जीव तो देव नरकगतिमें चले जाते हैं। पुनः देव नरकगति के जीव तिर्यंच मनुष्यगति में चले आते हैं तथा तिर्यंचगति के जीव मनुष्यगति में चले जाते हैं और मनुष्यगति के जीव तिर्यंचगति में चले आते हैं, ऐसी इनके अलटा-पलटी होती है।

भावार्थ—वहां जितने पृथ्वीकायिक जीव कहे गये हैं वे सदा काल उतने ही रहते हैं। पुनः ऐसे ही जल, अग्नि, वायु तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति ये पांच स्थावर अथवा एक वेइन्द्रिय, एक तेइन्द्रिय, एकचतुरिन्द्रिय एक पचेंन्द्रिय तथा एक त्रस ऐसे छह काय के जीवों की जितनी संख्या कही है सो सदाकाल उतनीही संख्या प्रमाण वे जीवरहते हैं। इसलिये संसार राशि का कभी नाश नहीं होगा। सो सदा काल एकही-सी बनी रहेगी। इस प्रकार वनस्पतिकायके साधारण वनस्पति का वर्णन किया।

आगे वनस्पति के समान अन्य जीवोंके विषय में भी सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठितपने के भेद को कहते हैं—

वहां एक पृथ्वी, एक जल, एक अग्नि, एक वायु ऐसे चार प्रकार के तो स्थावर काय के जीवों का शरीर तथा एक केवली भगवान् का शरीर, एक आहारक शरीर, एक देवों का शरीर, एक नारकी जीवों का शरीर ऐसे इन आठों शरीरों के आश्रय बादर निगोद नहीं हैं। जिससे इनमें निगोद

शरीर नहीं पाये जाते। इसलिये यह अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। पुनः इससे शेष रहे जो जीव हैं उनके शरीर में बादर निगोद हैं। क्योंकि वे बादर निगोद जीव से सहित हैं। इसलिये वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक रूप है।

भावार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, आयु, केवली, आहारक देव नारकीये, ऐसे आठ शरीरों में बादर निगोद नहीं हैं, इसलिये इनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है। इससे अवशेष जो एक तो सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति और दूसरी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, तथा पांच इन्द्रिय एवं पहले कहे हुये जो उनके विना अवशेष समस्त मनुष्य के शरीर में बादर निगोद पाये जाते हैं। क्योंकि ये बादर निगोद शरीर से सहित हैं। इनके आश्रय से बादर निगोद स्थित है। इसलिये इसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। और दूसरा सूक्ष्म निगोद समस्त तीनों लोकोंमें अन्त रहित परिपूर्ण है। जिससे इसके आधार की अपेक्षा नहीं है। इसलिये सूक्ष्म, निगोद समस्त तीनों लोकों में भरा हुआ है।

आगे छठे त्रसकाय को कहते हैं—

वहां स्पर्शन तथा रसना ये दो इन्द्रियां जिसके पाई जाती हैं वह इन्द्रिय, स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु ऐसी चार इंद्रियां जिसके पाई जाय सो चौ इन्द्रिय है, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र ये पांच इंद्रियां जिसके पाई जायं सो पंचेन्द्रिय है। इस प्रकार कहे हुये जो जीव हैं वे त्रसकायिक हैं।

भावार्थ—एक द्वीन्द्रिय, एक तेइन्द्रिय, एक चतुरिंद्रिय, एक पंचेंद्रिय ऐसे चार प्रकार के जीवों के एक त्रसकाय है। ये त्रस जीव त्रस नाली में ही रहते हैं इससे बाहर नहीं। अथवा एक तो उपपाद समुद्घात, एक मारणांतिक समुद्घात, एक केवली समुद्घात ऐसे तीन प्रकार के त्रसजीव

त्रस नाली से बाहर भी पाये जाते हैं, परन्तु इससे अन्य और किसी प्रकार कोई त्रस जीव त्रस नाली के बाहर नहीं पाये जाते, ऐसा नियम है। इसलिये त्रसनाली के विषय में त्रस जीव कहे गये हैं।

भावार्थ—जो वर्तमान काल में पर्याय के पहले समय में जीव के नवीन पर्याय की प्राप्ति होती है सो तो उपपाद है और मरण अथवा अन्तिम जो पर्याय है सो मरणान्त है। और वह मरणान्त जब जीव के वर्तमान पर्याय की आयु के अन्त में होने से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल के अवशेष रहने से होता है। उस मरणान्त काल में उत्पन्न हुये जीवों के मारणांतिक समुद्घात यानी आगामी पर्याय के उपजने के स्थान पर्यन्त अपने आत्मा के प्रदेशों को फैलाना मारणांतिक समुद्घात है। पुनः जो केवली भगवान् अपनी आयु का अन्त होने से अन्तर्मुहूर्त पहले दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण ऐसे चार प्रकार अपने आत्मा के प्रदेशों को फैलावें सो केवल समुद्घात है। ऐसा उपपाद रूप परिणाम, मारणांतिक समुद्घात रूप परिणाम, और केवल समुद्घात रूप परिणाम जो त्रस जीव उनके बिना अवशेष स्वस्थान केवली और पांच प्रकार समुद्घात रूप परिणाम में जो जीव थे तथा और सभी त्रसनाली बाह्य जो लोकक्षेत्र कहा है उसमें नहीं पाई जाती है, ऐसा कथन केवली भगवान् ने किया है। अतः जैसी नाली होय वैसी ही जो त्रस जीवों के रहने का स्थान है सो त्रसनाली जाननी चाहिये।

भावार्थ—जो तीन सौ तैंतालिस (३४३) राजू प्रमाण समस्त तीनों लोकों का विस्तार कहा है उसके बीच में चौदह (१४) राजू की तो ऊंची और एक राजू की चौड़ी ऐसी चौकोर रूप एक त्रस नाली है। सो जैसे एक ओखली के बीचमें छेदकर फिर उसमें बाँस की पेली दीजिये वैसे ही

इस तीनलोकरूप औखलीके बीचमें डोली पहली नीचेसे लगाकर ऊपर अन्ततक चौदह राजूकी ऊंची एक त्रसनाली है। जिससे इसमें त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये इसको त्रसनाली कहते हैं। पुनः इससे बाहर तीन सौ उनतीस (३२९) राजू प्रमाण क्षेत्र में त्रस जीव नहीं हैं। वहां सदा काल एकेन्द्रिय रूप पंच स्थावर कायिक जीव ही रहते हैं। इसलिये जिसमें त्रस जीव पाये जांय वही त्रसनाली है, ऐसा यह इसका सार्थक नाम जानना इसलिए त्रसजीव इस त्रसनालीमें ही हैं अथवा जैसे कोई जीव त्रसनाली के बाहर वातवलय में रहता हुआ स्थावरकाय में त्रस आयु का बंध किया और पुनः वही जीव अपनी पहली वायुकायिक रूप स्थावर पर्याय को छोड़-कर वहां विग्रह गतिके प्रथम समय में अगली त्रस आयु का ग्रहण होता है। इस प्रकार यह त्रसनामा नामकर्म के उदय से त्रसनाली के बाह्य त्रस जीव होते हैं। इससे उपपादवाले त्रस जीव का अस्तित्व त्रसनाली बाह्य कहा है। पुनः कोई जीव इस त्रसनाली में त्रस है। इसलिये त्रसनाली बाह्य तनुवात वलय सम्बन्धी वायु कायिक रूप स्थावर पर्याय का बन्ध किया होता है। और वह पुनः जब उसकी आयु का अंतर्मुहूर्त प्रमाणकाल अवशेष रहे तब वह जीव अपनी आत्मा के प्रदेशों को वहां जो पहले त्रस-नाली के बाह्य तनुवातवलय का बन्ध किया था उस स्थान पर्यन्त फैलावे ऐसा एक यह त्रस जीवका प्रदेश त्रसनाली के बाहर हुआ। इसलिए मार-णांतिक समुद्घातवाले त्रसजीव का अस्तित्व त्रसनाली बाह्य कहा है। पुनः एक केवली भगवान् दंड कपाटादि रूप त्रसनाली बाह्य आत्मा के प्रदेशों को फैलाने रूप केवल समुद्घात करते हैं। इसलिये केवल समुद्घातवाले त्रसजीवका अस्तित्व त्रसनाली बाह्य कहा है। ऐसे तीन कार त्रस जीवों का अस्तित्व त्रसनाली बाह्य पाया जाता है। परन्तु इनके विना अन्य और त्रस

जीवों का अस्तित्व त्रसनाली वाह्य नहीं है, ऐसा अभिप्राय ग्रन्थकर्ता का है। इस प्रकार छठे त्रसकाय का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे स्थावरकायिक तथा त्रसकायिक जीवों के शरीर का आकार कहते हैं :—

वहाँ पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का आकार तो मसूर नामक अन्न के समान गोल-रूप है। जलकायिक जीवों का शरीर जल के बूंद के समान गोल आकार-रूप है, अग्निकायिक जीवों का शरीर सुई के समूह के समान है। सो जैसे—एक सूई को खड़ा कर दीजिये। उसी के समान लम्बा-चौड़ा मुख-रूप आकार है।

भावार्थ—अग्निकायिक जीवों का शरीर सुई के समान लम्बा-चौड़ा ऊपर ऊँचा मुख-रूप आकार है, वातकायिक जीवों का शरीर ध्वजा के समान लम्बा चौकोर आकार- है, ऐसा इन चारों प्रकार के स्थावरकायिक जीवों के शरीर का आकार होता है, परन्तु इनके शरीर की अवगाहना जघन्य भी और उत्कृष्ट भी घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है। इसलिये नेत्रों से पृथक्-पृथक् नहीं दीखते। और जो पृथ्वी आदि इन्द्रिय-गोचर है, सो घने शरीरों का समुदाय है, ऐसा जानना।

भावार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार अथवा एक वनस्पति ऐसे पाँच स्थावरकायिक जीवों के शरीर की जघन्य तथा उत्कृष्ट घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही अवगाहना कही है। इसलिये इनके शरीर का आकार नेत्र से नहीं दीखता। पुनः जो वनस्पतिकायिक और द्वीन्द्रियादि त्रसकायिक के शरीर का आकार अनेक प्रकार का है। क्योंकि उनके शरीर का कुछ नियम नहीं है। सो अनेक आकार-रूप होता है। इसलिये उनको अनेक प्रकार कहा है। पुनः इनकी जघन्य अवगाहना तो घनांगुल के

असंख्यातवें भाग मात्र है और उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात घनांगुल प्रमाण है। इस प्रकार छः जीवों के शरीर का आकार जानना।

आगे उन्हीं छहकायिक सहित संसारी जीवों के व्यवहार को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :—

इस संसार में बोझा ढोनेवाले जैसे कोई कावड़िया पुरुष अपनी कांवड़ी में बोझा को भर कर उसे लेकर अपने मनवांछित स्थान को पहुंचता है, वैसे ही यह संसारी जीव औदारिक आदि नो-कर्म शरीर में भरे हुये जो ज्ञानावरणादिक-रूप द्रव्य-कर्म के भार को लेकर अनेक प्रकार की योनि स्थान को प्राप्त करता है। पुनः जैसे वही पुरुष उस कावड़ी के भार को फेंक कर किसी एक इष्ट स्थान में विश्राम करके वहां उस भार जन्य दुःख के वियोग से सुखी होकर रहता है, वैसे ही कोई भव्य जीव भी कालादि लब्धि के योग से सम्यग्दर्शनादि को स्वीकार करके उस शरीर-रूप कावड़ी में भरा हुआ जो कर्म-रूप भार है, उस शरीर-रूप कावड़ी को छोड़ कर पुनः उस भार से उत्पन्न हुआ जो अनेक प्रकार का दुःख है, उसके वियोग होने से इस लोकके अग्रभागमें जाकर सुखी होकर रहता है।

भावार्थ—जैसे कोई बोझ ले जानेवाला पुरुष उस बोझ के भार को उतार सुखी होता है, वैसे ही कोई जीव इस शरीर-रूप बोझ के भार को उतार कर शरीर से रहित हो मोक्ष में जाकर सुख पाता है। ऐसा जिन उपदेश-रूप आचार्यों का अभिप्राय है। ऐसे छः प्रकार तीसरी कायमार्गणा का स्वरूप जानना।

आगे चौथी योग मार्गणा को कहते हैं :—

संसारी जीवों के ज्ञानावरणादिक-रूप द्रव्य-कर्म और उपलक्षण से औदारिकादि शरीर-रूप नो-कर्म का आगम यानी जो कर्म नो-कर्म वर्गणा-

रूप पुद्गल स्कन्धों के विषय में परिणमन होने की कारणभूत जो शक्ति प्रगट हो पुनः उस शक्ति का धारी जो आत्मा उसके प्रदेश का चंचल-रूप होना है, वह योग है। और वह योग द्रव्य तथा भाव के भेद से दो प्रकार है। वहां जो-जो पुद्गल विपाकी अंगोपांग नाम-कर्मकी प्रकृति तथा शरीर नाम-कर्म के उदय से तथा मन, वचन काय-रूप पर्याप्ति को प्राप्त हुआ जो संसारी जीव के लोक मात्र जो अपने समस्त प्रदेशों में प्राप्त हुआ पुद्गल स्कन्ध में जो कर्म नो-कर्म रूप परिणामपने की शक्ति प्रगट करना है, वह भावयोग है। पुनः उस भावयोग से सहित जो आत्मा के प्रदेश में कुछ चलन-रूप सकम्प होता है, वह द्रव्य योग है।

भावार्थ—जैसे अग्नि के संयोग से लोहा में जलाने तथा दग्ध करने की शक्ति होती है। उसी प्रकार अंगोपांग शरीर नाम-कर्म के उदय से मनोवर्गणा और भाषा वर्गणा-रूप जो पुद्गल स्कन्ध का एवं आहार वर्गणा-रूप जो नो-कर्म रूप पुद्गल के स्कन्ध से जो जीव के प्रदेश में कर्म नो-कर्म के ग्रहण करने की शक्ति प्रगट हो, वह योग है।

आगे योग के विशेष लक्षण को बतलाते हैं :—

भावार्थ—सत्य १, असत्य, २, उभय ३ तथा अनुभय ४। ऐसे चार भेद-रूप जो पदार्थ कहे गये हैं, उनमें जो जानने का अथवा अन्य के कहने के लिये जीव के मन, वचन की प्रवृत्ति हो, वह सत्यादिक पदार्थों के सम्बन्ध से एक सत्य दूसरा असत्य, तीसरा उभय और चौथा अनुभय। ऐसे चार प्रकार के वचन योग हैं।

भावार्थ—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग तथा अनुभय मनोयोग ये चार तो मन के हैं। पुनः इसी तरह सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग होते हैं। इसलिये

वचन के भी चार योग कहे गये हैं। इसका अर्थ यह है कि वहां जैसे का तैसा सच्चे ज्ञान के गोचर जो पदार्थ हो, उसे सत्य कहते हैं। वह जैसे जल के ज्ञान का विषय जल ही होता है, क्योंकि स्नान पानादिक जल सम्बन्धी जो क्रिया कही गई है, वह उसी जल से शुद्ध होता है। इसलिये उस जल को जल ही कहना सत्य है। अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का विषयभूत जो पदार्थ है, वह सत्य है। और जो यथार्थ तथा अन्यथा-रूप पदार्थ मिथ्या ज्ञान के गोचर हो, उसे असत्य कहते हैं। जैसे—जल के ज्ञान के विषय में मृग मरीचिका हो तो वहां स्नान पानादिक शरीर की शुद्धि आदि जल के बिना नहीं हो सकती। भाटलीका नाम रेतीली भूमि है। इसलिये जो रेत स्थल-रूप भाडली को ही जल जाना वह असत्य है।

भावार्थ—मिथ्याज्ञान का विषयभूत जो पदार्थ हो, वह असत्य है। जो पदार्थ अयथार्थ-रूप सम्यक्त्व और मिथ्यात्व ज्ञानके गोचर हो, उसको उभय कहते हैं। जैसे कमण्डलु में घट का ज्ञान होना उभय है, क्योंकि घट के समान जल धारणादि क्रिया उस कमण्डलु से सिद्ध होती है। इससे वह सत्य है। पुनः घट के समान आकार उस कमण्डलु का नहीं है। इसलिये वह असत्य है। ऐसे सत्यासत्य-रूप दोनों पदार्थों को जानना उभय है। अर्थात् यहां उभय नाम सत्य-असत्य दोनों का है। इसलिये जो सत्य और असत्य इन दो प्रकार के ज्ञान का गोचर पदार्थ हो, वह उभय है। पुनः जो यथार्थ और अयथार्थ का निर्णय से रहित पदार्थ अनुभय ज्ञान का गोचर हो, वह अनुभय है। जैसे यह कुछ प्रतिभासित है, ऐसा जानने में आता है। ऐसा सामान्य-रूप प्रतिभास में आये हुये पदार्थों का जानना अनुभय है। क्योंकि वहां किस पदार्थ से कौन-सी

क्रिया सिद्ध होती है, ऐसा निर्णय विशेष-रूप से नहीं हुआ। इससे उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। पुनः सामान्यतासे कुछ प्रतिभासमें आता है। इसलिये असत्य भी नहीं कहा जा सकता है। उसको अनुभय कहते हैं। अर्थात् जो सत्य असत्य ऐसे दोनों प्रकार के विषयों के अभाव-रूप पदार्थों का ज्ञान हो, वह अनुभय है। इस प्रकार चार प्रकार के पदार्थ-सम्बन्धी मन तथा वचन की प्रवृत्ति होती है। इसलिये चार प्रकारके मनोयोग और चार प्रकार के वचन योग कहे जाते हैं।

भावार्थ—जो घट में घट का ही संकल्प किया जाय, वह सत्य मनयोग है। क्योंकि सत्य पदार्थ को जानने योग्य जो मन की प्रवृत्ति हो, वह सत्य मन है। इसलिये जो सत्य पदार्थ को जानने के लिये भाव मन की प्रवृत्ति-रूप योग हो, वह सत्य मनोयोग है। पुनः इसी तरह इससे विपरीत जो घट में पट का विकल्प करना है, वह असत्य मनोयोग है। क्योंकि वहां असत्य पदार्थ-रूप विषय का ज्ञान उत्पन्न होने की शक्ति-रूप भाव मन कहा गया है, उससे रहित प्रवर्तन-रूप जो योग हो, वह दूसरा असत्य मनोयोग है। पुनः इसी तरह सत्य असत्य दोनों-रूप पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होने की शक्ति-रूप जो भाव मन कहा गया है, उससे सहित जो प्रवर्तन-रूप योग हो, वह तीसरा उभय मनोयोग है पुनः इसी तरह सत्य-असत्य का विकल्प रहित अनुभय-रूप जो पदार्थ में ज्ञान उत्पन्न होने की शक्ति-रूप भावमन कहा गया है, उससे सहित जो प्रवर्तन रूप योग हो, वह चौथा अनुभय मनोयोग है। इस तरह चार प्रकार का मनोयोग कहा गया है। पुनः इसी तरह वचन योग भी चार प्रकार का है। जनपदादि दश प्रकार के सत्य-रूप पदार्थ को कहनेवाला जो वचन हो वह सत्य वचन है। क्योंकि भाषा पर्याप्ति में सुस्वर नाम-कर्म

के उदय से उत्पन्न हुआ जो आत्माके प्रदेशों में भाषा वर्गणा की शक्ति-रूप भाव वचन से उत्पन्न हुआ जो प्रवृत्ति-रूप योग है, वह सत्य वचन योग है।

भावार्थ—जैसे—यह कुछ वस्तु है, ऐसे सत्य-असत्य की विशेषता रहित वचन कहना अनुभय वचन योग है। सत्य-असत्य की विशेषता रहित जो वचन कहना है, वह अनुभय वचन योग है। इसका उदाहरण इस प्रकार है कि जैसे—जो द्वीन्द्रियादिक असैनी पंचेन्द्रिय जीव के जो केवल अनक्षर-रूप भाषा कही गई है, उसे समस्त अनुभययोग वचन समझना चाहिये। अथवा सैनी पंचेन्द्रिय जीव के भी जो आगे कहा हुई आमंत्रणी आदि अक्षर भाषा को भी सर्व अनुभय वचनयोग समझना चाहिये। इस प्रकार चार प्रकार के वचनयोग का प्रतिपादन किया गया। उनका मूल कारण पर्याप्ति शरीर नाम-कर्म का उदय है। क्योंकि पर्याप्ति और शरीर के विना वचन की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये शरीर नाम-कर्म के उदय से पर्याप्ति अवस्था में जीव को वचनयोग की प्राप्ति होती है।

आगे दश प्रकार के सत्य वचन का भेद कहते हैं :—

जनपद सत्य (१), सम्मति सत्य (२), स्थापना सत्य (३), नाम सत्य (४), रूप सत्य (५), प्रतीति सत्य (६), व्यवहार सत्य (७), सम्भावना सत्य (८), भाव सत्य (९) तथा उपमा सत्य (१०) ये दश प्रकार के सत्य हैं। इनका अर्थ दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं। क्रम से वहां जो देश सम्बन्धी व्यवहारी मनुष्य की प्रवृत्ति-रूप वचन हो, वह जनपद सत्य है। यहां जनपद नाम देश का है। इसलिये जिस-जिस देश में जिस-जिस वस्तु का जैसा-जैसा नाम हो, वहां उन देशों के वैसे ही नाम कहना पहला जनपद सत्य है। जैसे ओदन यानी भात-रूप रांधे हुये

चावलों के भोजन को महाराष्ट्र देश में तो भानु वा भेटु कहते हैं और आंध्र देश में उसको वकट वा मुकुट कहते हैं, तथा कर्णाटक देश में इसको कूलु कहते हैं। पुनः द्रविड़ देश में इसका नाम चोरू है तथा मालवा देश में इसको चौरवा कहते हैं। इत्यादिक जो व्यवहारी मनुष्यों की प्रवृत्ति के योग से नाना देशों में एक ही वस्तुके अनेक नाम कहना जनपद सत्य है। जिससे अपने-अपने देश की भाषा करके सभी सत्य कहे हैं। इससे इसको जनपद सत्य कहा है। संवृत्ति जो कल्पना से सम्मति यानी जीवों का वैसे ही मान्य हो सो सम्मति सत्य है।

भावार्थ – जिस वस्तु का सर्वदेशों में रूढ़ि यानी सामान्य-रूप एक ही नाम हो सो सम्मति सत्य है। सो जैसे राजा की पटरानी को समस्त देशों के विषय में कहा है अथवा और किसी विषय में पटरानीपना तो नहीं पाया जाता। परन्तु पटरानी विना उसको समस्त लोकदेवी कहा है। सो दूसरा सम्मति सत्य जानना। पुनः जो अन्य वस्तु की किसी और अन्य वस्तु में स्थापना करनी जैसे रत्नादिक-रूप ऋषभ तीर्थंकर की प्रतिमा को साक्षात् ऋषभ देव तीर्थङ्कर भगवान् ही मानना, तीसरी स्थापना सत्य है। पुनः जो अन्य अपेक्षा से रहित होकर केवल अपने देश की अपेक्षा से ही लोक व्यवहार की प्रवृत्ति के लिये जिस वस्तु का जो नाम हो, उसका वही नाम कहना सत्य है। जैसे किसी मनुष्य का नाम भानु है और भानु नाम सूर्य का है। किन्तु यहां नाम होने के कारण उसको भानु कहना सत्य है तथा जैसे किसी का नाम जिनदत्त है। यहां पर यदि शब्दार्थ किया जाय तो जो जिनदेव भगवान् के द्वारा दिया गया हो, वह जिनदत्त है। किन्तु यहां दान क्रिया की अपेक्षा विना ही उसका जिनदत्त नाम कहना सत्य है। अथवा जैसे—कोई पुरुष नेत्रों से अन्धा है और उसका नाम

लोक में कमलनयन रख दिया जाय। शब्दार्थ की दृष्टि से तो जिसके नेत्र बड़े सुन्दर कमल के समान हों, उसी को कमलनयन कहना चाहिये, किन्तु नाम की अपेक्षा से असुन्दर नेत्रवाले को भी कमलनयन कहना सत्य है। तथा जैसे किसी निर्धन पुरुष का नाम लक्ष्मीधर हो। किन्तु शब्दार्थ की दृष्टि से जिसके पास एक लाख रुपया हो, वही लक्ष्मीधर कहलाने के योग्य है, परन्तु नाम की अपेक्षा से उसको लक्ष्मीधर कहना सत्य है। इत्यादिक जो गण जाति आदि की अपेक्षा के बिना केवल एक लोक व्यवहार की प्रवृत्ति के लिये ही जो वस्तु का नाम कहना है, सो चौथा नाम सत्य है। पुनः जो पुद्गल के अनेक गुण होते हुये भी जहां रूप की मुख्यता-रूप वचन हो। जैसे यह पुरुष सफेद है, ऐसा कहना है। क्योंकि किसी भी सफेद पुरुष के केशादिक तो श्याम तथा रसादिक अन्य गुण-रूप भी पाये जाते हैं, परन्तु यहां उनकी मुख्यता नहीं रहती। इससे जो मुख्यता से जिसका जैसा रूप हो, उसको वैसा ही कहना पांचवां रूप सत्य है। पुनः जो वस्तु अन्य वस्तु की अपेक्षा से हीनाधिक मानने योग्य हो, जैसे यह दीर्घ है, ऐसा कहना वहां किसी छोटे की अपेक्षा है। क्योंकि किसी अन्य दीर्घ की अपेक्षा से हीनाधिक मानना हो, वह दीर्घ है। ऐसा कहना किसी छोटे की अपेक्षा है। क्योंकि अन्य और दीर्घ अपेक्षा यह छोटा है। परन्तु यहां पर उसकी मुख्यता नहीं की गई है। अथवा इसी प्रकार और किसी वस्तु को, यह सूक्ष्म है ऐसा कहना किसी दीर्घ की अपेक्षा से है। जिससे अन्य और छोटे की अपेक्षा यह भी तो बड़ा है। परन्तु यहां पर उसकी मुख्यता नहीं है। इसलिये जो परस्पर में बड़े की अपेक्षा छोटा कहना और छोटे की अपेक्षा बड़ा कहना छठा प्रतीति सत्य है।

भावार्थ—जो वस्तु परस्पर में अन्य वस्तु की अपेक्षा से सत्य हो, वह

प्रतीति सत्य है। अथवा इसका दूसरा नाम अपेक्षित सत्य भी है। जिससे छोटे-बड़े की अपेक्षा में पाये जाते हैं। इसलिये इसको अपेक्षित सत्य भी कहते हैं। पुनः जो नैगमादिक नय की प्रधानता लेकर वचन कहना जैसे कोई पुरुष चावल रांधने के लिये जल भर रहा था तथा ईंधन को एकत्रित कर रहा था, उससे किसी ने पूछा कि—तुम क्या कर रहे हो? तब उसने कहा कि—मैं भात पका रहा हूं। वहां भात तो बाद में तैयार होगा। अभी तो केवल कच्चा चावल मौजूद है, जो कि अल्प ही काल में भात होनेवाला है, अथवा इनके मन में भात पकाने का संकल्प है। इसलिये नैगम नय की अपेक्षा से उसको भात कहना सत्य है। इत्यादिक जो नय की अपेक्षा-रूप वचन की प्रवृत्ति हो, वह सातवां व्यवहार सत्य है।

विशेषार्थ– जो वस्तु के स्वभाव का विधान-रूप लक्षण सहित सम्भवतः वचन हो, उसको सम्भावना सत्य कहते हैं। पुनः जो अतीन्द्रिय रूप सूक्ष्म पदार्थ कहा गया है। उसमें सिद्धान्त के अनुसार विधि निषेध का संकल्प-रूप जो परिणाम करना है, वह भाव है। और उसी भावना को लेकर जो वचन कहना है, वह नवमाँ भाव सत्य है। अर्थात् द्रव्य का यथार्थ ज्ञान तो केवल ज्ञानी का ही है, अन्य छद्मस्थों का नहीं। तथापि केवली भगवान् के वचन से प्रासुक तथा अप्रासुक वस्तु का निश्चय किया गया है। जैसे जो सूख गया हो अथवा अग्नि से पक गया हो अथवा मशीन, चक्की या शिलापट से पीसा गया हो अथवा कोल्हू, चर्खी आदि यन्त्र में पेरा गया हो या छिन्न-भिन्न किया गया हो। या जो खटाई और नमक से मिला हुआ द्रव्य होता है। तथा जो वस्तु भस्मी भाव को प्राप्त हुआ हो, उसको प्रासुक कहते हैं। यहाँ प्रासुक नाम जीव से रहित शुद्ध वस्तु का है। इसका सेवन करने से पाप बन्ध नहीं होता। यद्यपि

इन वस्तुओं में इन्द्रिय अगोचर सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं तथापि आगम प्रमाण से उसको प्रासुक कहना सत्य है। अर्थात् जो प्रासुक वस्तु में भी वहां दृष्टिगोचर नहीं है। इसी प्रकार यदि सूक्ष्म जीव का भी घात हो जाय तो कौन जान सकता है, किन्तु भगवान की आज्ञा से यह वस्तु अपने भाव में शुद्ध हो गई है। इसलिये इसको प्रासुक ही कहना सत्य है। और जो ऐसा नहीं माने तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायगा। जिससे समस्त मुनि तथा श्रावक प्रासुक पदार्थ का ही आहार करते हैं, अप्रासुक नहीं। इसलिये प्रासुक वस्तु के सेवन करने से पाप बन्ध नहीं होता। इस प्रकार पाप को त्याग रूप जो वचन कहा गया है, वह भाव सत्य है। क्योंकि यह केवलज्ञानी के द्वारा प्रतिपादित वचन है, इसलिये इसे भाव सत्य कहते हैं। अथवा इसी प्रकार और भी जो वस्तु अपने भाव में आगम प्रमाण से शुद्ध हो, वह समस्त सम्भाव सत्य है, ऐसा समझना चाहिये। पुनः जो किसी प्रसिद्ध वस्तु की समानता-रूप किसी और पदार्थ की उपमा-रूप वचन कहना है, वह दशवां उपमा सत्य है।

भावार्थ—जो प्रसिद्ध-रूप वस्तु किसी और दूसरी वस्तु की समानता-रूप उपमा देना है, वह उपमा है। और उस उपमा-रूप जो वचन कहना हैं, वह उपमा सत्य है। जैसे उपमा प्रमाण में पल्योपम तथा सागरोपम वचन कहा है। वहां असंख्यान रोम कण्ठ से जो असंख्यात समय में खण्ड सम्बन्धी रोम भर करके उसको पल्य कहा है। उस पल्य की उपमा जिसे दी जाय वह पल्योपम है। इसी तरह जो दश कोड़ा-कोड़ी पल्य की संख्या रूप एक सागर का प्रमाण कहा गया है, उस सागर की जिसको उपमा दी जाती है. वह सागरोपम है। जैसे—किसी कन्यां को चन्द्रमुखी कहना जिससे कि इसका मुख चन्द्रमा के समान अत्यन्त सुन्दर है; अतः

उसे चन्द्रमुखी कहना सत्य है। तथा यह मनुष्य इन्द्र है, इसलिये इस पुरुष में इन्द्र के समान पराक्रम पाया जाता है। अतः इसे इन्द्र की उपमा देकर कहना सत्य है। इत्यादिक जो अन्य वस्तुओं की उपमा हो, उसे उपमा सत्य कहते हैं। इस प्रकार ये दश सत्य वचनों का स्वरूप कहा।

इसी प्रकार और भी इसके विपरीत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा और भी अन्य प्रकार हैं। पुनः जो तीसरा उभय वचन कहा है, वह भी सत्य असत्य इन दोनों के मिलाने से अनेक प्रकार का होता है। इसी प्रकार तीसरे उभय वचन को जानना।

आगे अनुभय वचन के भेद को कहते है :—

आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, अपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुवृत्ति—ऐसे नौ प्रकार के अनुभय वचन हैं। आगे इनके भिन्न-भिन्न अर्थ को बतलाते हैं।

हे देवदत्त! तुम आओ। इस प्रकार जो अन्य को बुलाने-रूप वचन उच्चारण किया जाय, वह आमन्त्रणी है। पुनः जो तुम इस कार्य को करो, इस प्रकार का आदेश देना दूसरी आज्ञापनी भाषा है। जो मैं एक याचना करता हूं, इत्यादि जो मांगने-रूप वचन हो, वह तीसरी याचनी भाषा है। जो यही कहा है? इत्यादि प्रश्न-रूप वचन हो, वह चौथी अपृच्छनी भाषा है। जो हे स्वामी! मेरी एक विनती है, इत्यादि जो नौकर के स्वामी के प्रति विनती-रूप वचन हो, वह पांचवीं प्रज्ञापनी भाषा है। जो मैं इस वस्तु का त्याग किया। इस प्रकार का जो वचन हो, वह प्रत्याख्यानी है। जो संशय-युक्त वचन हो, यानी यह बगुलों की पंक्ति है या ध्वजा है, ऐसी संशय सहित वाणी हो, वह संशय भाषा है। मैं अपनी इच्छा के अनुकूल करता हूं अथवा जैसी यही वस्तु है। उसी तरह मैं भी हो जाऊं, ऐसा

वचन इच्छानुवृत्ति भाषा है। द्वीन्द्रियादिक असैनी पंचेन्द्रिय तक जीवों के के जो वचन हैं, वह अनक्षरी भाषा है। अथवा केवली भगवान् की जो दिव्यध्वनि खिरती है, वह भी अनुभय योग-रूप अनक्षरी भाषा है। इस प्रकार ये नौ भांति की अनुभय रूप भाषायें कही गईं। इसमें सत्य-असत्य अर्थ का निर्णय नहीं होता। जिससे इस प्रकार वचन सुननेवाले के सामान्यपने से तो अर्थ प्रगट होता है। इसलिये असत्य नहीं कहा जाता है। और विशेषपने से अर्थ प्रगट होता भी नहीं। इसलिये सत्य भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सत्य और असत्य विशेषण से रहित होने से इसको अनुभय योग कहते हैं।

विशेषार्थ—कोई प्रश्न करता है कि—जो अनक्षर-रूप भाषा में तो सामान्यपने से भी व्यक्त-रूप अर्थ नहीं प्रगट होता। इसको इसलिये अनुभय वचन कैसे कह सकते हैं?

समाधान—जो अनक्षर-रूप भाषावाले जीवों का भी संकेत-रूप वचन होता है। उससे उनके सुख दुःखादि का अवलम्बन करके उनका हर्ष तथा क्लेशादि दुःख-रूप अभिप्राय जाना जाता है। इसलिये अनक्षर-रूप वचन में भी सामान्यपने से अर्थ प्रगट होता है।

भावार्थ—नवमी अनक्षरी भाषाओं में भी सामान्य रीति से अर्थ की व्यक्तता होती है। इसलिये इसमें इस प्रकार अनुभय वचन सम्भव है। ऐसे नौ भेद रूप चौथे अनुभय वचन का स्वरूप समझना। आगे इस मन, वचन के योग के मूल कारण को कहते हैं। वहां सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, अनुभय वचनयोग—ये चार योग तो पर्याप्त और शरीर नाम-कर्म के उदय से हैं, ऐसा जानना। जिससे जो सामान्य-रूप वस्तु कही है, वह विशेष के बिना नहीं होती। इसलिये जहां मन,

वचन, काय सामान्य ग्रहण हुआ। उसी का विशेष जो सत्य और अनुभय योग कहा है, वह सहज ही सिद्ध हुआ। अथवा असत्य और उभय योग के आगे इसका कथन है। इसलिये यहां इसको संक्षेप में कहा गया। इसलिये यहां अवशेष रहे जो सत्य और अनुभय योग हैं, उनका ही ग्रहण करना। जिससे अपने प्रतिपक्षी-रूप कर्म के आवरण का मन्द उदय होने से असत्य तथा उभय की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये असत्य, उभय मनोयोग और वचनयोग का मुख्य कारण अपने कर्म का आवरण के तीव्र अनुभाग का उदय जानना।

भावार्थ—एक सत्य मनोयोग, एक अनुभय मनोयोग और एक सत्य वचनयोग और एक अनुभय वचनयोग—इन चारों योगों का तो मूल कारण पर्याप्त नामा नाम-कर्म और शरीर नामा नाम-कर्म का उदय है। पुनः एक असत्य मनोयोग, एक उभय मनोयोग तथा ऐसे ही एक वचन-योग और एक उभय वचनयोग—इन चार योगों का मूल कारण अपने प्रतिपक्षी-रूप कर्म के आवरण के तीव्र अनुभाग का उदय है।

प्रश्न—असत्य तथा उभय मन वचनोयोग का कारण दर्शन चारित्रमोह कर्म का उदय भी तो हैं, सो कैसे नहीं कहा ?

उत्तर—वह दर्शन मोह कर्म असत्य तथा उभय योग का कारण नहीं है। जिससे असत्य और उभय मन वचनयोग तो मिथ्यादृष्टि के समान असंयत सम्यग्दृष्टि के तथा संयमी के भी पाई जाती है। इसलिये तू जो कहता है, सो नहीं बनता। इसलिये मिथ्यादृष्टि आदि समस्त असंयमी तथा संयमी जीवों के असत्य और उभय-रूप मन वचनयोग का मूल कारण अपने प्रतिपक्षी-रूप कर्म को आवरण के मन्द तथा तीव्र अनुभाग का उदय ही जानना। पुनः केवली भगवान् के सत्य और अनुभय योग का सद्भाव

सभी आवरण के अभाव से जानना । पुनः अयोग केवली के शरीर नामा नाम-कर्म का उदय नहीं है । इसलिये उनके सत्य और अनुभय योग भी नहीं है । ऐसे असत्य और उभय मन वचनयोग का कारण दर्शन तथा चारित्र मोह कर्म का उदय नहीं कहा है ।

प्रश्न....जो केवली भगवान् की दिव्यध्वनि के सत्य वचनपना तथा अनुभय वचनपना कैसे सिद्ध हो ?

उत्तर—जो केवली भगवान् की दिव्य-ध्वनि होती है, उसकी गर्जना समान होती है । सो होते ही अनक्षर-रूप खिरती है । जिससे जब तक सुननेवालों के कर्ण प्रदेश में नहीं प्राप्त होती, तब तक अनक्षर-रूप रहती है । इसलिये इसको अनुभय वचन-रूप कहा है । पुनः जब सुनने-वाले जीवों के कर्ण में प्राप्त हो, तब वही दिव्यध्वनि वहां अक्षर-रूप होकर हृदय में प्रवेश करके यथार्थ वचन के अभिप्राय को लिये उनके संशयादि भ्रम को दूर कर देती है । इसलिये इसको सत्य. वचन-रूप कहा है । वहां केवली के अतिशय से पुद्गल वर्गणा से ही परिणम जाता है । इस प्रकार नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति नामक आचार्य के वचन हैं । इस प्रकार केवली भगवान् की दिव्यध्वनि में सत्य वचन तथा अनुभय वचनपना सिद्ध होता है ।

आगे सयोग केवली भगवान् के मनोयोग कैसे सम्भव है, सो कहते हैं :—

वहाँ जो इन्द्रिय ज्ञान से रहित सयोगकेवली ने कहा है—उसके मुख्यपना से तो मनोयोग नहीं है, परन्तु उपचार से है । अर्थात् निमित्त का प्रयोजन है, वह. निमित्त यहां पर विद्यमान है । इस प्रकार हमारे समान छद्मस्थ जीव मन सहित हैं । उनके मनोयोगपूर्वक अक्षर-पद

वाक्य-रूप वचन का व्यापार दीखता है। ऐसे ही केवली भगवान् में भी पाई जाती है। जिससे मन से रहित असैनी जीव के सत्य योग नहीं होता है। इसलिये केवली को भी मनोयोगपूर्वक वचन योग कहा है।

प्रश्न—जैसे कि हम अतिशय रहित छद्मस्थ जीव के मन का स्वभाव देखा जाता है, उसी तरह वह अतिशय सहित केवली भगवान् में अतिशय कैसे देखा जाता है ?

उत्तर—उसमें जो एक सादृश्य नहीं है। इसलिये छद्मस्थ जीव को तो मनोयोग मुख्यता से कहा है और केवली के कल्पना-रूप नाम मात्र उपचार से मनोयोग कहा है, यही यहां कहने का प्रयोजन है। वहां जिन अर्थात् स्वामी हैं। इन्द्र के समान जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं, उनके जो चन्द्रमा के समान संसार-रूपी आताप को तथा अज्ञान-रूपी अन्धकार को नाश करनेवाला सयोग केवली भगवान् कहे गये हैं। उनके भी अंगोपांग नाम-कर्म के उदय से फूला हुआ आठ पाखुड़ी के कमल का आकार-रूप जैसे द्रव्य मन, अर्थात् हृदय स्थान के मध्य में पाया जाता है। वहां उसके परिणमन होने का कारणभूत जो मनोवर्गणा कही गई है, उसका आगमन होने से द्रव्यमन का परिणमन होता है। इसलिये उपचार से सयोगकेवली जिन को भी मनोयोग कहा है। अर्थात् यद्यपि सयोगकेवली जिन की मुख्यता से भाव मनोयोग का अभाव है, तथापि आत्मा के प्रदेश में कर्म नौ-कर्म के ग्रहण करने की शक्ति है—शक्ति हो तो वह भाव मनोयोग है। पुनः इसी से उत्पन्न हुई जो मनोवर्गणा-रूप पुद्गलों का मन रूप परिणमन होना है, सो द्रव्य मनोयोग है। इस प्रकार द्रव्य तथा भावमन का लक्षण वर्णन किया गया। इससे सयोग केवली भगवान् के यहां मनोयोग कहा है। इस प्रकार मन, वचनके आठ योगों का स्वरूप वर्णन किया गया।

(क्रमशः)